THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

भा० दि० जैन संघ पुस्तकमाला का दूसरा पुष्प

जैनधर्म

जैन धर्मके इतिहास, सिद्धान्त, आचार, साहित्य, कला, पुरातत्त्व, पन्थ, पर्व, तीर्थक्षेत्र आदिका प्रामाणिक परिचय

भूमिका लेखक

श्री सम्पूर्णानन्द

मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश

लेखक—

श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय

काशी

प्रकाशक —
मंत्री साहित्य विभाग
भा० दि० जैन संघ
चौरासी, मथुरा

प्रथम संस्करण १९४८ एक हजार
द्वितीय „ १९४९ दो हजार
तृतीय „ १९५५ दो हजार

मूल्य चार रुपये
[सर्वाधिकार सुरक्षित]

मुद्रक :—
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, बनारस

प्राक्कथन

मैं जैनधर्मका अनुयायी नही हूं, इसलिए जब श्री कैलाशचन्द्र जैनने मुझसे जैनधर्मका प्राक्कथन लिखनेको कहा तो मुझको कुछ सङ्कोच हुआ। परन्तु पुस्तक पढ़ जानेपर सङ्कोच स्वत. दूर हो गया। यह ऐसी पुस्तक है जिसका प्राक्कथन लिखनेमे अपनेको प्रसन्नता होती है। छोटी होते हुए भी इसमें जैनधर्मके सम्बन्धकी सभी मुख्य बातें का समावेश कर दिया गया है। ऐसी पुस्तकोंमें, स्वमत स्थापनके साथ साथ कही कही परमत दोषोको दिखलाना अनिवार्य्य-सा हो जाता है। कम से-कम अपने मतके आलोचकोंकी आलोचना तो करनी ही पड़ती है। प्रस्तुत पुस्तकमे, स्याद्वादके सम्बन्धमें श्रीशङ्कराचार्य्यने लेखकके सम्मतिमें इस सिद्धान्तके समझनेमे जो भूल की है उसकी ओर सङ्केत किया गया है। परन्तु कही भी शिष्टताका उल्लङ्घन नही होने पाया है। आज कल हम भारतीय इस बातको भूल से गये है कि गम्भीर विषयोंके प्रतिपादनमे अभद्र भाषाका प्रयोग निन्द्य है और सिद्धान्तका खण्डन सिद्धान्तीपर कीचड़ उछाले विना भी किया जा सकता है। यह पुस्तक इस विषयमें अनुकरणीय अपवाद है।

भारतीय संस्कृतिके संवर्द्धनमें उन लोगोंने उल्लेख्य भाग लिया है जिनको जैन शास्त्रोसे स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। वास्तुकला, मूर्तिकला, वाङ्मय-सबपर ही जैन विचारोंकी गहिरी छाप है। जैन विद्वानों और श्रावकोंने जिस प्राणपणसे अपने शास्त्रोंकी रक्षा की थी वह हमारे इति-

मंत्र
ासकी अमर कहानी है। इसलिए जैन विचारधाराका परिचय शिक्षित मुदायको होना ही चाहिये। कुछ बातें ऐसी है जिनमे जैनियोको वभावत. विशेष अभिरुचि होगी। दिगम्बर-श्वेताम्बर विवादमे सबको वारस्य नही हो सकता और न सब लोगोको उन खाद्याखाद्य व्रतादिके नेयमोपनियमोकी जानकारीकी विशेष अवश्यकता है। परन्तु जो लोग धर्म्म और दर्शनका अध्ययन करते है उनको यह तो जानना ही चाहिये के ईश्वर, जीव, जगत्, मोक्ष जैसे प्रश्नोके सम्बन्धमें जैन आचार्य्योंने या कहा है। विशेष और विस्तृत अध्ययनके लिए तो बड़े ग्रंथोंको देखना ही होगा परन्तु प्रारम्भिक ज्ञानके लिए यह छोटी-सी पुस्तक बहुत उपयोगी है।

जैन दर्शन जगत्को सत्य मानता है। यह बात शाङ्कर अद्वैतवादके विरुद्ध तो है परन्तु आस्तिक विचारधारासे असगत नहीं है। उसका अनीश्वरवादी होना भी स्वत. निन्द्य नही है। परम आस्तिक साख्य और मीमांसा शास्त्रोंके प्रवर्तकोंको भी ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनेमें अनावश्यक गौरवकी प्रतीति होती है। वेदको प्रमाण न माननेके कारण जैन दर्शनकी गणना नास्तिक विचार शास्त्रोंमें है परन्तु कर्म्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, तप, योग, देवादि विग्रहोमें विश्वास जैसी कई ऐसी बातें है जो थोड़ेसे उलटफेरके साथ भारतीय आस्तिक दर्शनो तथा बौद्ध और जैन दर्शनोकी समानरूपसे सम्पत्ति है। इन सबका उद्गम एक है। आर्य्य जातिने अपने मूल पुरुषोसे जो आध्यात्मिक दाय पाया था उसकी पहिली अभिव्यक्ति उपनिषदोमे हुई। देशकालके भेदसे किञ्चित् नये परिधान धारण करके फिर वही वस्तु हमको महावीर और गौतमके द्वारा प्राप्त हुई।

अनेकान्तवाद या सप्तभङ्गी न्याय जैन दर्शनका मुख्य सिद्धान्त है प्रत्येक पदार्थके जो सात 'अन्त' या स्वरूप जैन शास्त्रोंमें कहे गये हैं उनको ठीक उसी रूपसे स्वीकार करनेमें आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सातमे कुछको गौण मानते है। साधारण मनुष्यको यह समझनेमे कठिनाई होती है कि एक ही वस्तुके लिए एक ही समयमें है और नही है दोनो बाते कैसे कही जा सकती है। परन्तु कठिनाईके होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है। जो लेखनी मेरे हाथमें है वह मेजपर नही है। जिस बच्चेका अस्तित्व आज है उसका अस्तित्व कल नही था। जो वस्तु पुस्तक-रूपसे है वह कुर्सीरूपसे नही है। जो घटना एकके लिए भूतकालिक है वही दूसरेके लिए वर्तमानकी और तीसरेके लिए भविष्यत्की है। अखण्ड ब्रह्म पदार्थ भले ही एकरस और ऐकान्तिक हो परन्तु प्रतीयमान जगत्मे तो सभी वस्तुएँ, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों, अनैकान्तिक हैं। शङ्कराचार्य्यजीने इस बातको स्वीकार नही किया है इसलिए उन्होने मायाको सत् और असत्से विलक्षण, अथच अनिर्वचनीया कहा है। मैं सप्तभङ्गी न्याय-को तो बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकी-मे जाना समझता हूँ परन्तु अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करता हूं। इसीलिए चिद्विलासमें मैंने मायाको सत् और असत् स्वरूप, अतः अनिर्वचनीया माना है।

अस्तु, सब लोग इन प्रश्नोंकी गहिराईमें न भी जाना चाहें तब भी मैं आशा करता हूँ कि इस सुबोध और उपादेय पुस्तकका आदर होगा। ऐसी रचनाएँ हमको एक दूसरेके निकट लाती है। ऐसा भी कोई समय था जब 'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न विशेज्जैनमन्दिरम्' जैसी उक्तियां

नकली थी। जैनोमें भी इस जोड़की कहावतें होगी। आज वह दिन ये। अब हमें दार्शनिक और उपासना सम्वन्धी वातोमें वैषम्य रखते ए एक दूसरेके प्रति सौहार्द रखना है। अपनी अपनी रुचिके अनुसार म चाहे जिस सम्प्रदायमें रहें परन्तु हमको यह ध्यानमें रखना है कि पिल, व्यास, शङ्कराचार्य्य, बुद्ध और महावीर प्रत्येक भारतीयके लए आदरास्पद है। और हमको सबसे ही ऐसी शिक्षा मिलती है जो मारे चरित्रको ऊपर उठाने और हमको नि श्रेयसके पथपर ले जानेमें मर्थ है।

वैशाख शु० १,
२००५

सम्पूर्णानन्द

लेखकके दो शब्द

यों तो जैनधर्मका साहित्य विपुल है, किन्तु उसमे एक ऐसी पुस्तक की कमी थी जिसे पढकर जन-साधारण जैनधर्मका परिचय प्राप्त कर सके। इस कमीको सभी अनुभव करते थे। उज्जैनके सेठ लालचन्द जी सेठीने तो ऐसी पुस्तक लिखनेवालेको अपनी ओरसे एक हजार रुपए पारितोषिक प्रदान करनेकी घोषणा भी कर दी थी। मुझे भी यह कमी बहुत खटक रही थी। अत मैंने इस ओर अपना ध्यान लगाया, जिसके फल स्वरूप प्रस्तुत पुस्तक तैयार हो सकी।

प्रत्येक धर्मके दो रूप होते हैं—एक विचारात्मक और दूसरा आचारात्मक। प्रथम रूपको दर्शन कहते हैं और दूसरेको धर्म। दर्शनके अभ्यासियोंके लिये दोनो ही रूपोंको जानना आवश्यक है। इसलिये मैंने इस पुस्तकमें जैनधर्मके विचार और आचारका परिचय तो कराया ही है, साथ ही साथ साहित्य, इतिहास, पन्थभेद, पर्व, तीर्थक्षेत्र आदि अन्य जानने योग्य बातोंका भी परिचय दिया है, जिसे पढकर प्रत्येक पाठक जैनधर्मके सभी अंगों और उपागोंका साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसके लिये इधर उधर भटकनेकी आवश्यकता नही रहती। इस पुस्तकमें जैनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जिन विषयोंकी चर्चा की गई है, सब लोगोंको वे सभी विषय रुचिकर हों यह सम्भव नही है, क्योंकि—'भिन्नरुचिर्हि लोक'। इसीसे विभिन्न रुचिवाले लोगोंको अपनी अपनी रुचिके अनुकूल जैनधर्मकी जानकारी प्राप्त करा सकनेका प्रयत्न किया गया है।

भारतीय विद्वानोंकी प्राय यह एक आम मान्यता है कि भारतमें प्रचलित प्रत्येक धर्मका मूल उपनिषद है। इस मान्यताके मूलमें हमें तो श्रद्धामूलक विचारसरणिका ही प्राधान्य प्रतीत होता है। पुस्तकमें

ग़तमे जैनधर्मके साथ इतर धर्मोंकी तुलना करते हुए हमने उक्त चारसरणिकी आलोचना की है। तत्त्वजिज्ञासुओंसे हमारा अनुरोध कि इस विचारसरणि पर नये सिरेसे विचार करके तत्त्वकी ए ीक्षा करे।

अपनी विद्वत्ता और अध्ययनशीलताके कारण श्री सम्पूर्णानन्द जी पर मेरी गहरी आस्था है। मेरी इच्छा थी कि वह इस पुस्तकका ए क्कथन लिखे। मैंने भाई प्रो० खुशालचन्दसे अपनी यह इच्छा व्यक्त ाी और सयुक्तप्रान्तके मंत्रित्वका भार वहन करते हुए भी उन्होंने मर्था लोगोके अनुरोधकी रक्षा की। एतदर्थ हम श्री सम्पूर्णानन्दजीके यन्त अभारी हैं।

ंवा जिन ग्रन्थो और पत्र-पत्रिकाओके लेखोसे हमे इस पुस्तकके लिखने-विशेष साहाय्य मिला है उन सभी लेखकोंके भी हम आभारी हैं। र्में भी प्रोफेसर ग्लैजनपके जैनधर्मसे हमे बड़ी सहायता मिली है, नका पर्यवेक्षण करके ही इस पुस्तककी विषय-सूची तैयार की गई। श्री नाथूरामजी प्रेमीके 'जैन साहित्य और इतिहास' का उपयोग म्प्रदायपन्थ' लिखनेमे विशेष किया गया है। जैन हितैषीके किसी ाने अंकमें जगत्कर्तृत्वके सम्बन्धमें स्व० बा० सूरज भानु वकीलका ़ लेख प्रकाशित हुआ था। वह मुझे बहुत पसन्द आया था। प्रस्तुत तकमें 'यह विश्व और उसकी व्यवस्था' उसीके आधारपर लिखा ा है। अत. उक्त सभी सुलेखकोंके हम आभारी हैं।

अन्तमे पाठकोसे अनुरोध है कि प्रस्तुत पुस्तकके सम्बन्धमे यदि कोई सूचना देना चाहें तो अवश्य देनेका कष्ट करे। दूसरे ्करणमें उनका यथासंभव उपयोग किया जा सकेगा।

श्रुतपञ्चमी
वी० नि० सं० २४७४ } कैलाशचन्द्र शास्त्री

दूसरे संस्करणके सम्बन्धमें

जब मैंने 'जैनधर्म' पुस्तकको लिखकर समाप्त किया तो मुझे स्वप्नमें भी यह आशा नहीं थी कि इस पुस्तकका इतना समादर होगा और पहले संस्करणके प्रकाशनके ६ माह बाद ही दूसरा संस्करण प्रकाशित करना होगा।

अनेक पत्र-पत्रिकाओं और लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे इनकी प्रशंसा की है। ऐसे विरले ही पाठक हैं जिन्होंने पुस्तकको पढ़कर प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें उसकी सराहना नहीं की है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी प्रख्यात शिक्षा संस्थाने दर्शनशास्त्र विषयक बी. ए. (आनर्स) के परीक्षार्थियों के अध्ययन के लिए इसे स्वीकृत किया है। जैन कालिज बड़ौत आदि अनेक कालिजों और स्कूलोंने जैनधर्मके अध्ययनके लिये इसे पाठ्य-क्रमके रूपमें स्थान दिया है। इस तरह शिक्षाके क्षेत्रमें भी प्रस्तुत पुस्तकको यथेष्ट स्थान और ख्याति मिली है।

उज्जैनके साहित्यप्रेमी सेठ लालचन्द जी सेठीने ७५०) का पुरस्कार देकर लेखकको पुरस्कृत किया है।

अनेक विद्वान् पाठकोंने अपने कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये हैं। उनके अनुसार इस संस्करणमें परिवर्तन और परिवर्धनके साथ साथ दो नये प्रकरण बढ़ाये गये हैं—एक जैनकला और पुरातत्त्वके सम्बन्धमें और दूसरा जैनाचार्यों के सम्बन्धमें। तथा अन्तमें जैन पारिभाषिक शब्दोंकी एक सूची भी दे दी गई है। प्रथम प्रकरणके लिखनेमें मुनि श्री कान्ति सागर जी से विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है।

जिन महानुभावोंने उक्त प्रकारसे मेरे उत्साहको बढ़ाया है उन सभीका आभार हृदयसे स्वीकार करता हूँ।

आश्विन—२००६ }

विनीत
लेखक

तीसरे संस्करणके सम्बन्धमें

'जैनधर्म'का तीसरा सस्करण उपस्थित है। पिछले एक वर्षसे यह ,स्तक अप्राप्य थी। पाठको और पुस्तक-विक्रेताओके तकाजोके साथ ‍लाहने भी आते थे। प्रकाशनकी सूचना देते ही पुस्तककी माँगें आनी ुरू हो गई और व्यग्रता भरे पत्र आने लगे—कवतक प्रकाशित होगी, ।व तो छप गई होगी, आदि। यह सब इस बातका सूचक है कि पाठकों ो यह पुस्तक कितनी अधिक प्रिय है। अ० भा० राजपूत जैन सघने क सुझाव भेजा कि 'जैनधर्म-क्षात्र धर्म-वीरधर्म है। ऐसा एक अध्याय ो सम्पूर्ण क्षत्रिय जातिके लिये पूर्णत आकर्षक हो, जिससे आजके ान्त एवं पथ-भ्रष्ट राजपूत पुन. सत्यके प्रकाशमें आ सकें, रखा ाये, तथा पुस्तकका टाइटिल—'जैनधर्म (क्षात्रधर्म)-भारतका सार्व-ौकिक सनातन सत्य आत्म धर्म' ऐसा रहे। तदनुसार इस सस्करणमें कुछ जैनवीर' शीर्षक एक नया अध्याय जोड़ दिया गया है। टाइटिल दलना कुछ जँचा नही, जैनेतर पाठकोंको उसमे मिथ्या अहंकारकी आ सकती थी।

इस संस्करणमे अन्य भी कुछ सुधार किये गये हैं। इतिहास-भाग ो पुन.व्यवस्थित किया गया है और उसमें 'कालाचूरि राज्यमें ैनधर्म' और 'विजयनगर राज्यमें जैनधर्म' दो नये शीर्षक जोड़े ये है। विविध नामक प्रकरणके पूर्वभागको उससे अलग करके सामाजिक रूप' नामसे दिया गया है। तथा 'स्थानकवासी सम्प्रदाय' और 'मूर्तिपूजा विरोधी तेरापन्थ सम्प्रदाय' को फिरसे लिखा गया ै—क्योंकि उक्त सम्प्रदायो के व्यक्तियो की ओरसे कुछ सुझाव प्राप्त ुए थे। आशा है पाठकोके लिये यह संस्करण और भी अधिक ाभप्रद सावित होगा।

फा० कृ० ११ }
२०११ }

विनीत

लेखक

विषय-सूची

१. इतिहास १—५८

१—आरम्भ काल १

श्रीऋषभदेव जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर ३

भागवतमें ऋषभ देवका वर्णन ४

ऐतिहासिक अभिलेख ८

२—श्रीऋषभ देव १०

३—जैन धर्मके अन्य प्रवर्तक १४

भगवान नेमिनाथ १५

भगवान पार्श्वनाथ १६

भगवान महावीर १७

४—भगवान महावीरके पश्चात् २३

[विहार में जैनधर्म २६

राजा चेटक ,,

राजा श्रेणिक २७

अजातशत्रु २८

नन्दवंश २९

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ३०

,, अशोक ३२

,, सम्प्रति ३३]

[उडीसामें जैनधर्म ३४

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल ,,]

बंगालमें जैनधर्म ३७

गुजरातमें जैनधर्म ३८

राजपूतानेमें जैनधर्म

मध्यप्रान्तमें जैनधर्म

उत्तर प्रदेशमें जैनधर्म

[दक्षिण भारतमें जैनधर्म

गंग-वंश

होय्सल वंश

राष्ट्रकूट वंश

कालाचूरिराज्यमें जैनधर्म

विजयनगर राज्यमें ,,

२. सिद्धांत ५९—१

१—जैनधर्म क्या है ?

२—अनेकान्तवाद

स्याद्वाद

सप्तभंगी

३—द्रव्य व्यवस्था

४—जीव द्रव्य

५—अजीव द्रव्य

पुदगल द्रव्य

धर्म-अधर्म द्रव्य

आकाश द्रव्य

काल द्रव्य

६—यह विश्व और उसकी व्यवस्था

७—जैन दृष्टिसे ईश्वर १

८—उसकी उपासना १

९—सात तत्व १

०कर्म सिद्धान्त — १३२
कर्म का स्वरूप — ,,
कर्म अपना फल कैसे देते हैं — १३५
कर्मके भेद — १३८
कर्मोकी अनेक दशाएँ — १४१
चारित्र — १४४–२२९
–ससारमे दु ख क्यो है — १४४
–मुक्तिका मार्ग — १४६
–चारित्र या आचार — १५४
–अहिंसा — १५८
गृहस्थकी अहिंसा — १६४
–श्रावकका चारित्र — १७०
अहिंसाणुव्रत — १७१
रात्रिभोजन और जलगालन — १७४
सत्याणुव्रत — १७६
अचौर्याणुव्रत — १७८
ब्रह्मचर्याणुव्रत — १७९
परिग्रह परिमाणव्रत — १८१
श्रावकके भेद — १८४
पाक्षिक श्रावक — १८४
नैष्ठिक श्रावक — १८६
१ दर्शनिक — ,,
२ व्रतिक — १८७
३ सामायिकी — १९२
४ प्रोपधोपवासी — ,,
५ सचित्तविरत — ,,
६ दिवामैथुनविरत — १९४
७ ब्रह्मचारी — ,,
८ आरम्भविरत — १९५
९ परिग्रहविरत — ,,
१० अनुमतिविरत — १९६
११ उद्दिष्टविरत — ,,
साधक श्रावक — १९९
६–श्रावक धर्म और विश्व की समस्याए — २०२
७–मुनिका चारित्र — २१०
साधुकी दिनचर्या — २१६
८–गुणस्थान — २२०
९–मोक्ष या सिद्धि — २२६
१०–क्या जैनधर्म नास्तिक है — २२८
४ जैनसाहित्य — २३०–२४५
दिगम्बर साहित्य — २३१
श्वेताम्बर साहित्य — २४०
४–कुछ प्रसिद्ध जैनाचार्य — २४५
गौतम गणधर — २४५
भद्रवाहु — २४६
धरसेन — ,,
पुष्पदन्त और भूतवलि — २४७
गुणधर — ,,
कुन्दकुन्द — ,,
उमास्वामी — २४८
समन्तभद्र — ,,
सिद्धसेन — २४९
देवनन्दि — ,,
पात्रकेसरी — २५०
अकलंक — २५१
विद्यानन्दि — ,,
माणिक्यनन्दि — ,,
अनन्तवीर्य — ,,
वीरसेन — २५२

जिनसेन	२५२
प्रभाचन्द्र	"
वादिराज	२५३
निर्युक्तिकार भद्रबाहु	"
मल्लवादी	२५४
जिनभद्र गणि	"
हरिभद्र	"
अभयदेव	"
हेमचन्द्र	२५५
यशोविजय	"

५. जैनकला और पुरातत्व २५५-२६५

चित्रकला	२५६
मूर्तिकला	२५९
स्थापत्यकला	२६०

६. सामाजिक रूप २६७-२९७

१—जैन संघ	२६७
२—संघ भेद	२७८
३—सम्प्रदाय और पन्थ	२७९
[१ दिगम्बर सम्प्रदाय	२८०
दिगम्बर सम्प्रदायमे संघभेद	२८१
तेरह पन्थ और बीसपन्थ	२८५
तारणपन्थ	२८७
[२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय	"
श्वेताम्बर चैत्यवासी	२८९
मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके गच्छ	२९०
स्थानकवासी	२९२
मूर्तिपूजा-विरोधी	

तेरापन्थ

यापनीय संघ

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

७—विविध २९७-३

१—कुछ जैनवीर

राजा चेटक

" उदयन

सम्राट् चन्द्रगुप्त

खारवेल

कुमारपाल

मारसिंह

चामुण्डराय

गंगराज

कलचूरि राजा

अमोघ वर्ष

वच्छावत सरदार

वनराज

जनरल इन्द्रराज

वस्तुपाल तेजपाल

सेनापति आभू

जयपुरके दीवान

१—जैन पर्व

दशलक्षण पर्व

अष्टान्हिका पर्व

महावीर जयन्ती

वीरशासन जयन्ती

श्रुत पंचमी

दीपावली

रक्षावन्धन

२—तीर्थक्षेत्र

विहार प्रदेश

उत्तर प्रदेश	३१७
बुन्देलखण्ड व मध्यप्रान्त	३२०
राजपूताना व मालवा	३२५
बम्बई प्रान्त	३२७
मद्रास प्रान्त	३३१
उड़ीसा प्रान्त	३३३
जैनधर्म और इतरधर्म	३३४
१ जैनधर्म और हिन्दू धर्म	३३४
वैदिक साहित्यका क्रमिक विकास	३३५
वेदोंका प्रधान विषय	३३६
ब्राह्मण साहित्य	३३६
आरण्यक	३३७
उपनिषद	"
उपनिषदोंकी शिक्षा जैनधर्मका आधार नहीं है	३३८
सर राधा कृष्णन्के मतकी आलोचना	३४०
भारतीय धर्मोंमें आदान प्रदान	३४४
हिन्दू धर्म और जैनधर्ममें अन्तर	३४८
२ जैनधर्म और बौद्ध धर्म	३४९
दोनोंमें समानता	३५०
दोनोंमें भेद	"
जैनधर्म और मुसलमान धर्म	३५२
४. जैन सूक्तियाँ	३५४

जैनधर्म

जैनोंका मूल मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥
एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेंसि, पढम हवइ मंगलं ॥

(अर्हन्तोको नमस्कार, सिद्धोको नमस्कार, आचार्योंको नमस्कार, उपाध्यायोंको नमस्कार, लोकके सब साधुओंको नमस्कार। यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापोका नाश करनेवाला है। और सब मंगलोमे आद्य मंगल है।)

वाहुवलि स्वामी

श्रवणबेल गोला (मैसूर) स्थित

५७ फीट ऊंची दि० जैन मूर्ति

जैनधर्म पृ० १२६

जैन धर्म

१. इतिहास

१—आरम्भ काल

एक समय था जब जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा समझ लिया गया था। किन्तु अब वह भ्रान्ति दूर हो चुकी है और नई खोजोके फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मसे न केवल एक पृथक् और स्वतंत्र धर्म है किन्तु उससे बहुत प्राचीन[1] भी है। अब अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरको जैनधर्मका संस्थापक नही माना जाता और उनसे अढाई सौ वर्ष पहले होनेवाले भगवान पार्श्वनाथको एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। इस तरह

---

१ इस भ्रान्तिको दूर करनेका श्रेय स्व० डा० हर्मान याकोबीको प्राप्त है उन्होने अपनी जैनसूत्रोकी प्रस्तावनामें इसपर विस्तृत विचार किया है। लिखते हैं—"इस बातसे अब सब सहमत है कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नाम से प्रसिद्ध है, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ करते है कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोका, जो आज जैन अथवा आर्हतके नामसे अधिक प्रसिद्ध है, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक बडे सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोमें कुछ निर्ग्रन्थोका बुद्ध और उसके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त बातका अनुमान कर सकते है। इसके विपरीत इन ग्रन्थोमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें नही आता कि निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके सस्थापक है। इसके ऊपरसे हम अनुमान कर सकते है कि बुद्धके जन्मसे पहले अतिप्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व चला आता है।"

नधर्मका आरम्भकाल[1] सुनिश्चित रीतिसे ईस्वी सन् से ८०० वर्ष पूर्व
न लिया गया है। किन्तु जहाँ अब कुछ विद्वान भगवान पार्श्वनाथको
नधर्मका सस्थापक मानते हैं वहाँ कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो उससे
हले भी जैनधर्मका अस्तित्व मानते हैं। उदाहरणके लिये प्रसिद्ध
र्मन विद्वान् स्व० डा० हर्मन याकोबी और प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक
र राधाकृष्णन् का मत उल्लेखनीय है। डा० याकोबी[2] लिखते हैं—

'इसमे कोई भी सबूत नही है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक
। जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवको जैनधर्मका सस्थापक
ाननेमें एक मत है। इस मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी संभावना है।'

डा० सर राधाकृष्णन् कुछ विशेष जोर देकर लिखते हैं—

'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन

---

१ उत्तराध्ययन सूत्रके प्राक्कथनमें डा० चार्पेन्टर लिखते हैं—'हमें स्मरण
खना चाहिये कि जैन धर्म म० महावीरसे प्राचीन है और महावीरके आदरणीय
र्वज पार्श्वनाथ निश्चित रूपसे एक वास्तविक व्यक्तिके रूपमें वर्तमान थे।
त जैनधर्मके मूल सिद्धान्त म० महावीरसे बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे'।
विलोग्राफिया जैनकी प्रस्तावनामें, डा० गैरीनाट लिखते हैं—इसमें कोई
न्देह नहीं है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जैन मान्यताके अनुसार
सौ वर्षतक जीवित रहे और महावीरसे २५० वर्ष पूर्व निर्वाणको प्राप्त हुए।
त: उनका कार्यकाल ईस्वी सन्से ८०० वर्ष पूर्व था। महावीरके माता-पिता
ार्श्वनाथके धर्मको मानते थे।"

२ 'There is nothing to prove that Parshva was the ounder of Jainism Jain tradition is unanimous in makng Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there nay be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.—*Indian Antiquary Vol X P.* 163.

३ 'There is evidence to show that so far back as the irst century B C there were people who were worshipping Risha , the first Tirthankara There is no

करती है, जो बहुतसी शताब्दियो पूर्व हुए है। इस बातके प्रमाण प
जाते है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी पू
होती थी। इसमे कोई सन्देह नही है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्व
नाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमे ऋषभदेव, अजितनाथ औ
अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थङ्करोके नामोका निर्देश है। भागवत पु
भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।

उक्त दो मतोंसे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि भग
पार्श्वनाथ भी जैनधर्मके सस्थापक नही थे और उनसे पहले भी जैनध
प्रचलित था। तथा जैन परम्परा श्रीऋषभदेवको अपना प्रथम तीर्थङ्क
मानती है और जैनेतर साहित्य तथा उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री
भी इस बातकी पुष्टि होती है। नीचे इन्ही बातोंको स्पष्ट कि
जाता है।

जैन-परम्परा

जैन परम्पराके अनुसार हमारे इस दृश्यमान जगतमे कालका च
सदा घूमा करता है। यद्यपि कालका प्रवाह अनादि और अनन्त
तथापि उस कालचक्रके छ विभाग है—१ अतिसुखरूप, २ सुखरूप,
सुख-दु खरूप, ४ दु खसुखरूप, ५ दु खरूप और ६ अतिदु खरूप। जै
चलती हुई गाड़ीके चक्रका प्रत्येक भाग नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नी
जाता आता है वैसे ही ये छ भाग भी क्रमवार सदा घूमते रहते है
अर्थात् एक बार जगत् सुखसे दु:खकी ओर जाता है तो दूसरी बा
दु खसे सुखकी ओर बढता है। सुखसे दु खकी ओर जानेको अवसर्पिणी
काल या अवनतिकाल कहते है और दु:खसे सुखकी ओर जानेक

---

doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman
or Parsvanath The Yajurveda mentions the names o
three tirthankaras-Rishabha, Ajitanath and Aristanem
The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabh
was the founder of Jainism.'—*Indian Philosophy. Vo*
I. P.287.

सर्पिणीकाल या विकासकाल कहते हैं। इन दोनों कालोंकी अवधि ाखों करोडों वर्षोसे भी अधिक है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी-ालके दुखसुखरूप भागमें २४ तीर्थङ्करोंका जन्म होता है, जो 'जिन' वस्थाको प्राप्त करके जैनधर्मका उपदेश देते हैं। इस समय अवसर्पिणी-ाल चालू है। उसके प्रारम्भके चार विभाग बीत चुके हैं और अब म उसके पाँचवें विभागमेंसे गुजर रहे हैं। चूंकि चौथे विभागका न्त हो चुका, इसलिये इस कालमें अब कोई तीर्थङ्कर नहीं होगा। स युगके २४ तीर्थङ्करोंमेंसे भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर थे र भगवान महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे। तीसरे कालविभागमें ब तीन वर्ष ८॥ माह शेष रहे तब ऋषभदेवका निर्वाण हुआ और ौथे कालविभागमें जब उतना ही काल शेष रहा तब महावीरका निर्वाण हुआ। दोनोंका अन्तरकाल एक कोटा-कोटी सागर बतलाया ाता है। इस तरह जैन परम्पराके अनुसार इस युगमें जैनधर्मके थम प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे। प्राचीनसे प्राचीन जैनशास्त्र स विषयमें एक मत हैं और उनमें ऋषभदेवका जीवन-चरित बहुत वस्तारसे वर्णित है।

जैनेतर साहित्य

जैनेतर साहित्यमें श्रीमद्भागवतका नाम उल्लेखनीय है। इसके ाँचवें स्कन्धके, अध्याय २–६ में ऋषभदेवका सुन्दर वर्णन है, जो ैन साहित्यके वर्णनसे कुछ अंशमें मिलता जुलता हुआ भी है। उसमे लेखा है कि जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्यसंख्या नहीं बढ़ी तो उसने वयंभू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामका ड़का हुआ। प्रियव्रतका पुत्र अग्नीध्र हुआ। अग्नीध्रके घर नाभिने न्म लिया। नाभिने मरुदेवीसे विवाह किया और उनसे ऋषभदेव त्पन्न हुए। ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा दी गई जयन्ती नामकी भार्यासे ौ पुत्र उत्पन्न किये, और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास े लिया। उस समय केवल शरीरमात्र उनके पास था और वे दिगम्बर

वेषमे नग्न विचरण करते थे। मौनसे रहते थे, कोई डराये, मारे ऊपर थूके, पत्थर फेके, मूत्रविष्ठा फेके तो इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थोका घर है ऐसा समझकर अहंकार ममकारका त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेवके समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रियाकर्म बडा भयान हो गया था। शरीरादिकका सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव निरन्तर प र आनन्दका अनुभव करते हुए भ्रमण करते करते कोंक, वेक, कुटक, दक्षि कर्नाटक देशोंमे अपनी इच्छासे पहुंचे, और कुटकाचल पर्वतके उपवनमें उन्मत्तकी नाई नग्न होकर विचरने लगे। जंगलमे बाँसोकी रगड़से आग लग गई और उन्होंने उसीमे प्रवेश करके अपनेको भस्म कर दिया।

इस तरह ऋषभदेवका वर्णन करके भागवतकार आगे लिखते हैं— 'इन ऋषभदेवके चरित्रको सुनकर कोंक वेक कुटक देशोका राजा अर्हन् उन्हींके उपदेशको लेकर कलियुगमे जब अधर्म बहुत हो जायगा तब स्वधर्मको छोड़कर कुपथ पाखंड (जैनधर्म) का प्रवर्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य मायासे विमोहित होकर, शौच आचारको छोडकर ईश्वरकी अवज्ञा करनेवाले व्रत धारण करेंगे। न स्नान, न आचमन, ब्रह्म, ब्राह्मण, यज्ञ सबके निन्दक ऐसे पुरुष होंगे और वेद-विरुद्ध आचरणकरके नरकमें गिरेंगे। यह ऋषभावतार रजोगुणसे व्याप्त मनुष्योको मोक्षमार्ग सिखलानेके लिये हुआ।'

---

१ "यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकाना राजा अर्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्मं उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहित स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमजस निजमनीषया मन्द सम्प्रवर्तयिष्यते ॥९॥ येन वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिता स्वविधिनियोगशौच-चारित्रविहीना देवहेलना न्यपव्रतानि निजेच्छया गृह्णाना अस्नानाचमनशौचकेशोल्लुचनादीनि कलिनाऽ धर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुषलोकविदूषका प्रायेण भविष्यन्ति॥१०॥ ते च स्वह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयाऽन्धपरम्परया श्वस्ता. तमस्यन्धे स्वयमेव पतिष्यन्ति। अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थं.॥" स्क० ५, अ० ६।

श्रीमद्‌भागवतके उक्त कथनमेंसे यदि उस अंशको निकाल दिया ये, जो कि धार्मिक विरोधके कारण लिखा गया है तो उससे बराबर : ध्वनित होता है कि ऋषभदेवने ही जैनधर्मका उपदेश दिया था ोकि जैन तीर्थङ्कर ही केवल-ज्ञानको प्राप्त कर लेने पर 'जिन' र्हत्' आदि नामोसे पुकारे जाते है और उसी अवस्थामें वे धर्मोपदेश रते हैं जो कि उनकी उस अवस्थाके नाम पर जैनधर्म या आर्हत धर्म हलाता है। सम्भवत दक्षिणमें जैनधर्मका अधिक प्रचार देख कर गवतकारने उक्त कल्पना कर डाली है। यदि वे सीधे ऋषभदेवसे जैनधर्मकी उत्पत्ति बतला देते तो फिर उन्हें जैनधर्मको बुरा भला हनेका अवसर नही मिलता। अस्तु, श्रीमद्‌भागवतमें ऋषभदेवजीके रा उनके पुत्रोको जो उपदेश दिया गया है वह भी बहुत अंशमें जैन-र्मके अनुकूल ही है। उसका सार निम्न प्रकार है—

(१) हे पुत्रो ! मनुष्यलोकमें शरीरधारियोके बीचमें यह रीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नही है। अतः दिव्य तप करो, सससे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

(२) जो कोई मेरेसे प्रीति करता है, विषयी जनोसे, स्त्रीसे, त्रसे और मित्रसे प्रीति नही करता, तथा लोकमें प्रयोजनमात्र ासक्ति करता है वह समदर्शी प्रशान्त और साधु है।

(३) जो इन्द्रियोकी तृप्तिके लिये परिश्रम करता है उसे हम ाच्छा नही मानते; क्योकि यह शरीर भी आत्माको क्लेशदायी है।

(४) जब तक साधू आत्मतत्त्वको नही जानता तब तक वह ज्ञानी है। जब तक यह जीव कर्मकाण्ड करता रहता है तब तक सब र्मोका शरीर और मन द्वारा आत्मासे बन्ध होता रहता है।

(५) गुणोके अनुसार चेष्टा न होनेसे विद्वान् प्रमादी हो, ज्ञानी बन कर, मैथुनसुखप्रधान घरमें बसकर अनेक संतापोको ाप्त होता है।

(६) पुरुषका स्त्रीके प्रति जो कामभाव है यही हृदयकी ग्रन्थि है। इसीसे जीवको घर, खेत, पुत्र, कुटुम्ब और धनसे मोह होता है।

(७) जब हृदयकी ग्रन्थिको बनाये रखनेवाले मनका बन्ध शिथिल हो जाता है तब यह जीव संसारसे छूटता है और मुक्त होकर परमलोकको प्राप्त होता है।

(८) जब सार-असारका भेद करानेवाली व अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा,सुख दु खका त्याग कर तत्त्वको जाननेकी इच्छा करता है, तथा तपके द्वारा सब प्रकारकी चेष्टाओंकी निवृत्ति करता है तब मुक्त होता है।

(९) जीवोंको जो विषयोकी चाह है यह चाह ही अन्धकूपके समान नरकमे जीवको पटकती है।

(१०) अत्यन्त कामनावाला तथा नष्ट दृष्टिवाला यह जगत् अपने कल्याणके हेतुओंको नही जानता है।

(११) जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड कुमार्गमे चलता है उसे दयालु विद्वान कुमार्गमें कभी भी नही चलने देता।

(१२) हे पुत्रो! सब स्थावर जंगम जीवमात्रको मेरे ही समान समझकर भावना करना योग्य है।

ये सभी उपदेश जैनधर्मके अनुसार है। इनमें नम्बर ४ का उपदेश तो खास ध्यान देने योग्य है, जो कर्मकाण्डको बन्धका कारण बतलाता है। जैनधर्मके अनुसार मन, वचन और कायका निरोध किये बिना कर्मबन्धनसे छुटकारा नही मिल सकता। किन्तु वैदिक धर्ममें यह बात नही पाई जाती। शरीरके प्रति निर्ममत्व होना, तत्त्वज्ञान पूर्वक तप करना, जीवमात्रको अपने समान समझना, कामवासनाके फन्देमे न फँसना, ये सब तो वस्तुत.जैनधर्म ही है। अत श्रीमद्भागवतके अनुसार भी श्रीऋषभदेवसे ही जैनधर्मका उद्गम हुआ ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है। अन्य हिन्दू पुराणोमे भी जैनधर्मकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्राय इसी प्रकारका वर्णन पाया जाता है। ऐसा एक भी ग्रन्थ अभी तक देखनेमे नही आया, जिसमे वर्धमान या पार्श्वनाथसे जैनधर्मकी उत्पत्ति बतलाई गई हो। यद्यपि उपलब्ध पुराणसाहित्य

य. महावीरके वादका ही है, फिर भी उसमे जैनधर्मकी चर्चा होते हुए
। महावीर या पार्श्वनाथका नाम तक नही पाया जाता। इससे भी
सी वातकी पुष्टि होती है कि हिन्दू परम्परा भी इस विषयमे एक
त है कि जैनधर्मके सस्थापक ये दोनो नही है।

इसके सिवा हम यह देखते है कि हिन्दू धर्मके अवतारोमे अन्य
ारतीय धर्मोंके पूज्य पुरुष भी सम्मिलित कर लिये गये है, यहाँ
क कि ईस्वी पूर्व छठी शताब्दीमे होने वाले बुद्धको भी उनमे
ाम्मिलित कर लिया गया है जो वौद्धधर्मके संस्थापक थे। किन्तु उन्हीके
मकालीन वर्धमान या महावीरको उसमें सम्मिलित नही किया है,
योकि वे जैनधर्मके सस्थापक नही थे। जिन्हे हिन्दू परम्परा जैनधर्मका
स्थापक मानती थी वे श्रीऋषभदेव पहलेसे ही आठवे अवतार माने
ए थे। यदि श्रीबुद्धकी तरह महावीर भी एक नये धर्मके संस्थापक
ते तो यह सभव नही था कि उन्हें छोड दिया जाता। अत उनके
गम्मिलित न करने और ऋषभदेवके आठवे अवतार माने जानेसे भी
स वातका समर्थन होता है कि हिन्दू परम्परामे अति प्राचीनकालसे
षभदेवको ही जैनधर्मके सस्थापकके रूपमें माना जाता है। यही
जह है जो उनके तथा उनके वादमे होनेवाले अजितनाथ और अरिष्ट-
ामि नामके तीर्थङ्करोका निर्देश यजुर्वेदमें मिलता है।

ऐतिहासिक सामग्री

इस प्रकार जैन और जैनेतर साहित्यसे यह स्पष्ट है कि भगवान
षभदेव ही जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक थे। प्राचीन शिलालेखोसे भी
ह बात प्रमाणित है कि श्रीऋषभदेव जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर थे
ौर भगवान महावीर के समयमे भी ऋषभदेवकी मूर्तियोकी पूजा जैन
ोग करते थे। मथुराके कङ्काली नामक टीलेकी खुदाईमें डाक्टर
ुहररको जो जैन शिलालेख प्राप्त हुए वे करीब दो हजार वर्ष प्राचीन
और उनपर इन्डोसिथियन (Indo-sythian) राजा कनिष्क

हुविष्क और वासुदेवका सम्वत् है। उसमे भगवान ऋषभदेवके पूजाके लिये दान देनेका उल्लेख है।

श्रीविंसेण्ट[१] ए० स्मिथका कहना है कि 'मथुरासे प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्पराके समर्थनमे विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्मकी प्राचीनताके विषयमें अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है। तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समयमे भी वह अपने इसी रूपमे मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भमे भी अपने विशेष चिह्नोके साथ चौबीस तीर्थङ्करोंकी मान्यतामे दृढ़ विश्वास था'।

इन शिलालेखोसे भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शिलालेख खण्डगिरि उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथी गुफासे प्राप्त हुआ है जो जैन सम्राट खारवेलने लिखाया था। इस २१०० वर्षके प्राचीन जैन शिलालेखसे स्पष्ट पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्रके पूर्वाधिकारी राजा नन्द कलिंग जीतकर भगवान श्रीऋषभदेवकी मूर्ति, जो कलिंगराजाओंकी कुलक्रमागत बहुमूल्य अस्थावर सम्पत्ति थी, जयचिह्न स्वरूप ले गया था। वह प्रतिमा खारवेलने नन्दराजाके तीन सौ वर्ष बाद पुष्यमित्रसे प्राप्त की। जब खारवेलने मगध पर चढाई की और उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्रने खारवेलको वह प्रतिमा लौटाकर राजी कर लिया। यदि जैनधर्मका आरम्भ भगवान महावीर या भगवान पार्श्वनाथके द्वारा हुआ होता तो उनसे कुछ ही समय बादकी या उनके समयकी प्रतिमा उन्हींकी

१—"The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible Proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era.—*The Jain stup Mathura Intro. p* 6

ती। परन्तु जब ऐसे प्राचीन शिलालेखमे आदि तीर्थङ्करकी प्रति-
का स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख इतिहासके साथ मिलता है तो
नना पड़ता है कि श्रीऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होनेकी मान्य-
में तथ्य अवश्य है।

अव प्रश्न यह है कि वे कब हुए ?

ऊपर वतलाया गया है कि जैन परम्पराके अनुसार प्रथम जैन ोर्थङ्कर श्रीऋषभदेव इस अवसर्पिणीकालके तीसरे भागमे हुए, और व उस कालका पाँचवाँ भाग चल रहा है अत उन्हें हुए लाखों करोड़ों र्षं हो गये। हिन्दू परम्पराके अनुसार भी जव ब्रह्माने सृष्टिके ारम्भमें स्वयभू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया तो ऋषभदेव नसे पाँचवी पीढीमें हुए। और इस तरह वे प्रथम सतयुगके अन्तमें ए। तथा अब तक २८ सतयुग वीत गये हैं। इससे भी उनके मयकी सुदीर्घताका अनुमान लगाया जा सकता है। अत जैन-र्मका आरम्भकाल वहुत प्राचीन है। भारतवर्ष[1] में जब आर्योंका ागमन हुआ उस समय भारतमे जो द्रविड सभ्यता फैली हुई थी, स्तुत वह जैन सभ्यता ही थी। इसीसे जैन परम्परामे वादको जो संघ ायम हुए उनमें एक द्रविडसघ भी था।

२—श्रीऋषभदेव

कालके उक्त छ भागोमें से पहले और दूसरे भागमे न कोई धर्म ोता है, न कोई राजा और न कोई समाज। एक परिवारमें पति और त्नी ये दो ही प्राणी होते है। पासमें लगे वृक्षोसे, जो कल्पवृक्ष कहे ाते है उन्हे अपने जीवनके लिये आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो जाते है, इसीमे वे प्रसन्न रहते है। मरते समय एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म

१ मेजर जनरल जे सी आर फर्लांग महोदय अपनी The Short Study in Science of Comparative Religion नामकी पुस्तकमें लिखते —'ईसासे अगणित वर्ष पहलेसे जैनधर्म भारतमें फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारत में आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।'

चौदहवें मनुका नाम नाभिराय था। इनके समयमें उत्पन्न होने ाले बच्चोंका नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तो इन्होंने उसको ाटना बतलाया। इसीलिये इनका नाम नाभि पड़ा। इनकी पत्नीका ाम मरुदेवी था। इनसे श्रीऋषभदेवका जन्म हुआ। यही ऋषभदेव स युगमें जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक हुए। इनके समयमें ही ग्राम नगर ादिकी सुव्यवस्था हुई। इन्होंने ही लौकिक शास्त्र और लोकव्यव- ारकी शिक्षा दी और इन्होंने ही उस धर्मकी स्थापना की जिसका ूल अहिंसा है। इसीलिये इन्हे आदि ब्रह्मा भी कहा गया है।[1]

जिस समय ये गर्भमें थे, उस समय देवताओंने स्वर्णकी वृष्टि की इसलिये इन्हें 'हिरण्यगर्भ'[2] भी कहते हैं। इनके समयमें प्रजाके सामने जीवनकी समस्या विकट हो गई थी, क्योंकि जिन वृक्षोंसे लोग अपना जीवन निर्वाह करते आये थे वे लुप्त हो चुके थे और जो नई वनस्पतियाँ पृथ्वीमें उगी थी, उनका उपयोग करना नही जानते थे। तब इन्होंने उन्हें उगे हुए इक्षुदण्डोंसे रस निकाल कर खाना सिखलाया। इसलिये इनका वंश इक्ष्वाकु वंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ, और ये उसके आदि पुरुष कहलाये। तथा [3]प्रजाको कृषि, असि, मषी, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन षट्कर्मों से आजीविका करना बतलाया। इसलिये इन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्थाको चलानेके लिये इन्होंने तीन वर्णोकी स्थापना की। जिनको रक्षाका भार दिया

१ 'पुरगामपट्टणादी लोयियसत्थ च लोयववहारो।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिब्रह्मेण ।।८०२।।'
—त्रि० सा०।

२ 'हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि भवत्त्वयि।
हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे त्वतः ।। २०६ ।।
आकन्तीक्षुरस प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो।
प्रजा प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे ।। २१० ।।'
—सं० ८, हरि० पु०।

३ 'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु- शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः'
—स्वयं० स्तो०

गया वे क्षत्रिय कहलाये। जिन्हें खेती, व्यापार, गोपालन आदि के कार्यमें नियुक्त किया गया वे वैश्य कहलाये। और जो सेवावृत्ति करनेके योग्य समझे गये उन्हें शूद्र नाम दिया गया।

भगवान ऋषभदेवके दो पत्नियाँ थी—एक का नाम सुनन्दा था और दूसरीका नन्दा। इनसे उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। बड़े पुत्रका नाम भरत था। यही भरत इस युगमें भारतवर्षके प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजसिंहासनपर विराजमान थे राजसभा लगी हुई थी और नीलांजना नामकी अप्सरा नृत्य कर रही थी। अचानक नृत्य करते करते नीलाञ्जनाका शरीरपात हो गया इस आकस्मिक घटनासे भगवानका चित्त विरक्त हो उठा। तुरन्त सब पुत्रोंको राज्यभार सौंप कर उन्होंने प्रव्रज्या ले ली और छ माह की समाधि लगाकर खड़े हो गये। उनकी देखादेखी और भी अनेक राजाओंने दीक्षा ली। किन्तु वे भूख प्यासके कष्टको न सह सके और भ्रष्ट हो गये। छ माहके बाद जब भगवानकी समाधि भंग हुई तो आहारके लिये उन्होंने विहार किया। उनके प्रशान्त नग्न रूपको देखनेके लिये प्रजा उमड़ पड़ी। कोई उन्हें वस्त्र भेंट करता था, कोई भूषण भेंट करता था, कोई हाथी घोड़े लेकर उनकी सेवामें उपस्थित होता था। किन्तु उनको भिक्षा देनेकी विधि कोई नही जानता था। इस तरह घूमते-घूमते ६ माह और बीत गये।

इसी तरह घूमते-घूमते एक दिन ऋषभदेव हस्तिनापुरमें जा पहुँचे। वहाँका राजा श्रेयांस बडा दानी था। उसने भगवान्‌का व... सत्कार किया। आदरपूर्वक भगवानको प्रतिग्रह करके उच्चासनपर बैठाया, उनके चरण धोये, पूजन की और फिर नमस्कार कर बोला—भगवन्? यह इक्षुरस प्रासुक है, निर्दोष है इसे आप स्वीकार करें। तब भगवानने खडे होकर अपनी अञ्जलिमें रस लेकर पिया उस समय लोगों को जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। भगव।

ह आहार वैशाख शुक्ला तीजके दिन हुआ था। इसीसे यह तिथि क्षय तृतीया कहलाती है। आहार करके भगवान फिर वनको चले ये और आत्म ध्यानमें लीन हो गये। एक बार भगवान 'पुरिमताल' गरके उद्यानमें ध्यानस्थ थे। उस समय उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति ई। इस तरह 'जिन' पद प्राप्त करके भगवान बडे भारी समुदायके ाथ धर्मोपदेश देते हुए विचरण करने लगे। उनकी व्याख्यान सभा समवसरण' कहलाती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें पशुओ तकको धर्मोपदेश सुननेके लिये स्थान मिलता था और सह जैसे भयानक जन्तु शान्तिके साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान जो कुछ कहते थे सबकी समझमे आ जाता था। इस तरह जीवनपर्यन्त प्राणिमात्रको उनके हितका उपदेश देकर भगवान ऋषभदेव कैलास पर्वतसे मुक्त हुए। वे जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर थे। हिन्दू पुराणोमें भी उनका वर्णन मिलता है। इस युगमे उनके द्वारा ही जैनधर्मका आरम्भ हुआ।

३—जैनधर्मके अन्य प्रवर्तक

भगवान ऋषभदेवके पश्चात् जैनधर्मके प्रवर्तक २३ तीर्थङ्कर और हुए, जिनमें से दूसरे अजितनाथ, चौथे अभिनन्दननाथ, पाँचवे सुमतिनाथ और चौदहवें अनन्तनाथका जन्म अयोध्यानगरीमें हुआ। तीसरे, संभवदेवका जन्म श्रावस्ती नगरीमे हुआ। छठे पद्मप्रभका जन्म कौशाम्बीमे हुआ। सातवे सुपार्श्वनाथ और तेईसवे पार्श्वनाथका जन्म वाराणसी नगरी (बनारस) में हुआ। आठवे चन्द्रप्रभका जन्म चंद्रपुरीमे हुआ। नौवे पुष्पदन्तका जन्म काकन्दी नगरीमे हुआ। दसवें शीतलनाथका जन्म भद्दलपुरमे हुआ। ग्यारहवे श्रेयांसनाथका जन्म सिंहपुरी (सारनाथ) में हुआ। बारहवें वासुपूज्यका जन्म चम्पापुरीमें हुआ। तेरहवे विमलनाथका जन्म कपिला नगरीमें हुआ। पन्द्रहवें धर्मनाथका जन्म रत्नपुरमें हुआ। सोलहवें शान्तिनाथ, सत्तरहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें अरनाथका जन्म हस्तिनागपुरमें

हुआ। उन्नीसवें मल्लिनाथ और इक्कीसवे नमिनाथका जन्म मि-
पुरीमे हुआ। बीसवे मुनिसुव्रतनाथका जन्म राजगृही नगरीमे हुअ
इनमेसे धर्मनाथ, अरनाथ और कुन्थुनाथका जन्म कुरुवंशमे हुअ
मुनिसुव्रतनाथका जन्म हरिवंशमे हुआ और शेषका जन्म इक्ष्वाकुवंश
हुआ। सभीने अन्तमे प्रव्रज्या लेकर भगवान ऋषभदेवकी त
तपश्चरण किया और केवल ज्ञानको प्राप्त करके उन्हीकी तरह ध
पदेश किया और अन्तमे निर्वाणको प्राप्त किया। इनमेसे भगव
वासुपूज्यका निर्वाण चम्पापुरसे हुआ और शेष तीर्थङ्करोका निर्वा
सम्मेदशिखरसे हुआ। अन्तिम तीन तीर्थङ्करोंका वर्णन आगे पढिये

भगवान नेमिनाथ

भगवान नेमिनाथ बाईसवे तीर्थङ्कर थे। ये श्रीकृष्णके चचे
भाई थे। शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णिके दस पुत्र हुए। सबसे ब
पुत्रका नाम समुद्रविजय और सबसे छोटे पुत्रका नाम वसुदेव था
समुद्रविजयके घर नेमिनाथने जन्म लिया और वसुदेवके घर श्रीकृष्णने
जरासन्ध के भयसे यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरीमे जाक
रहने लगे। वहाँ जूनागढके राजाकी पुत्री राजमतीसे नेमिनाथ
विवाह निश्चित हुआ। बड़ी धूम-धामके साथ बारात जूनागढ़के निक
पहुँची। नेमिनाथ बहुतसे राजपुत्रोके साथ रथमे बैठे हुए आसपास
शोभा देखते जाते थे। उनकी दृष्टि एक ओर गई तो उन्होने देख
बहुतसे पशु एक बाड़ेमे बन्द है, वे निकलना चाहते है किन्तु निकलने
कोई मार्ग नही है। भगवानने तुरन्त सारथिको रथ रोकने
आदेश दिया और पूछा—ये इतने पशु इस तरह क्यों रोके हु
है। नेमिनाथको यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि उनकी बारातमे अ
हुए अनेक राजाओके आतिथ्य सत्कारके लिये इन पशुओंका वध कि
जानेवाला है और इसी लिये वे बाड़ेमे बन्द है। नेमिनाथके दया
हृदयको बडा कष्ट पहुंचा। वे बोले—यदि मेरे विवाहके निमित्त
इतने पशुओंका जीवन संकटमें है तो धिक्कार है ऐसे विवाहको। उ

(१) श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार भगवान महावीरकी माता च
चेटककी बहिन थी। तथा महावीरका विवाह भी हुआ था।

विवाह नही करूँगा। वे रथसे तुरन्त नीचे उतर पडे और मुकुट और
गनको फेंककर वनकी ओर चल दिये। बारातमें इस समाचारके फैलते
ी कोहराम मच गया। जूनागढके अन्तःपुरमें जब राजमतीको यह
माचार मिला तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बहुतसे लोग नेमि-
ाथको लौटानेके लिये दौडे, किन्तु व्यर्थ। वे पासमे ही स्थित गिरनार
हाड़पर चढ़ गये और सहस्राम्र वनमें भगवान ऋषभदेवकी तरह सब
रिधान छोडकर दिगम्बर हो आत्मध्यानमे लीन हो गये और केवल-
ानको प्राप्तकर [1]गिरनारसे ही निर्वाण लाभ किया।

भगवान पार्श्वनाथ

भगवान पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म आजसे लगभग ीन हजार वर्ष पहले वाराणसी नगरीमें हुआ था। यह भी राजपुत्र े। इनकी चित्तवृत्ति प्रारम्भसे ही वैराग्यकी ओर विशेष थी। माता-पिताने कई बार इनसे विवाहका प्रस्ताव किया किन्तु उन्होंने सदा हँस-कर टाल दिया। एक बार ये गंगाके किनारे घूम रहे थे। वहाँपर कुछ तापसी आग जलाकर तपस्या करते थे। ये उनके पास पहुँचे और बोले—'इन लक्कडो को जलाकर क्यो जीवहिंसा करते हो।' कुमारकी बात सुनकर तापसी बडे झल्लाये और बोले—'कहाँ है जीव?' तब कुमारने तापसीके पाससे कुल्हाड़ी उठाकर ज्यो ही जलती हुई लकडीको चीरा तो उसमेंसे नाग और नागिनका जलता हुआ जोडा निकला। कुमार-ने उन्हे मरणोन्मुख जानकर उनके कानमें मूलमत्र दिया और दुखी होकर चले गये। इस घटनासे उनके हृदयको बहुत वेदना हुई। जीवनकी अनित्यताने उनके चित्तको और भी उदास कर दिया और

१. महाभारत में भी लिखा है—

युगे युगे महापुण्य दृश्यते द्वारिका पुरी।
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासशशिभूषण.॥
रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मक्तिमार्गस्य कारणम्॥

राजसुखको तिलाञ्जलि देकर प्रव्रजित हो गये। एक वार अहिच्छेत्रके वनमे ध्यानस्थ थे। ऊपरसे उनके पूर्वजन्मका वैरी को॰ देव कही जा रहा था। इन्हे देखते ही उसका पूर्वसचित वैरभा॰ भडक उठा। वह उनके ऊपर ईंट और पत्थरोकी वर्षा करने लगा॰ जब उससे भी उसने भगवानके ध्यानमे विघ्न पडता न देखा तो मूसला- लाधार वर्षा करने लगा। आकाशमे मेघोने भयानक रूप धारण क॰ लिया, उनके गर्जनतर्जनसे दिल दहलने लगा। पृथ्वीपर चारो ओर पानी ही पानी उमड़ पडा। ऐसे घोर उपसर्गके समय जो नाग और नागिन मरकर पाताल लोकमे धरणेन्द्र और पद्मावती हुए थे, वे अप॰ उपकारीके ऊपर उपसर्ग हुआ जानकर तुरन्त आये। पद्मावती॰ अपने मुकुटके ऊपर भगवानको उठा लिया और धरणेन्द्र॰ सहस्रफणवाले सर्पका रूप धारण करके भगवानके ऊपर अपने॰ फण फैला दिया और इस तरह उपद्रवसे उनकी रक्षा की। उसी सम॰ पार्श्वनाथको केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई, उस वैरी देवने उनके च॰ सीस नवाकर उनसे क्षमा याचना की। फिर करीब ७० वर्ष॰ जगह-जगह विहार करके धर्मोपदेश करनेके वाद १०० वर्षकी उम्रमे वे सम्मेद शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। इन्हीके नामसे आज सम्मे॰ दशिखर पर्वत 'पारसनाथहिल' कहलाता है। इनकी जो मूर्तियां पा॰ जाती है, उनमे उक्त घटनाके स्मृतिस्वरूप सिरपर सर्पका फन बना हुआ होता है। जैनेतर जनतामे इनकी विशेष ख्याति है। ॰ कही तो जैनोका मतलब ही पार्श्वनाथका पूजक समझा जाता है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे। लगभग ६०० ई० पू० विहार प्रान्तके कुण्डलपुर नगरके राजा सिद्धार्थके घरमे उनका जन्म हुआ। उनकी माता[1] त्रिशला वैशालीनरेश राजा चेटककी पुत्री

---

(१) श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार भगवान महावीरकी माता त्रिशला चेटककी बहिन थी। तथा महावीरका विवाह भी हुआ था।

था। महावीरका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन हुआ था। इस दिन भारतवर्षमें महावीरकी जयन्ती बडी धूमसे मनाई जाती है। महावीर सचमुचमें महावीर थे। एक बार बचपनमें ये अन्य बालकोंके साथ खेल रहे थे। इतनेमें अचानक एक सर्प कहींसे आ गया और बालकोंकी ओर झपटा। अन्य बालक तो डरकर भाग गये किन्तु महावीरने उसे निर्मद कर दिया। महावीर जन्मसे ही विशेष ज्ञानी थे। एक बार एक मुनि उनको देखनेके लिये आये और उनके देखते ही मुनिके चित्तमें जो शास्त्रीय शंकाएँ थी वे दूर हो गईं। जब महावीर बडे हुए तो उनके विवाहका प्रश्न उपस्थित हुआ, किन्तु महावीरका चित्त तो किसी अन्य ओर ही लगा हुआ था। उस समय यज्ञादिकका बहुत जोर था और यज्ञोंमें पशु-बलिदान बहुतायतसे होता था। बेचारे ...क पशु धर्मके नामपर बलिदान कर दिये जाते थे और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की व्यवस्था दे दी जाती थी। करुणासागर महावीरके कानोंतक भी उन मूक पशुओंकी चीत्कार पहुँची और राजपुत्र महावीरका हृदय उनकी रक्षाके लिये तडप उठा। धर्मके नामपर किये जानेवाले किसी भी कृत्यका विरोध कितना दुष्कर है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु महावीर तो महावीर ही थे। ३० वर्षकी उम्रमें उन्होंने घर छोडकर वनका मार्ग लिया और भगवान ऋषभदेवकी ही तरह प्रव्रज्या लेकर ध्यानस्थ हो गये।

महावीरके जन्म आदिका वर्णन करनेवाली कुछ प्राचीन गाथाएँ[1] मिलती हैं जिनका भाव इस प्रकार है—

---

१ "सुरमहिदोच्चुदकप्पे भोगं दिव्वाणुभागमणभूदो ।
पुप्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो ॥
बाहत्तरिवासाणि य थोवविहीणाणि लद्धपरमाऊ ।
आसाढजोण्हपक्खे छट्ठीए जोणिमुवयादो ॥
कुण्डपुरपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले ।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे ।

१

'जो देवोके द्वारा पूजा जाता था, जिसने अच्युत कल्प नाम स्वर्गमें दिव्य भोगोको भोगा, ऐसे महावीर जिनेन्द्रका जीव कुछ क बहत्तर वर्षकी आयु पाकर, पुष्पोत्तर नामक विमानसे च्युत होक आसाढ शुक्ला षष्ठीके दिन, कुण्डपुर नगरके स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रिय घर, नायवंशमे, सैकड़ो देवियोसे सेवित त्रिशला देवीके गर्भमें आया और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके रहते हुए महावीरका जन्म हुआ।'

'अट्ठाईस वर्ष सात माह और बारह दिन तक देवोके द्वारा कि गये मानुषिक अनुपम सुखको भोगकर जो आभिनिबोधिक ज्ञान प्रतिबुद्ध हुए, ऐसे देवपूजित महावीर भगवानने षष्ठोपवासके सा मार्गशीर्ष कृष्ण दशमीके दिन जिनदीक्षा ली।'

'बारहवर्ष पाँच माह और पन्द्रह दिन पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था बिताकर (तपस्या करके) रत्नत्रयसे शुद्ध महावीर भगवानने जृम्भि ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके किनारे सिलापट्टके ऊपर षष्ठोपवास साथ आतापन योग करते हुए, अपराह्णकालमे, जब छाया पादप्रमा थी, वैशाख शुक्ला दसमीके दिन क्षपक श्रेणिपर आरोहण किया औ चार घातिया कर्मोका नाश करके केवल ज्ञान प्राप्त किया।'

तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु ॥
मणुवत्तणसुहमतुल देवकय सेविऊण वासाइं।
अट्ठावीस सत्त य मासे दिवसे य बारसम॥
आभिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुलाए।
दसमीए णिक्खतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो॥
गमइय छदुमत्थत्त बारसवासाणि पचमासे य।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरदणसुद्धो महावीरो॥
उजुकूलणदीतीरे जभियगामे वहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंते अवरण्हे पादछायाए॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवयसेढिमारूढो।
हतूण घाइकम्म केवलणाण समावण्णो॥"

रताको छोड़कर शान्तिसे भगवानका उपदेश सुनते थे। इस तरह भगवान काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, कुरुजांगल, काम्बोज, वाल्हीक, ह्नवु, गान्धार आदि देशोंमें विहार करते हुए अन्तमें पावा[1] नगरी (विहार) में पधारे। और वहाँसे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिमें अर्थात् अमावस्याके प्रातःकालमें सूर्योदयसे पहले मुक्तिलाभ किया। जैसा कि लिखा है—

[2]उनतीस वर्ष, पाँच मास और बीस दिनतक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियों और बारह गणों अर्थात् सभाओंके साथ विहार करनेके पश्चात् भगवान महावीरने पावा नगरमें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीके दिन स्वाति नक्षत्रके रहते हुए, रात्रिके समय शेष अघाति कर्मरूपी रजको छेदकर निर्वाणको प्राप्त किया।'

वर्तमानमें जो वीर निर्वाण सम्वत् जैनोंमें प्रचलित है, उसके अनुसार ५२७ ई० पू० में वीरका निर्वाण हुआ माना जाता है। कुछ प्राचीन[3] जैन-ग्रन्थोंमें शकराजासे ६०५ वर्ष ५ मास पहले वीरके निर्वाण होनेका उल्लेख मिलता है। उससे भी इसी कालकी पुष्टि होती है।

---

१ पूज्यपाद रचित संस्कृत निर्वाणभक्तिमें लिखा है—
पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा ॥२४॥
अर्थ—"पावापुरके बाहर स्थित, और कमलोंसे व्याप्त सरोवरके बीचमें, उन्नत भूमिदेशपर कर्मोंका नाश करके भगवान् महावीरने निर्वाण लाभ किया।'

२ "वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीस दिवसे य।
चउविह अणगारेहि य बारहदिणेहि (गणेहि) विहरित्ता ॥
पच्छा पावाणयरे कत्तियमासस्स किण्हचोद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ ॥ ३ ॥"
—ज० धव० खं०, १, पृ० ८१।

३ 'णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥"
—त्रि० प्र०।

४—भगवान महावीरके पश्चात् जैनधर्मकी स्थिति

भगवान महावीरके सम्बन्धमें जैन और बौद्धसाहित्यसे जो कु ..नकारी प्राप्त होती है, उसपरसे यह स्पष्ट पता चलता है कि महावीर एक महापुरुष थे, और उस समयके पुरुषोपर उनका मान सिक और आध्यात्मिक प्रभाव बडा गहरा था। उनके प्रभाव दीर्घदृष्टि और निस्पृहताका ही यह परिणाम है जो आज भी जैन धर्म अपने जन्मस्थान भारतदेशमें बना हुआ है जब कि बौद्धध शताब्दियो पूर्व यहाँसे लुप्त-सा हो गया था।

भगवान महावीरका अनेक राजघरानोंपर भी गहरा प्रभाव था भगवान महावीर ज्ञातृवंशी थे और उनकी माता लिच्छवि गणतन्त्र प्रधान चेटककी पुत्री थी। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें पूर्वीय भारत लिच्छवि राजवंश महान और शक्तिशाली था। डा० याकोवीने लिखा है कि जब चम्पाके राजा कुणिकने एक बड़ी सेनाके साथ राजा चेटकपर आक्रमण करनेकी तैयारी की तो चेटकने काशी और कौशलके अट्ठारह राजाओको तथा लिच्छवि और मल्लोको बुलाय और उनसे पूछा कि आप लोग कुणिककी माँग पूरा करना चाहते अथवा उससे लडना चाहते है? महावीरका निर्वाण होनेपर इ घटनाकी स्मृतिमें उक्त अट्ठारह राजाओने मिलकर एक महोत्सव मनाया था।"

इससे स्पष्ट है कि उस समयके प्रमुख राजवंश प्रत्यक्ष य परोक्ष रूपसे महावीरसे प्रभावित थे।

इसके सिवाय भगवान महावीरके ग्यारह प्रधान शिष्य थे जिनमे मुख्य गौतम गणधर थे। भगवान महावीरके पश्चात् उन शिष्योमेंसे तीन केवल ज्ञानी हुए—गौतम गणधर, सुधर्मास्वामी और जम्बू स्वामी। तथा इनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए—विष्णु, न मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। अन्तिम श्रुत केवली भद्रबा

गधमे दुर्भिक्ष पड़नेपर एक बड़े जैन संघके साथ दक्षिण देशको चले ये, जिसके कारण तमिल और कर्नाटक प्रदेशमें जैनधर्मका खूब सार हुआ।

अत. भगवान महावीरके पश्चात् जैनधर्मकी स्थितिका परिचय रानेके लिये उसे दो भागोमे बाँट देना अनुचित न होगा—एक त्तर भारतमें जैनधर्मकी स्थिति और दूसरा दक्षिण भारतमें जनधर्म- ी स्थिति।

उत्तर भारतमे जैनधर्म

उत्तर भारतके विभिन्न प्रान्तोमें जैनधर्मकी स्थिति तथा राज- रानोपर उसके प्रभावका परिचय करानेसे पूर्व पूरी स्थितिका विहं- ावलोकन करना अनुचित न होगा।

विभिन्न बौद्ध इतिहासज्ञोके कथनसे पता चलता है कि बुद्ध नर्वाणके पश्चात् प्रथम शतीमें उत्तर भारतके विभिन्न स्थानोमें जैन ोग प्रमुख थे। चीनी यात्री हुएनत्साग ईस्वी सन् की सातवी शतीमे ारत आया था। वह अपने यात्रा विवरणमें नालन्दाके विहारका र्णन करते हुए लिखता है कि एक निर्ग्रन्थ (जैन) साधुने जो ज्योतिष वद्याका जानकार था, नये भवनकी सफलताकी भविष्यवाणी की थी। ससे प्रकट है कि उस समय मगध राज्यमें जैन धर्म फैला हुआ था। ैनधर्मकी उन्नतिका सूचक दूसरा मुख्य प्रमाण अशोककी प्रसिद्ध ोषणा है, जिसमें निर्ग्रन्थोंको दान देनेकी आज्ञा है। जो बतलाती है क अशोकके समयमें जैन-जो पहले निर्ग्रन्थके नामसे ख्यात थे योग्य ाने जाते थे तथा इतने प्रभावशाली थे कि अशोक की राज्यघोषणामें उनका मुख्य रूपसे निर्देश करना आवश्यक समझा गया।

उत्तर भारतमें जैनधर्मकी उन्नतिकी दृष्टिसे कलिंगका नाम उल्लेखनीय है। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दीका प्रसिद्ध खारवेल शिला- ेख कलिंगमें जैनधर्मकी प्रगतिको प्रमाणित करता है। श्री रगा वामी आयंगरके मतानुसार बौद्धधर्मके प्रचारके प्रति अशोकने जो

उत्साह दिखलाया उसके फलस्वरूप जैनधर्मका केन्द्र मगधसे उठकर कलिंग चला गया जहाँ हुएनत्सांगके समयतक जैनधर्म फैला हुआ था।

खारवेल शिलालेखकी तरह ही प्रसिद्ध मथुराके शिलालेख प्रकट करते हैं कि ईसाकी प्रथम शताब्दीसे बहुत पहलेसे मथुरा जैनधर्मका एक मुख्य केन्द्र था।

इस प्रकार भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् लगभग पाँच शताब्दियों तक जैनधर्म उत्तर भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें बड़ी तेजीके साथ उन्नति करता रहा। किन्तु सातवीं शताब्दीके पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ हो गया।

आगे उत्तर भारतके प्रत्येक प्रान्तमें भगवान महावीरके बाद जैनधर्मकी स्थितिका परिचय कराते हुए ऐसे राजवंशों और प्रमुख राजाओंका परिचय कराया जाता है, जिन्होंने जैनधर्मको अपनाया या जिनके साहाय्यसे जैनधर्म फूला और फला। उससे पहले उत्तर भारतके प्रारंभिक इतिहासका विहगावलोकन कराना अनुचित न होगा।

भगवान महावीरके समयमें मगधके सिंहासनपर शिशुनाग वंशी राजा बिम्बसार उपनाम श्रेणिक विराजमान थे। उनका उत्तराधिकारी उनका पुत्र अजात शत्रु (कुणिक) हुआ। अजात शत्रुने अपने नाना चेटकके राज्यपर आक्रमण करके वैशाली तथा लिच्छवि देशोंको मगधके साम्राज्यमें मिला लिया और राजगृहीके स्थानपर वैशालीको राजधानी बनाया। अजात शत्रुके पुत्र उदयनने पाटलीपुत्रको मगधकी राजधानी बनाया। इस वंशके राज्यच्युत होनेपर नन्दवंशका राज्य हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्यने नन्दोंका सिंहासन छीन लिया।

चन्द्रगुप्तके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। और बिन्दुसारके बाद उसका पुत्र अशोक पदासीन हुआ। अशोकके बाद उसके चार उत्तराधिकारी और हुए। अन्तिम मौर्यसम्राट वृहद्रथको उसके सेनापति पुष्यमित्रने मारकर सिंहासनपर कब्जा कर लिया और इस तरह शुंगवंशका राज्य हुआ।

अभी पुष्यमित्र मगधके सिंहासनपर जम भी न पाया था कि उसे दो प्रबल शत्रुओका सामना करना पड़ा—उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्तसे मनीन्द्रने उसके राज्यपर आक्रमण कर दिया और दक्षिणसे कलिंगराज खारवेलने। तीसरी पीढ़ीके वाद शुगवश भी समाप्त हो गया। उसके वाद आन्ध्रोका राज्य हुआ जो दक्षिणी थे। ईसाकी चौथी शताब्दीके प्रारम्भमें आन्ध्रोके एक अधिकारीने ही जिसका नाम या उपाधि गुप्त थी, गुप्तवंशकी नीव डाली। अस्तु, अब प्रकृत विषय पर आइये।

१ बिहारमें जैनधर्म

बिहार तो भगवान महावीरकी जन्मभूमि, तपोभूमि और निर्वाण भूमि होनेके साथ-साथ कार्यभूमि भी रहा है। वहांके राजघरानोसे महावीर भगवानका कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था। फलत उनके समयमे और उनके वाद भी वहां जैनधर्मका अच्छा प्रसार हुआ और कई राजाओ और राजघरानोने उसे अपनाया, जिनमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है—

राजा चेटक

जैनसाहित्यमे वैशालीके राजा चेटककी बडी ख्याति पाई जाती है। इसके कई कारण हे। प्रथम तो यह राजा भगवान महावीरका महान उपासक था, दूसरे भगवान महावीरकी माता देवी त्रिशला राजा चेटककी पुत्री थी। राजा चेटकके आठ कन्याएँ थी और उस समयके प्रमुख राजघरानोमे उनका विवाह हुआ था। सिन्धुसौवीर देशका राजा उदयन, अवन्तीनरेश प्रद्योत, कौशाम्बीका राजा शतानीक, चम्पाका राजा दधिवाहन, और मगधका राजा श्रेणिक (बिबसार) ये सब राजा चेटकके जामाता थे। जैनसाहित्यमे कुणिक और बौद्ध-साहित्यमें अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध मगधसम्राट तथा जैन, बौद्ध और ब्राह्मण सम्प्रदायके कथासाहित्यमें प्रसिद्ध वत्सराज उदयन, ये दोनो चेटक राजाके सगे दौहित्र थे। राजा चेटक भारतके तत्कालीन

गणसत्ताक राज्योमेंसे एक प्रधान राज्यके नायक थे। वे जैन श्रावक थे, उन्होने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि वे जैनके सिवा किसी दूसरेसे अपनी कन्याओका विवाह न करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि उक्त सब राज घराने जैनधर्मको पालते थे। राजा उदयनको तो जैनसाहित्यमे स्पष्ट रूपसे जैनश्रावक बतलाया है। उदयनकी रानीने अपने महलमे एक चैत्यालय बनवा लिया था और उसमे प्रतिदिन जिन भगवानकी पूजा किया करती थी। पहले राजा उदयन तापसधर्मियोका भक्त था पीछे धीरे-धीरे जिन भगवानके ऊपर श्रद्धा करने लगा था।

स्व० डा० याकोबी लिखते है कि चेटक जैनधर्मका महान् आश्रयदाता था। उसके कारण वैशाली जैनधर्मका एक सरक्षणस्थान बना हुआ था। इसीसे बौद्धोंने उसे पाखण्डियोका मठ बतलाया है

राजा श्रेणिक

(ई० पू० ६०१—५५२)

भारतके इतिहासमें बहुत प्रसिद्ध मगधाधिपति राजा बिम्बसार[१] जैनसाहित्यमे श्रेणिकके नामसे अति प्रसिद्ध है। यह राजा पहले बौद्ध भगवानका अनुयायी था। एक बार किसी चित्रकारने उसे एक राजकन्याका चित्र भेट किया। राजा चित्र देखकर मोहित हो गया। चित्रकारसे उसने कन्याके पिताका नाम पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह वैशालीके राजा चेटककी सबसे छोटी पुत्री चेलना है। श्रेणिकने राजा चेटकसे उसे माँगा किन्तु चेटकने यह कहकर अपनी कन्या देनेसे इन्कार कर दिया कि राजा श्रेणिक विधर्मी है और एक विधर्मीको वह अपनी कन्या नही दे सकता। तब श्रेणिकके बडे पुत्र अभयकुमारने कौशलपूर्वक चेलनाका हरण करके उसे अपने पिताको सौंप दिया। दोनो प्रेमपूर्वक रहने लगे। धीरे-धीरे चेलनाके प्रयत्नसे राजा श्रेणिक जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हुआ और भगवान महावीरका अनुयायी हो गया। वह महावीरकी उपदेश-सभाका मुख्य श्रोता था। जैन शास्त्रोके प्रारम्भमे इस बातका उल्लेख रहता है कि राजा श्रेणिकके

पूछनेपर भगवानने ऐसा कहा। श्रेणिकके चेलनाने कुणिक (अजातशत्रु) नामका पुत्र हुआ। जब कुणिक मगधके सिंहासन पर बैठा तो उसने अपने पिता श्रेणिकको कैद करके एक पिंजरेमें बन्द कर दिया। एक दिन कुणिक अपने पुत्रको प्यार कर रहा था। उसकी माता चेलना उसके पास बैठी हुई थी। उसने अपनी माताने कहा—"माँ! जैसा मैं अपने पुत्रको प्यार करता हूँ, क्या कोई अन्य भी अपने पुत्रको वैसा प्यार कर सकता है'। यह सुनकर चेलनाकी आँखोंमें आँसू आ गये। कुणिकने इसका कारण पूछा तो चेलना बोली—पुत्र! तुम्हारे पिता तुम्हें बहुत प्यार करते थे। एक बार जब तुम छोटे थे तो तुम्हारे हाथकी अंगुलीमें बहुत पीडा थी। तुम्हें रात्रिको नींद नहीं आती थी। तब तुम्हारे पिता तुम्हारी रक्त और पीवसे भरी हुई अंगुलीको अपने मुंहमें रखकर सोते थे क्योंकि इससे तुम्हें शान्ति मिलती थी।' यह सुनते ही कुणिकको अपने कार्यपर खेद हुआ और वह पिंजरा तोड़कर पिताको बाहर निकालनेके लिये कुल्हाड़ा लेकर दौड़ा। राजा श्रेणिकने जो इस तरह आते हुए कुणिकको देखा तो समझा कि यह मुझे मारने आ रहा है। अत कुणिकके पहुँचनेके पहले ही पिंजरेमें सिर मारकर मर गया। आजसे ८२ हजार वर्ष बाद जब पुन तीर्थङ्कर होने प्रारम्भ होंगे तो राजा श्रेणिक जैनधर्मका प्रथम तीर्थङ्कर होगा।"

अजातशत्रु

(५५२–५१८ ई० पू०)

यद्यपि बौद्धसाहित्यमें अजातशत्रुके बौद्धधर्म अंगीकार करनेका उल्लेख मिलता है, तथापि खोज करनेसे प्रतीत होता है कि अजातशत्रु जैनधर्मकी तरफ अधिक आकर्षित था।

स्व० डा० याकोबी जैनसूत्रोंकी प्रस्तावनामें लिखते हैं—

'अजातशत्रुने अपने राज्यके प्रारम्भकालमें बौद्धोंकी तरफ कोई सहानुभूति नहीं दिखलाई थी। किन्तु बुद्धके निर्वाणसे ८ वर्ष

पहले वह बुद्धका आश्रयदाता बना था। किन्तु उस समय वह सद्भावनापूर्वक बौद्धधर्मानुयायी बना था, यह तो हम नही मान सकते। कारण यह है कि जो मनुष्य खुली रीतिसे अपने पिताका खूनी था तथा अपने नानाके साथ जिसने लडाई लडी थी वह मनुष्य अध्यात्मज्ञानके लिये बहुत उत्सुक हो यह असंभव है। उसके धर्म-परिवर्तन करनेका क्या उद्देश्य था इसका हम सरलतासे अनुमान कर सकते है। बात यह है कि उसने अपने नाना वैशालीके राजाके साथ युद्ध किया था। यह राजा महावीरका मामा (नाना) था और जैनोका संरक्षक था। इसलिये इसके ऊपर चढाई करनेके कारण अजातशत्रु जैनोकी सहानुभूति खो बैठा। इससे उसने जैनोके प्रति-स्पर्धी बौद्धोके साथ मिलनेका निश्चय किया था।'

आगे डा० याकोवी लिखते हैं—

'अजातशत्रु एक तो वैशालीको जीतनेमे सफल हुआ था, दूसरे उसने नन्दो और मौर्योके साम्राज्यका पाया खडा किया था। इस प्रकार मगध साम्राज्यकी सीमा बढनेसे जैन और बौद्ध दोनों धर्मोके लिये नया क्षेत्र खुल गया था। इससे वे दोनो तुरन्त ही उस क्षेत्रमे फैल गये। जब दूसरे सम्प्रदाय स्थानीय और अ. ।धी महत्त्व प्राप्त करके ही रह गये तब ये दोनो धर्म इतनी बड़ी सफलता प्राप्त करनेमें समर्थ हुए थे। इसका मुख्य कारण अन्य कुछ नही, केवल यह मंगलकारी राजनैतिक संयोग था।'

हमारे मतसे जैनो और बौद्धोकी सफलताका कारण केवल राजनैतिक संयोग नही था, किन्तु फिर भी वह एक प्रबल कारण अवश्य था। अस्तु।

नन्दवंश

(ई० पू० ३०५)

उदायीके बाद मगधके सिंहासनपर नन्दवंशका अधिकार हुआ। महाराज खारवेलके शिलालेखसे पता चलता है कि महाराज नन्दने

अपने राज्यकालमे कलिंग देशपर चढाई की थी। और वह कलिगके राजघरानेसे श्रीऋषभदेवकी प्रतिमा उठाकर ले गये थे। इस घटनाके ३०० वर्ष बाद कलिगाधिपति खारवेलने जब मगधपर चढाई करके उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्रने वह प्रतिमा खारवेलको लौटाकर उसे प्रसन्न कर लिया। एक पूज्य वस्तुका इस प्रकार ३०० वर्ष तक एक राजघरानेमे सुरक्षित रहना इस बातका साक्षी है कि नन्दवशमे उसकी पूजा होती थी। यदि ऐसा न होता और नन्दवश जैनधर्मका विरोधी होता तो उक्त मूर्ति इस प्रकार सुरक्षित नही रहती। मुद्राराक्षस नाटकमें भी यह उल्लेख है कि चाणक्यने नन्द राजाके मंत्री राक्षसको विश्वास देकर फाँसनेके लिये अपने एक चर जीवसिद्धिको क्षपणक बनाकर भेजा था। और क्षपणकका अर्थ कोषग्रन्थोमे नग्न जैन साधु पाया जाता है। अत नन्दका मंत्री राक्षस जैन था और राजा नन्द भी सम्भवत जैन था।

मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त

(ई० पू० ३२०)

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे। इनके समयमे मगधमे १२ वर्षका भयकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय ये अपने पुत्रको राज्य सौंपकर अपने गुरु जैनाचार्य भद्रबाहुके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। और तपस्या करते हुए बारह वर्ष पश्चात् चन्द्र गिरि पर्वतपर मृत्युको प्राप्त हुए थे। इस घटनाके पक्षमे अनेक प्रमाण पाये जाते है। अति प्राचीन जैनग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिमें लिखा है—

"मुकुटधारी राजाओमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् किसी मुकुटधारी राजाने जिनदीक्षा नही ली।'[1]

पहले इतिहासज्ञ इस कथनकी सत्यतामे विश्वास करनेको तैयार नही थे। किन्तु जब मैसूर राज्यमे श्रवणबेलगुल नामक स्थानके चन्द्रगिरि पर्वतपरके लेख प्रकाशमे आये तो इतिहासज्ञोको

१ पृ० १४६।

उसे स्वीकार करना पडा। लेविस राइसने सर्व प्रथम इन शिला लेखोंकी खोजकी और उनका अनुवाद करके विद्वानोके लिये उन्हे सुलभ वना दिया। उनके इस मतका कि चन्द्रगुप्त जैन था और वह दक्षिण आया था, मि० थॉमस जैसे प्रमुख विद्वानोने जोरसे समर्थन किया।[1] 'जैन धर्म अथवा अशोकका पूर्व धर्म' शीर्षक अपने लेखमे वह कहते हैं'—'चन्द्रगुप्त जैन था' इस वातको लेखकोने स्वाभाविक घटनाके रूपमे लिया है और उसे इस रूपमे माना है जैसे वह एक ऐसी सत्य घटना है, जिसके लिये न तो किसी प्रमाण की आवश्यकता है और न प्रदर्शन की। इस घटनाके लेख्य प्रमाण अपेक्षाकृत प्राचीन है और स्पष्ट रूपसे सन्देह रहित है। क्योकि उनकी सूचीमे अशोकका नाम नही है। अशोक अपने दादा चन्द्रगुप्तसे वहुत अधिक शक्तिशाली था और जैन लोग उसके सम्बन्धमे सयुक्तिक ढगसे यह दावा कर सकते थे कि वह जैन धर्मका प्रवल समर्थक था। कही अशोकने अपना धर्म परिवर्तन तो नही कर लिया था। मेगास्थिनीजकी साक्षी भी यही सूचित करती है कि चद्रगुप्तने श्रमणोकी धार्मिक शिक्षाओको स्वीकार किया था और ब्राह्मणोके सिद्धान्तोको वह नही मानता था।" इस प्रकार[2] साधारणतया विद्वान् इस विषयमे एकमत है कि चन्द्रगुप्त जैन था।

चन्द्रगुप्तने राज्य त्याग दिया था और वह श्रवणवेल गोलामे जैन साधु होकर मरा, इस वातका समर्थन स्व० डा० वी० ए० स्मिथने अपने 'भारतका प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थके प्रथम सस्करणमे किया था। चन्द्रगुप्तकी मृत्युका उल्लेख करते हुए मि० स्मिथ कहते है कि—'चन्द्रगुप्त छोटी अवस्थामें ही राजसिंहासन पर बैठ गया था और चूंकि उसने केवल चौबीस वर्ष राज्य किया। अत ५० वर्षकी अवस्थासे पूर्व अवश्य ही उसका मरण हो जाना चाहिये

१ जर्नल आफ दी रायल सिरीज़, लेख ८।

२ स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० २२।

इस प्रकार उसकी मृत्युके समयके विषयमे अनिश्चितताका वाता-वरण है। इतिहासज्ञ हमें यह नही बतलाते कि वह कैसे मरा। यदि वह युद्ध-स्थलमें मरा होता या अपने जीवनके सुदिनोंमें मरा होता तो इस घटनाका उल्लेख होता। लेविस राईसके द्वारा खोज निकाले गये श्रवणवेलगोलाके शिलालेखोको अविश्वसनीय मानना जैनोकी समस्त परम्परा और उल्लेखोको अविश्वसनीय मानना है। और एक इतिहासज्ञके लिये इतनी दूर जाना बहुत अधिक आपत्तिजनक है। ऐसी स्थितिमें लेविस राईसके साथ यदि हम यह विश्वास करें कि चन्द्रगुप्त जैन व्रतोंको धारण करके महान भद्रबाहुके साथ चन्द्रगिरि पर्वत पर चला गया था—तो क्या हम गल्ती पर है?"

अपनी पुस्तकके दूसरे संस्करणमें स्मिथने अपने उक्त मतमे परिवर्तन कर दिया था किन्तु तीसरे संस्करणमें उन्होने अपनी भूल स्वीकार करते हुए लिखा—

'मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनोका यह कथन प्राय मुख्य-मुख्य बातोंमें यथार्थ है और चन्द्रगुप्त सचमुच राज्य त्यागकर जैन मुनि हुए थे।'

स्व० के० पी० जायसवालने लिखा है[1]—

'कोई कारण नही है कि हम जैनियोके इस कथनको कि चन्द्रगुप्त अपने राज्यके अन्तिम दिनोमें जैन हो गया था और पीछे राज्य छोडकर जिन दीक्षा ले मुनिवृत्तिसे मरणको प्राप्त हुआ, न माने। मै पहला ही व्यक्ति यह माननेवाला नही हूं। मि० राईसने, जिन्होने श्रवणवेलगोला-के शिलालेखोका अध्ययन किया है, पूर्ण रूपसे अपनी सम्मति इसी पक्ष-में दी है। और मि० वि० स्मिथ भी अन्तमें इसी मतकी ओर झुके है।'

सम्राट अशोक

(ई० पू० २७७)

सम्राट् अशोक चन्द्रगुप्त मौर्यका पौत्र था। जैन ग्रन्थोमे इसके

१ जर्नल आफ दी विहार उडीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३।

जैन होनेके प्रमाण मिलते है । कुछ विद्वानोका मत[1] है कि अशोक पहले जैनधर्मका उपासक था, पीछे बौद्ध हो गया। इसम एक प्रम यह दिया जाता है कि अशोकके उन लेखोमें जिनमे उसक स्पष्टत बौद्ध होनेके कोई संकेत नही पाये जाते, बल्कि जैन सिद्धान्तोके ह भावोका आधिक्य है, राजाका उपनाम 'देवानापिय पियदसी' प जाता है। 'देवनापिय' विशेषत. जैनग्रन्थोमे ही राजाकी उपाधि पाई जाती है । पर अशोकके २२'वे वर्षकी भावराकी प्रशस्तिमें जिसमे उसके बौद्ध होनेके स्पष्ट प्रमाण है, उसकी पदवी केवल 'पियदसि' पाई जाती है, 'देवाना पिय' नही। इसी बीचमे वह जैनस बौद्ध हुआ होगा। विद्वानोका यह भी मत[2] है कि अशोकने अहिंसाके विषयमे जो नियम प्रचारित किये थे वे बौद्धोकी अपेक्षा जैन ए अधिक मिलते है । जैसे, बहुतसे पक्षियो और चौपायोका, जो वि न भोगमे आते है न खाये जाते है, मारना वर्जित करना, केवल अनर्थ और विहिंसाके लिये जगलोको जलानेका निषेध करना और कुछ खास तिथियो और पर्वोपर जीवहिंसाको बन्द कर देना आदि। प्रो० कर्नलने, जो बौद्धशास्त्रोके बहुत बड़े अधिकारी विद्वान् माने जाते रहे है यह स्वीकार किया है कि अशोककी राज्यनीतिमें बौद्धप्रभा खोजने पर भी नही मिलता। उसकी घोषणाएँ, जो मितव्ययी जीवनसे सम्बद्ध है—बौद्धोकी अपेक्षा जैन विचारोसे अत्यधिक मेल खाती है।

सम्राट सम्प्रति
(ई० पू० २२०)

"सम्प्रति अशोकका पौत्र था। इसे जैनाचार्य सुहस्तीने उज्जैनमे जैनधर्मकी दीक्षा दी थी। उसके बाद सम्प्रतिने 'जैनधर्मके लिये वही

---

१. इन्डियन एंटीक्वेरी, जिल्द ५ में ।

२. 'अरली फेथ ऑफ अशोक।'

३. देखो—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृ० ६१६।

जिनप्रभ सूरिने पाटलिपुत्र कल्पग्रन्थम एक स्थानपर लिखा है—"कुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिप. परमार्हतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमण

ाम किया जो अशोकने बौद्धधर्मके लिए किया। उत्तर पश्चिमके नार्यदेशोंमें भी सम्प्रतिने जैनधर्मके प्रचारक भेजे और वहाँ जैन ावुओके लिये अनेक विहार स्थापित किये। अशोककी तरह उसने ो अनेक इमारतें बनवाई। राजपूतानाकी कई जैन रचनाएँ उसी-समयकी कही जाती है। कुछ विद्वानोका मत है कि जो शिलालेख व अशोकके नामसे प्रसिद्ध है, सम्भवत वे सम्प्रतिने लिखवाये थे।

इस प्रकार महावीर स्वामीसे लेकर चार सौ वर्ष तक जैनधर्मी ाजा श्रेणिक और महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उनकी सन्तानोंके मयमें भारत और उसके बाहर भी जैनधर्मका खूब प्रचार रहा। सके बाद मौर्य साम्राज्यका ह्रास होना प्रारम्भ हुआ और उसके न्तिम सम्राट् बृहद्रथको उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्रने मारकर ाजदण्ड अपने हाथमें ले लिया। इसने श्रमणोपर बड़ा अत्याचार कया। उनके विहार और स्तूप नष्ट कर दिये।

२. उड़ीसा में जैनधर्म

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल

(ई० पू० १७४)

कलिंगमें बहुत प्राचीन कालसे जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। ई० पू० ४२४ के लगभग मगधसम्राट् नन्द कलिंगको जीतकर वहाँसे प्रथम जिनकी मूर्ति मगध ले गया था। सम्राट् सम्प्रतिके समय वहाँ चेदिवं-शका पुन राज्य हुआ, इसी वंशका प्रसिद्ध सम्राट् खारवेल था। कलिंग चक्रवर्ती महाराजा खारवेलको उस युगकी राजनीतिमें सबसे अधिक महत्वका व्यक्ति माना[1] जाता है। इनके हाथीगुम्फामें पाये

वहार सम्प्रति महाराजाऽसौ अभवत्।" इसका भाव यह है कि कुणालका पुत्र महाराज सम्प्रति हुआ, जो भारतके तीन खण्डोका स्वामी था, अर्हन्त भगवानका भक्त-जैन था और जिसने अनार्य देशोंमें भी श्रमणों-जैन मुनियों-का विहार कराया था।

१. देखो—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृ० ७१५।

गये शिलालेखका उल्लेख पहले किया गया है। उस लेखके अनुसार[1] खारवेल जैन था। बल्कि उड़ीसाका सारा राष्ट्र उस समय मुख्यत जैन ही था। स्व० के० पी० जायसवाल लिखते हैं—

'जैनधर्मका प्रवेश उड़ीसामे शिशुनागवशी राजा नन्दवर्धनके समयमे हो गया था। खारवेलके समयसे पूर्व भी उदयगिरि पर्वतपर अर्हन्तोके मन्दिर थे, क्योंकि उनका उल्लेख खारवेलके लेखमे आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेलके समयमे जैनधर्म कई शताब्दियो तक उडीसाका राष्ट्रीय धर्म रह चुका था।'

महाराजा खारवेलने १५ वर्षकी अवस्थामे युवराज पद प्राप्त किया और २४ वर्षकी अवस्थामे इनका महाराज्याभिषेक हुआ। उसके बाद दूसरे ही वर्ष उसने सातकर्णिकी परवाह न करके पश्चिम देशको अपनी सेना भेजी और उस सेनाने मूषिक नगरको परास्त किया। चौथे वर्ष खारवेलने फिर पश्चिमपर चढाई की। रठिकोके भोजक अपने मुकुट और छत्र-श्रृङ्गार छोडकर उसके चरणोपर झुकनेको बाध्य हुए। वाख्त्रीका यवनराजा एक भारी सेना ले मध्यदेशपर चढ आया। खारवेलने आगे बढ़कर दिमितको निकाल भगाया। मध्यदेशसे यवनोंको पूरी तरह खदेड़नेका श्रेय खारवेलको ही है। वारहवे वर्षमे उसने पञ्जावपर चढ़ाई की। सातकर्णिके राज्यपर दो चढाइयाँ करने और यवनराज दिमितको मध्यदेशसे निकाल भगानेके बाद खारवेल अपने समयके सब भारतीय राजाओमे प्रमुख माना जाने लगा। अभी तक उसने अपने देश कलिंगके पच्छिमी पडोसी राज्य मूषिक और महाराष्ट्रपर तथा उत्तर पडोसी राज्य मगधपर चढाइयाँ की थी। अब उसने उत्तर और दक्खिनमे दूर दूर तक दिग्विजय करना शुरू किया। उसकी शक्ति भारतके अन्तिम छोरो तक पहुँच गई। बारहवे वर्ष उसने उत्तरापथके राजाओको त्रस्त किया। मगधपर चढ़ाई करके मगधके राजा पुष्यमित्रको पैरो गिर-

१ ज० वि० उ० रि० सो० जिल्द ३, पृ० ४४८।

ाया। राजा नन्दकी ल गइ हुई कलिंग जिनमूर्तिको स्थापित किया।
स महाविजयके बाद, जब कि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथके
वन सब दब गये, खारवेलने जैनधर्मका महा अनुष्ठान किया।
न्होंने भारतवर्ष भरके जैन यतियो, जैन तपस्वियो, जैन ऋषियों
ौर पडितोको बुलाकर एक धर्म-सम्मेलन किया। जैनसंघने खारवेलको
महाविजयों की पदवीके साथ 'खेमराजा', 'भिखुराजा' और धर्म-
ाजाकी पदवी दी। इसके समयमे जैनधर्मका वड़ा उत्कर्ष हुआ।

इस शिलालेखमें सं० १६५ दिया है, जिसे स्व० जायसवालने
ौर्य सम्वत् सिद्ध किया है, जो कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्या-
ोहणकाल (ई० पू० ३२१) से चला होगा। एक स्वतंत्र राजाने
ूसरे राजाके चलाये हुए सम्वत्का उपयोग क्यो किया ? इसके उत्तरमें
ायसवालजीका कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्यका जैन होना जैनग्रन्थों
न शिलालेखोंसे सिद्ध है। अत एक जैन राजाके चलाये हुए सम्वत्का
दूसरा जैन राजा उपयोग करे तो इसमे आश्चर्य क्या है ?

इस प्रकार बिहार व उडीसामें महावीरके पश्चात् भी जैनधर्म-
का खूब उत्कर्ष हुआ। ईस्वी ३०८ में पाटलीपुत्र नगरके पास एक
गाँवके छोटेसे राजा चन्द्रगुप्तको लिच्छविवंशकी कन्या कुमारदेवी
व्याही थी। यह लिच्छविवंश वैशालीके राजा उसी चेटकका वंश है
जिनकी कन्याओसे महावीर स्वामीके पिता राजा सिद्धार्थ और मगध-
के राजा श्रेणिक वगैरहका विवाह हुआ था। चन्द्रगुप्तने एसे महान
वंशकी कन्यासे विवाह होनेको अपना बहुत भारी गौरव माना।
वास्तवमें इस सम्बन्धके प्रतापसे ही वह महाराज हो गया। उसने
अपने सिक्कोपर लिच्छवियोंकी बेटीके नामसे अपनी स्त्रीकी भी मूर्ति
बनवाई। उसकी सन्तान बड़े गर्वसे अपनेको लिच्छवियोका दौहित्र
कहा करती थी। किन्तु चन्द्रगुप्तने एक बौद्ध साधुके उपदेशसे बौद्ध-
धर्म ग्रहण कर लिया, और उसके पुत्र समुद्रगुप्तने ब्राह्मणधर्म स्वीकार
कर लिया। फिर भी ई० सं० ६२९ में आये चीनी यात्री हुएनत्सांगने

वैशाली, राजगृह, नालंदा और पुण्डवर्द्धनमे अनेक निर्ग्रन्थ साधुओंक देखा था। वह कलिंग देशको जैनोका मुख्य स्थान कहता है। इस स्पष्ट है कि खारवेलके बाद भी इतने सुदीर्घ कालतक जैनधर्म कलिंग बना रहा। सम्राट् खारवेलके बाद ऐसा प्रतापशाली जैन राज अन्य नही हुआ। यद्यपि जैनधर्म प्राय सभी राजवशोके समयमे फला फूला, और अनेक अन्य राजाओने इसे साहाय्य भी दिया, किन्तु जिन हम पूरी तरहसे जैन कह सकें ऐसे राजा कम ही हुए।

३. बङ्गालमें जैनधर्म

किन्ही विद्वानोकी दृष्टिसे जैनधर्मका आदि और पवित्र स्था मगध और पश्चिम बंगाल समझा जाता है। एक समय बगाल बौद्धधर्मकी अपेक्षा जैनधर्मका विशेष प्रचार बतलाया जाता है वहाँके मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और वर्दवान जिलोका नामकरण भगवान महावीर और उनके वर्धमान नामके आधारपर ही हुआ है। जब क्रमश जैनधर्म लुप्त हो गया तो बौद्ध धर्मने उसका स्थान ग्रहण किया बंगालके पश्चिमी हिस्सेमे जो सराक जाती पाई जाती है वह जै श्रावकोंकी पूर्वस्मृति कराती है। अब भी बहुतसे जैनमन्दिरोंक ध्वंसावशेष, जैनमूर्तियाँ, शिलालेख वगैरह जैन स्मृतिचिह्न बगालक भिन्न-भिन्न भागोमें पाये जाते हैं। श्रीयुत के० डी० मित्राकी खोजक फलस्वरूप सुन्दरवनके एक भागसे ही दस जैनमूर्तियाँ प्राप्त हुई है। बाँकुरा और वीरभूम जिलोमे अभी भी प्राय जैन प्रतिमाओके मिलने का समाचार पाया जाता है। श्री राखलदास बनर्जीने इस क्षेत्रको तत्कालीन जैनियोका एक प्रधान केन्द्र बताया था। सन् १९४० मे पूर्व बंगालके फरीदपुर जिलेके एक गाँवमे एक जैनमूर्ति निकली थी जो फीट ३ इचकी है। बंगालके कुछ हिस्सोंमें विराट जैनमूर्तियाँ भैरव नामसे पूजी जाती है। बाँकुडा, मानभूम वगैरह स्थानोंमें जो देहातोमे आजकल भी जैनमन्दिरोके ध्वसावशेष पाये जाते हैं मानभूममें पंचकोटके राजाके अधीनस्थ अनेक गाँवोमें विशाल जैन

[मू]र्तियोकी पूजा हिन्दू पुरोहित या ब्राह्मण करते है। वे भैरवके नामसे [पु]कारी जाती है, और नीच या शूद्र जातिके लोग वहाँ पशुबलि भी [क]रते है। इन सब मूर्तियोके नीचे अब भी जैनलेख मिल जाते है। [इ]स प्रकारकी एक लेखयुक्त मूर्ति स्व० राखलदास बनर्जी पंचकोटके [म]हाराजाके यहाँसे ले गये थे।

शान्तिनिकेतनके आचार्य क्षितिमोहनसेन[1] लिखते है—

'परीक्षा करनेसे बंगालके धर्ममें, आचारमें और व्रतमे जैनधर्मका [प्र]भाव दृष्टिगोचर होता है। जैनोके अनेक शब्द बंगालमें प्रचलित [है]। प्राचीन बंगाली लिपिके बहुतसे शब्द विशेष तौरसे युक्ताक्षर [दे]वनागरीके साथ नही मिलते, परन्तु प्राचीन जैनलिपिमे मेल खाते है।'

४ गुजरातमें जैनधर्म

गुजरातके साथ जैनधर्मका सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। २२ वें [ती]र्थङ्कर श्रीनेमिनाथने यहींके गिरनार पर्वत पर जिनदीक्षा लेकर [मु]क्तिलाभ किया था। यहाँकी ही वल्भी नगरीमें वीर निर्वाण [स]म्वत् ९९३ मे एकत्र हुए श्वेताम्बर संघने अपने आगमग्रन्थोको [व्य]वस्थित करके उनको लिपिबद्ध किया था। जैसे दक्षिण भारतमे [दि]गम्बर जैनोका प्राबल्य रहा है, लगभग वैसे ही गुजरातमे श्वेता-[म्ब]र जैनोका प्राबल्य रहा है।

गुजरातमे भी अनेक राजवश जैनधर्मावलम्बी हुए है। राष्ट्र-कूटोका राज्य भी गुजरातमें रहा है। गुजरातके संजान स्थानसे प्राप्त एक शिलालेखमें अमोघवर्ष प्रथमकी प्रशंसा की गइ है तथा अमोघवर्षके गुरु श्रीजिनसेनने अपनी जयधवला टीकाकी प्रशस्तिमे

---

१. विश्ववाणीका जैन सस्कृति अंक, पृ० २०४।

२. Architecture of Ahamdabad में लिखा है कि—'यह [मा]लूम नहीं कि जैनधर्म गुजरातमें पैदा हुआ या कहींसे आया, किन्तु जहाँतक [ह]मारा ज्ञान जाता है यह प्रान्त इस धर्मका बहुत उपयोगी घर व मूल्य [स्]थान रहा है।'

अमोघवर्षका उल्लेख 'गुर्जरनरेन्द्र'[1] नामसे किया है। इससे स्पष्ट
कि अमोघवर्षने गुजरातपर भी शासन किया और उसके राज्यमे जैन
धर्म खूब फूला फला।

राष्ट्रकूटोके हाथसे निकलकर गुजरात पश्चिमी चालुक्योके अधि
कारमे चला गया। फिर चावडावंशी वनराजने इसपर
अधिकार कर लिया। इस वनराजका लालनपालन एक जैनसाधुव
देखरेखमे हुआ था। जिसके प्रभावसे यह जैनधर्मी हो गया। ज
इस राजाने अणहिलवाडाकी स्थापना की तब उसमे जैनमन्त्रोका
उपयोग किया गया था तथा इसने एक जैनमन्दिर भी उस नगर
बनवाया था। चावड़ावंशसे निकलकर गुजरात पुन. चालुक्योके अधि
कारमे चला गया। ये लोग भी जैनधर्म पालते थे। इनके
राजा मूलराजने अणहिलवाड़ामे एक जैनमन्दिरका निर्माण कराया।
भीम प्रथमके समयमे उसके सेनापति विमलने आवू पर्वतपर प्रा
जैनमन्दिर बनवाया जिसे 'विमलवसही' कहते हैं। सिद्धराज जयसिंह
बहुत प्रसिद्ध राजा हुआ है। इसपर जैनाचार्य हेमचन्द्रका बडा प्रभाव
था। इसीके नामपर आचार्यने अपना सिद्धहेम व्याकरण रचा
यद्यपि इसने जैनधर्मको अंगीकार नही किया, किन्तु आचार्यके कहने
सिद्धपुरमें महावीर स्वामीका मन्दिर बनवाया और गिरनार पर्वतकी
यात्रा भी की।

जयसिंहके बाद कुमारपाल गुजरातकी राजगद्दीपर बैठा। इस
पर हेमचन्द्राचार्यका बहुत प्रभाव पडा और इसने धीरे-धीरे जैनधर्म
स्वीकार कर लिया। उसके बाद इस राजाने मांसाहार और
भी त्याग कर दिया, तथा अपने राज्यमे भी पशुहिंसा, मांसाहार और
मद्यपानका निषेध कर दिया। कसाइयोको तीन वर्षकी आय
दे दी गई। ब्राह्मणोंको यज्ञमे पशुके बदले अनाजसे हवन करने
आज्ञा दी। इसने अनेक जैनतीर्थोंकी यात्रा की, अनेक जैनमन्दिरोंक

---

१. देखो—जयधवला १ खं० की प्रस्तावना, पृ० ७४।

र्माण कराया। इसके समयमें आचार्य हेमचन्द्रने अनेक ग्रन्थोंकी चना की।

चालुक्योका अस्त होनेपर १३ वी शताब्दीमे वघेलोका राज्य आ। इनके समयमें वस्तुपाल और तेजपाल नामक जैन मंत्रियोने ाबूके प्रसिद्ध मन्दिर बनवाये तथा शत्रुंजय और गिरनारपर भी नमन्दिर बनवाये। इस प्रकार गुजरातमे भी राजाश्रय मिलनेसे जैन-र्मकी बहुत उन्नति हुई।

इस तरह भगवान महावीरके पश्चात् विहार, उड़ीसा, तथा जरात वगैरहमे लगभग २००० वर्ष तक जैनधर्मका खूब अभ्युदय आ। इस कालमें अनेक प्रभावशाली जैनाचार्योंने अपने उपदेशो और ास्त्रार्थोंके द्वारा जैनधर्मका प्रभाव फैलाया। अकेले एक समन्तभद्रने ही मस्त भारतमे घूम-घूम कर अनेक राजदरबारोको अपनी वक्तृत्व क्ति और प्रखर तार्किक बुद्धिसे प्रभावित किया था। अन्य प्रान्तोमे भी ाये जानेवाले जैन स्मारकोसे जैनधर्मके विस्तारका सबूत मिलता है।

५ राजपूतानेमें जैनधर्म

स्व० ओझाजीने अपने 'राजपूतानेके इतिहासमे लिखा है कि—' अजमेर जिलेके वर्ली नामक गांवमें वीर सम्वत् ८४ (वि० स० ३८६ पूर्व—ई० स० ४४३ पूर्व) का एक शिलालेख मिला है जो जमेरके म्यूजियममे सुरक्षित है। उस परसे यह अनुमान होता है क अशोकसे पहले भी राजपूतानेमे जैनधर्मका प्रसार था। जैन खकोका यह मत है कि राजा सम्प्रतिने, जो अशोकका वंशज था, जैन-र्मकी खूब उन्नति की और राजपूताना तथा उसके आसपासके प्रदेशमे ी उसने अनेक जैनमन्दिर बनवाये। वि० स० की दूसरी शताब्दीमे ले मथुराके कंकाली टीलाके जैन स्तूपसे तथा वहींके कुछ अन्य स्थानोसे प्राप्त प्राचीन शिलालेखो और मूर्तियोसे मालूम होता है कि उस मय राजपूतानेमे भी जैनधर्मका अच्छा प्रचार था।

---

१. प्र० रा० पृ० १०-११।

कलचुरी राजधानी त्रिपुरी और रतनपुर मे अब भी अनेक प्राचीन
न मूर्तियाँ और खण्डहर विद्यमान है।

इस प्रान्तमे जैनोके अनेक तीर्थ है—वैतूल जिलेमे मुक्तागिरि,
ागर जिलेमें दमोहके पास कुण्डलपुर और निमाड जिलेमे सिद्धवर
त्र अपने प्राकृतिक सौन्दर्यके लिये भी प्रसिद्ध है। भेलसाक
मीपका 'वीसनगर' जैनियोका बहुत प्राचीन स्थान है। शीतलनाथ
ीर्थङ्करकी जन्मभूमि होनेसे वह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। जैन-
न्थोमें इसका नाम भद्दलपुर पाया जाता है।

बुन्देलखण्डमे भी अनेक जैनतीर्थ है जिनमे, सोनागिर, देवगढ,
ायनागिर, और द्रोणगिरिका नाम उल्लेखनीय है। खजुराहाके प्रसिद्ध
ैनमन्दिर आज भी दर्शनार्थियोको आकृष्ट करते है। सतरहवी
ताब्दीसे यहाँ जैनधर्मका ह्रास होना आरम्भ हुआ। जहाँ किसी
मय लाखो जैनी थे वहाँ अब जैनधर्मका पता जैन मन्दिरोके खण्डहरों
ौर टूटी फूटी जैन मूर्तियोसे चलता है।

७. उत्तर प्रदेशमें जैनधर्म

उत्तर प्रदेशमे जैनधर्मका केन्द्र होनेकी दृष्टिसे मथुराका नाम उल्लेखनीय है। यहाँके कंकाली टीलेसे जो लेख प्राप्त हुए है वे ई० पू० २री शताब्दीसे लेकर ई० स० ५वी शताब्दी तकके है, और इस तरह ये बहुत प्राचीन है। इनसे पता चलता है कि इतने सुदीर्घ काल तक मथुरा नगरी जैनधर्मका प्रधान केन्द्र थी। जैनधर्मके इतिहासपर इन शिलालेखोसे स्पष्ट प्रकाश पडता है। इनसे पता चलता है कि जैनधर्मके सिद्धान्त और उसकी व्यवस्था अति प्राचीन है। यहाँके प्राचीनतम शिलालेखसे भी यहाँका स्तूप कई शताब्दी पुराना है इसके सम्बन्धमें फुहरर सा० [1]लिखते है—

'यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इस लेखके लिखे जानेके समय स्तूपका आदि वृतान्त लोगोको विस्मृत हो चुका था।'

---

१. म्यूज़ियम रिपोर्ट, १८९०-९१।

असलमे उत्तर प्रदेशमे जैनधर्मका इतिहास अभी तक अन्धकारमे है। इसलिये उत्तर प्रदेशके राजाओंका जैनधर्मके साथ कैसा सम्बन्ध था यह स्पष्ट रूपसे नही कहा जा सकता। फिर भी उत्तर प्रदेशमे सर्वत्र जो जैन पुरातत्त्वकी सामग्री मिलती है उससे यह पता चलता है कि कभी यहाँ भी जैनधर्मका अच्छा अभ्युदय था, और अनेक राजाओने उसे आश्रय दिया था। उदाहरणके लिये हर्षवर्द्धन वडा प्रतापी राजा था। लगभग समस्त उत्तर प्रदेशमें उसका राज्य था। इसने पाँच वर्ष तक प्रयागमे धार्मिक महोत्सव कराया। उसमे उसने जैनधर्मके धार्मिक पुरुषोका भी आदर सत्कार किया था।

जो राजा जैनधर्मका पालन नही करते थे, किन्तु जैनधर्मके मार्गमे वाघा भी नही देते थे, ऐसे धर्मसहिष्णु राजाओके कालमे जैनधर्मकी खूब उन्नति हुई। समग्र उत्तर और मध्य भारतके सभी प्रदेशोमे पाये जानेवाले जैनधर्मके चिह्न इसके साक्षी है। उत्तर प्रदेशके जिन जिलोमे आज नाममात्रको जैनी रह गये है उनमे भी प्राचीन जैन चिह्न पाये जाते है। उदाहरणके लिये गोरखपुर जिलेमे तहसील देवरियामे कुहाऊँ, व खुखुन्दोके नाम उल्लेखनीय है। इलाहावादसे दक्षिण पश्चिम ११ मीलपर देवरिया और भीतामे बहुतसे पुरातन खण्डित स्थान है। कनिंघम सा० का कहना है कि यहाँ जादोवशके उदयन राजा रहते थे, जो जैनधर्म पालते थे। उन्होने श्री महावीर स्वामीकी एक प्रसिद्ध मूर्तिका निर्माण कराया था, जिसे लेनेके लिए उज्जैनके राजा और उदयनसे एक वडा युद्ध हुआ था।

वलरामपुर (अवध) से पश्चिम १२ मीलपर 'सहेठ महेठ' नामका स्थान है। यहाँ खुदाई की गई थी। यह स्थान ही श्रावस्ती नगरी है। इसके सम्बन्धमे डा० फुहररने अपनी रिपोर्टमे लिखा है कि ११ वी शताब्दीमे श्रावस्तीमे जैनधर्मकी बहुत उन्नति थी क्योकि खुदाईमे तीर्थङ्करोकी कई मूर्तियाँ, जिनपर सवत् १११२ से ११३३ तक खुदा है यहाँ प्राप्त हुई है। सुहृद्ध्वज श्रावस्तीके जैन

राजाओंमें अन्तिम राजा था। यह महमूद गजनीके समयमें हुआ था।

बरेली जिलेमें अहिच्छत्र नामका एक जैन तीर्थस्थान है। इस ओर राज्य करनेवाला एक मोरध्वज नामका राजा हो गया है जो जैन बतलाया जाता है। यहाँ किसी समय जैनधर्मकी बहुत उन्नति थी। यहाँ अनेक खेडे हैं जिनसे जैनमूर्तियाँ मिली हैं।

इसी तरह इटावासे उत्तर दक्षिण २७ मीलपर परवा नामका एक स्थान है जहाँ जैनमन्दिरके ध्वंस पाये जाते हैं। डा० फुहररका कहना है कि किसी समय यहाँ जैनियोंका प्रसिद्ध नगर आलभी बसा था। ग्वालियरके किलेमें विशाल जैनमूर्तियोंकी बहुतायत वहाँके प्राचीन राजघरानोंका जैनधर्मसे सम्बन्ध सूचित करती है।

इस प्रकार उत्तर भारतमें जैन राजाओंका उल्लेखनीय पता न चलने पर भी अनेक राजाओंका जैनधर्मसे सहयोग सूचित होता है और पता चलता है कि महावीरके पश्चात् उत्तर भारतमें भी जैनधर्म खूब फूला फला।

८. दक्षिण भारतमें जैनधर्म

उत्तर भारतमें जैनधर्मकी स्थितिका दर्शन करानेके पश्चात् दक्षिण भारतमें आते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें उत्तर भारतमें १२ वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पडनेपर जैनाचार्य भद्रबाहुने अपने विशाल जैनसंघके साथ दक्षिण भारतकी ओर प्रयाण किया था। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें उस समय भी जैनधर्मका अच्छा प्रचार था और भद्रबाहुको पूर्ण विश्वास था कि वहाँ उनके संघको किसी प्रकारका कष्ट न होगा। यदि ऐसा न होता तो वे इतने बडे संघको दक्षिण भारतकी ओर ले जानेका साहस न करते। जैन संघकी इस यात्रासे दक्षिण भारतमें जैनधर्मको और भी अधिक फलने और फूलनेका अवसर मिला।

श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृतिसे सदा उदार रही है, उसमें भाषा और अधिकारका वैसा बन्धन नहीं रहा जैसा वैदिक संस्कृतिमें

पाया जाता है। जैन तीर्थङ्करोने सदा लोकभाषाको अपने उपदेशक माध्यम बनाया। जैनसाधु जैनधर्मके चलतेफिरते प्रचारक होते है वे जनतासे अपनी शरीरयात्राके लिये दिनमे एक बार जो रूखा-सूख किन्तु शुद्ध भोजन लेते है उसका कई गुना मूल्य वे सत्शिक्षा औ सदुपदेशके रूपमे जनताको चुका देते है और शेष समयमें साहित्यक सृजन करके उसे भावी सन्तानके लिये छोड़ जाते है। ऐसे कर्मठ और जनहित-निरत साधुओका समागम जिस देशमें हो उस देशम उनके प्रचारका कुछ प्रभाव न हो यह संभव नही। फलतः उत्तर भारतके जैनसंघकी दक्षिण यात्राने दक्षिण[1] भारतके जीवनमे एक क्रान्ति पैदा कर दी। उसका साहित्य खूब समृद्ध हुआ और वह जैनाचार्योकी खनि तथा जैन संस्कृतिका संरक्षक और संवर्धक बन गया।

जैनधर्मके प्रसारकी दृष्टिसे दक्षिण भारतको दो भागोमे बाँट जा सकता है—तमिल तथा कर्नाटक। तमिल प्रान्तमें चोल और पांड्यनरेशोने जैनधर्मको अच्छा आश्रय दिया। खारवेल शिलालेखसे पता चलता है कि सम्राट् खारवेलके राज्याभिषेकके अवसरपर पांड्यनरेशने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे।

---

१. प्रो० राम स्वामी आयंगर अपनी 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' पुस्तकमें लिखते हैं—'सुशिक्षित जैन साधु छोटे-छोटे समूह बनाकर समस्त दक्षिण भारतमें फैल गये और दक्षिणकी भाषाओमें अपने धार्मिक साहित्यका निर्माण करके उसके द्वारा अपने धार्मिक विचारोंको धीरे-धीरे किन्तु स्थायी रूपसे जनतामें फैलाने लगे। किन्तु यह कल्पना करना कि ये साधु साधारणतया लौकिक कार्योमें उदासीन रहते थे, गलत है। एक सीमातक यह सत्य है कि ये संसारसे सम्बद्ध नही होते थे। किन्तु मेगास्थनीजके विवरणसे हम जानते है कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दीतक राजा लोग अपने दूतोंके द्वारा वनवासी जैन श्रमणोंसे राजकीय मामलोमें स्वतन्त्रतापूर्वक सलाह-मशविरा करते थे। जैन गुरुओने राज्योंकी स्थापना की थी, और वे राज्य शताब्दियो तक जैन धर्मके प्रति सहिष्णु बने रहे किन्तु जैन धर्मग्रन्थोंमें रक्तपातके निषेधपर जो अत्यधिक जोर दिया गया उसके कारण समस्त जैन जाति राजनैतिक अधोगतिको प्राप्त हो गई।" पृ० १०५–१०६

सम्राट् खारवेल जैन था और पांडयनरेश भी जैन थे। पाडचवशने जैनधर्मको न केवल आश्रय ही दिया किन्तु उसके आचार और विचारोको भी अपनाया। इससे उनकी राजधानी मदुरा दक्षिण भारतमें जैनोका प्रमुख स्थान बन गई थी। तमिल ग्रन्थ 'नालिदियर' के सम्बन्धमें कहा जाता है कि उत्तर भारतमे दुष्काल पड़नेपर आठ हजार जैन साधु पांडचदेशमे आये थे। जब वे वहाँसे वापिस जाने लगे तो पाडचनरेशने उन्हे वही रखना चाहा। तब उन्होने एक दिन रात्रिके समय पाडचनरेशकी राजधानीको छोड दिया किन्तु चलते समय प्रत्येक साधुने एक-एक ताड़पत्रपर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया। इन्हीके समुदायसे नालिदियर ग्रन्थ बना। जैनाचार्य पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने पांड्योकी राजधानी मदुरामे एक विशाल जैनसंघकी स्थापना की थी। तमिल साहित्यमे 'कुरल' नामका नीतिग्रन्थ सबसे बढ़कर समझा जाता है। यह तमिलवेद कहलाता है। इसके रचयिता भी एक जैनाचार्य कहे जाते हैं, जिनका एक नाम कुन्दकुन्द भी था। पल्लववशी शिवस्कन्दवर्मा महाराज इनके शिष्य थे। ईसाकी दसवी शताब्दी तक राज्य करनेवाले महाप्रतापी पल्लव राजा भी जैनोंपर कृपादृष्टि रखते थे। इनकी राजधानी काची सभी धर्मोका स्थान थी। चीनी यात्री हुए नत्साग सातवीं शताब्दीमे काची आया था। इसने इस नगरीमे फलते-फूलते हुए जिन धर्मोको देखा उनमे वह जैनोका भी नाम लेता है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय कांची जैनोका मुख्य स्थान था। यहाँ जैन राजवशोने बहुत वर्षोतक राज्य किया। इस तरह तमिल देशके प्रत्येक अगमें जैनोने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सर वाल्टर इलियटके[1] मतानुसार दक्षिणकी कला और कारीगरीपर जैनोका बडा प्रभाव है, परन्तु उससे भी अधिक[2]

१. Coins of Southern India (London 1886)

२ पृ० ३८, ४०, १२६।

प्रभाव तो उनका तमिल साहित्यके ऊपर पडा है। विशप काल्डवेल[1] का कहना है कि जैनोकी उन्नतिका युग ही तमिल साहित्यका महायुग है। जैनोने तमिल, कनडी और दूसरी लोकभाषाओका उपयोग किया इससे जनताके सम्पर्कमे वे अधिक । और जैनधर्मके सिद्धान्तोका भी जन साधारणमे खूब प्रचार हुआ।

एक समय कनडी और तेलगु प्रदेशोसे लेकर उड़ीसा तक जैनधर्मका वडा प्रभाव था। शेषगिरि रावने अपने Andhra karnala Jainism मे जो काव्य-सग्रह किया है उससे पता चलता है कि आजके विजगापट्टम, कृष्ण, नेलोर वगैरह प्रदेशोमे प्राचीन कालमे जैनधर्म फैला हुआ था और उसके मन्दिर वने हुए थे।

किन्तु जैनधर्मका सवसे महत्त्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रान्तके इतिहासमे मिलता है। यह प्रान्त प्राचीनकालसे ही दिगम्बर जैन सम्प्रदायका मुख्य स्थान रहा है। इस प्रान्तमे मौर्य साम्राज्यके बाद आन्ध्रवंशका राज्य हुआ, आन्ध्र राजा भी जैनधर्मके उन्नायक थे। आन्ध्रवशके पश्चात् उत्तर पश्चिममे कदम्वोने और उत्तर पूर्व पल्लवोने राज्य किया। कदम्ववशके अनेक शिलालेख मिले है जिनमेंसे वहुतसे लेखोमे जैनोंको दान देनेका उल्लेख मिलता है। इ राजवंशका धर्म जैन था। सन् १९२२–२३ की एपिग्राफी । वर्णित है कि[2] वनवासीके प्राचीन कदम्व और चालुक्य, जिन्हो पल्लवोके पश्चात् तुलुव देशमे राज्य किया, निस्सन्देह जेन थे। त यह भी वहुत सभव है कि प्राचीन पल्लव भी जैन थे, क्योंकि

---

१. "Comparative Grammar of the Dravidian South Indian family of languages"
तीसरी आवृत्ति (लडन १९१३)

२. "Early kadambas of Banbasi and Chalukyas, wh succeeded pallavas as overlords of Tuluva were un doutedly Jains and it is probable that early pall.. were the same"

संस्कृतमे मत्तविलास नामका एक प्रहसन है जो पल्लवराज महेन्द्रवर्माका बनाया हुआ कहा जाता है। इस ग्रन्थमे उस समयके प्रचलित सम्प्रदायोकी हंसी उड़ाई गई है, जिनमें पाशुपत, कापालिक और एक बौद्ध भिक्षुको हसीका पात्र बनाया गया है। इनमे जैनोको सम्मिलित नही किया गया है। इससे पता चलता है कि जिस समय महेन्द्र वर्माने इस ग्रन्थको रचा उस समय वह जैन था तथा पीछेसे शैव होगया क्योकि शैव-परम्परामें ऐसी ख्याति है कि शैव साधु अप्परने महेन्द्रवर्माको शैव बनाया था। अत. कदम्बोंकी तरह चालुक्य भी जैनधर्मके प्रमुख आश्रयदाता थे। चालुक्योने अनेक जैनमन्दिर बनवाये, उनका जीर्णोद्धार कराया, उन्हे दान दिया और कनडीके प्रसिद्ध जैन कवि आदि पम्प जैसे कवियोंका सन्मान किया।

इसके सिवा इतिहाससे यह भी पता चलता है कि कर्नाटकमें महिलाओंने भी जैनधर्मके प्रचारमें भाग लिया है। इन महिलाओमे जहाँ राजघरानेकी महिलाएँ स्मरणीय हे वहाँ साधारण घरानेकी स्त्रियोकी सेवाएँ भी उल्लेखनीय है।

सबसे प्रथम परमगूलकी पत्नी कंदाच्छिका नाम उल्लेखनीय है। उसने श्रीपुर नामक स्थानके उत्तरी भागमें एक जैनमन्दिर बनवाया था। परमगूलकी प्रार्थनापर गंगनृपति श्रीपुरुषने इस मन्दिरको एक ग्राम तथा कुछ अन्य भू-भाग प्रदान किये थे। इस महिलाका गंग राजपरिवारपर काफी प्रभाव था। दूसरी उल्लेखनीय महिला जक्कियब्वे है। यह सत्तरस नागार्जुनकी पत्नी थी जो नागरखण्डका शासक था। पतिके मरनेपर राजाने उसकी जगह उसकी पत्नीको नियुक्त किया। पत्नीने अपूर्व साहस और वीरताका परिचय दिया और सल्लेखना पूर्वक प्राणोका त्याग किया।

ईसाकी दसवी शतीमें पश्चिमी चालुक्य राजा तैलपका

---

१ 'साउथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', भा० १, पृ० ५८४।
२ स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ४४४।

सेनापति मल्लप्प था। उसकी पुत्री अत्तिमव्वे आदर्श धर्मचारिणी थी। उसने अपने व्ययसे सोने और कीमती पत्थरों की डेढ हजार मूर्तियाँ बनवाई थी। राजेन्द्र कोंगाल्वकी माता पोचव्वरासिने ई० १०५० मे एक वसदि बनवाई थी।

कदम्बराजा कीर्तिदेवकी प्रथम पत्नी माललदेवीका स्थान भी धर्मप्रेमी महिलाओंमें अत्यन्त ऊंचा है। इसने १०७७ ई० मे पद्मनन्दि सिद्धान्तदेवके द्वारा पार्श्वनाथ चैत्यालय बनवाया और ब्राह्मणोंको आमंत्रित करके उन्हीके द्वारा उस जिनालयका नामकरण 'ब्रह्म जिनालय' करवाया।

नागर खण्डके धार्मिक इतिहासमें चट्टल देवीका खास स्थान है। यह सान्तर परिवारकी थी। सान्तर परिवार जैनमतावलम्बी और उसका धर्मप्रेम विख्यात है। इस महिलाने सान्तरोंकी राजधानी पोम्बुच्चपुरमे जिनालयोंका निर्माण कराया और अनेक धर्म सम्बन्धी कार्य किये।

यहाँ दक्षिण भारतके राजनैतिक इतिहासके सम्बन्धमे थोड़ा डालना उचित होगा। गंग राजाओंने मैसूरके एक बहुत बड़े भागपर ईसाकी दूसरी शताब्दीसे लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक राज्य किया। उसके पश्चात् वे चोलोंके द्वारा पराजित हुए। किन्तु चोल लम्बे समय तक राज नही कर सके और शीघ्र ही होयसलोके द्वारा निकाल बाहर किये गये। होयसलोने एक पृथक राजवंश स्थापित किया जो ११वी शतीसे १४वी शती तक कायम रहा।

प्राचीन चालुक्योंने छठी शतीके लगभग अपना राज्य स्थापित किया और प्रबल शासनके पश्चात् दो भागोमे बँट गये—एक पूर्वीय चालुक्य और दूसरा पश्चिमीय चालुक्य। पूर्वीय चालुक्योंने ७५० ई० से ११वी शती तक राज्य किया। उसके पश्चात् उनके राज्य चोलोंके द्वारा मिला लिये गये। पश्चिमीय चालुक्य ७५० ई० के लगभग राष्ट्रकूटोसे पराजित हुए।

राष्ट्रकूटोंने ९७३ ई० तक अपनी स्वतंत्रता कायम रखी। उसके पश्चात् वे पश्चिमीय चालुक्योसे पराजित हुए। चालुक्योंने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया। उसके पश्चात् कालाचूरियोसे वे पराजित हुए। कालाचूरियोंने तीस वर्ष राज्य किया[1]।

अब प्रत्येक राजवंशके समयमें जैनधर्मकी स्थितिका दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. गंगवंश

इस वंशकी स्थापना ईसाकी दूसरी शतीमें जैनाचार्य सिंहनन्दिने की थी। इसका प्रथम राजा माधव था, जिसे कोंगणी वर्मा कहते हैं। मुष्कार अथवा मुखारके समयमे जैनधर्म राजधर्म बन गया था। तीसरे और चौथे राजाओंको छोड़कर उसके शेष पूर्वज निश्चयसे जैनधर्मके सहायक थे। माधवका उत्तराधिकारी अवनीत जैन था। अवनीतका उत्तराधिकारी दुर्विनीत प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपादका शिष्य था।

ईसाकी चौथीसे बारहवी शताब्दी तकके अनेक शिलालेखोसे यह बात प्रमाणित है कि गंगवंशके शासकोंने जैनमन्दिरोंका निर्माण किया, जैनप्रतिमाओंकी स्थापना की, जैन तपस्वियोके निमित्त गुफाएँ तैयार कराईं और जैनाचार्योंको दान दिया।

इस वंशके एक राजाका नाम मारसिंह द्वितीय था। इसका शासनकाल चेर, चोल और पाण्डय वंशोपर पूर्ण विजय प्राप्तिके लिये प्रसिद्ध है। यह जैन सिद्धान्तोंका सच्चा अनुयायी था। इसने अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके राजपद त्याग दिया और धारवार प्रान्तके बंकापुर नामक स्थानमें अपने गुरु अजितसेनके सन्मुख समाधिपूर्वक प्राणत्याग किया। एक शिलालेखके आधारपर इसकी मृत्यु तिथि ९७५ ई० निश्चित की गई है।

चामुण्डराय राजा मारसिंह द्वितीयका सुयोग्य मंत्री था। उसके मरनेपर वह उसके पुत्र राजा राचमल्लका मंत्री और सेनापति

१ 'स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म' पृ० १०७।

हुआ। इस मंत्रीके शौर्यके कारण ही मारसिंह अनेक विजय प्राप्त कर सका। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के एक शिलालेखमें इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है, धरमधुरन्धर वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह त्रिभुवनवीर, वैरीकुलकालदण्ड, सत्ययुधिष्ठिर, सुभटचूडामणि आदि उसकी अनेक उपाधियाँ थी, जो उसकी शूरवीरता और धार्मिकताको बतलाती है। चामुण्डरायने ही श्रवणबेलगोला (मैसूर) के विन्ध्यगिरि पर गोमटेशकी विशालकाय मूर्ति स्थापित कराई थी, जो मूर्ति दुनियाकी अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओमें गिनी जाती है। वृद्धावस्थामें चामुण्डरायने अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्योंमे बिताया चामुण्डराय जैनधर्मके उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान् भी थे। उनका कनड़ी भाषाका त्रिषष्ठि-लक्षण महापुराण प्रसिद्ध है। संस्कृतमें भी उनका बनाया हुआ चारित्रसार नामक ग्रन्थ है। चामुण्डरायकी गणना जैनधर्मके महान् उन्नायकोंमें की जाती है। इनके समयमें जैन साहित्यकी भी श्रीवृद्धि हुई थी। सिद्धान्त ग्रन्थोंका सारभूत श्रीगोम्मट्टसार नामक महान् जैन ग्रन्थ इन्हींके निमित्तसे रचा गया था। और उन्हींके गोमट्टराय नामपर इसका नामकरण किया गया था। यह कनडीके प्रसिद्ध कवि रत्नके आश्रयदाता भी थे।

गंगराज परिवारकी महिलाएँ भी अपनी धर्मशीलताके लिये प्रसिद्ध है। एक प्रशस्तिमें गंग महादेवीको 'जिनेन्द्रके चरण कमलों में लुब्ध भ्रमरी' कहा है। यह महिला भुजबल गंग ... मान्धाता भूपकी पत्नी थी। राजा मारसिंहकी छोटी वहिनका ना... सुग्गियब्बरसि था। यह जैन मुनियोंकी बड़ी भक्त थी और उन्हें सदा आहार दान किया करती थी।

जब चोल राजाने ई० स० १००४ में गंगनरेशकी राजधानी तलकादको जीत लिया, तबसे इस वंशका प्रताप मंद हो गया। बादको भी इस वंशके राजाओने राज तो किया, किन्तु फिर वे उठ नहीं सके। इससे जैनधर्मको भी क्षति पहुँची।

२. होयसल वंश

इस वंशकी उन्नतिमे भी एक जैनमुनिका हाथ था। इस वंशका पूर्वज राजा सल था। एक बार यह राजा अपनी कुलदेवीके मन्दिरमे सुदत्तनामके जैन साधुसे विद्या ग्रहण करता था। अचानक वनमेंसे निकलकर एक बाघ सलपर टूट पड़ा। साधुने एक दण्ड सलको देकर कहा—'पोप सल' (मार सल)। सलने बाघको मार डाला। इस घटनाको स्मरण रखनेके लिये उसने अपना नाम 'पोपसल' रखा, पीछेसे यही 'होयसल' हो गया।

गंगवंशकी तरह इस वंशके राजा भी विट्टिदेव तक बराबर जैनधर्मी रहे और उन्होंने जैनधर्मके लिये बहुत कुछ किया। 'दीवान बहादुर कृष्ण स्वामी आयंगरने विष्णु वर्द्धन विट्टिदेवके समयमें मैसूर राज्यकी धार्मिक स्थिति बतलाते हुए लिखा है— 'उस समय मैसूर *प्राय. जैन था। गंग राजा जैनधर्मके अनुयायी थे। किन्तु लगभग* ई० १००० में जैनोंके विरुद्ध वातावरण ने जोर पकड़ा। उस समय चोलोंने मैसूरको जीतनेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप गंगवाड़ी और नोलम्बवाड़ीका एक बड़ा प्रदेश चोलोके अधिकारमें चला गया, और इस तरह मैसूर देशमे चोलोके शैवधर्म और चालुक्योंके जैनधर्मका आमना सामना हो गया। जब विष्णुवर्धनने मैसूरकी राजनीतिमे भाग लिया उस समय मैसूरकी धार्मिक स्थिति अनिश्चित थी। यद्यपि जैनधर्म प्रबल स्थितिमें था फिर भी शैवधर्म और वैष्णव धर्मके भी अनुयायी थे। ई० १११६ के लगभग विट्टिदेवको रामानुजाचार्यने वैष्णव बना लिया और उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रखा।' विष्णुवर्धनकी पहली पत्नी शान्तलदेवी जैन थी। श्रवणवेलगोला तथा अन्य स्थानोंसे प्राप्त शिलालेखोमे उसके धर्मकार्योकी बड़ी प्रशंसा की गई है। शांतल देवीका पिता कट्टर शैव और माता जैन थी। शान्तल देवीके मर जाने पर जब उसके माता पिता भी मर गये तो

---

१. Ancient India. P. 738—739

उनका जामाता अपने धर्मसे च्युत हो गया। किन्तु फिर भी जैनधर्मर[1] उसकी सहानुभूति बनी रही। उसने अपनी विजयके उपलक्षमे हलेबी के जिनालयमे स्थापित जैनमूर्तिका नाम 'विजय पार्श्वनाथ' रक्खा उसके मंत्री गंगराज तो जैनधर्मके एक भारी स्तम्भ थे। उनकी धार्मिकता और दानवीरताका विवरण अनेक शिलालेखोमे मिलता है। इनकी पत्नीका नाम भी जैनधर्मके प्रचार के सम्बन्धमे अति प्रसिद्ध है उसने कई जिनमन्दिरोंका निर्माण कराया था जिनके लिये गंगर उदारतापूर्वक भूमिदान दिया था। विट्टिदेवके पश्चात् नरसिंह प्रथम राजा हुआ। इसके मंत्री हुल्लम्पने जैनधर्मकी बडी उन्नति की।

उसने जैनोके खोये हुए प्रभावको फिरसे स्थापित करनेका प्रयत्न किया। किन्तु होयसल राजाओके द्वारा संरक्षित वैष्णव धर्मकी द्रुत अभ्युन्नति, रामानुज तथा कुछ शैव नेताओका व्यवस्थित और क्रमबद्ध विरोध, और लिंगायतोके भयानक आक्रमणने मैसूर प्रदेशमे जैनधर्मका पतन कर दिया। किन्तु भूल कर भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि वहाँसे जैनधर्मकी जड ही उखड़ गई। किन्तु वैष्णव तथा अन्य वैदिक सम्प्रदायोके क्रमिक अभ्युत्थानके कारण उसका चैतन्य जाता रहा। यों तो जैनधर्मके अनुयायियोंकी तब भी अच्छी संख्या थी किन्तु फिर वे कोई राजनैतिक प्रभाव नही प्राप्त कर सके। बादके मैसूर राजाओने जैनोको कोई कष्ट नही दिया इतना ही नही, किन्तु उनकी सहायता भी की। मुस्लिम शासक हैदर नायक तक ने भी जैन मन्दिरोंको गाँव प्रदान किये थे यद्यपि उसने श्रवणवेलगोला तथा अन्य प्रदेशोंके महोत्सव बन्द कर दिये थे।

३. राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट राजा अपने समयके बडे प्रतापी राजा थे। इनके आश्रयसे जैनधर्मका अच्छा अभ्युत्थान हुआ। इनकी राजधानी पहले नासिकके पासमे थी। पीछे मान्यखेटको इन्होने अपनी राजधानी

१ 'स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनिज्म'।

नाया। इस वंशके जैनधर्मी राजाओमें अमोघवर्ष प्रथमका नाम ल्लेखनीय है। यह राजा दिगम्बर जैनधर्मका बडा प्रेमी था। अपनी न्तिम अवस्थामे इसने राजपाट छोडकर जिन दीक्षा ले ली थी। सके गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन थे। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने पने उत्तरपुराणमें लिखा है कि अमोघवर्ष अपने गुरु जिनसेनके रणकमलों की वन्दना करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था। सने जैन मन्दिरोको दान दिया, तथा इसके समयमे जैन साहित्यकी ी खूब उन्नति हुई। दिगम्वर जैन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी धवला और यधवला नामकी टीकाओका नामकरण इसीके धवल और अतिशय वल नामके ऊपर हुआ समझा जाता है। शाकटायन वैयाकरणने पने शाकटायन नामक जैन व्याकरणपर इसीके नामसे अमोघवृत्ति ामकी टीका बनाई। इसीके समयमें जैनाचार्य महावीरने अपने णितसारसंग्रह नामक ग्रन्थकी रचना की, जिसके प्रारम्भमे अमोघवर्ष- ी महिमाका वर्णन विस्तारसे किया गया है। अमोघवर्षने स्वयं भी श्नोत्तर रत्नमाला' नामकी एक पुस्तिका रची। स्वामी जिनसेनने ी अनेक ग्रन्थ रचे।

अमोघवर्षने जिनसेनके शिष्य गुणभद्रको भी आश्रय दिया। णभद्रने अपने गुरु जिनसेनके अधूरे ग्रन्थ आदिपुराणको पूर्ण किया ौर अन्य भी अनेक ग्रन्थ रचे। अमोघवर्षका पुत्र अकालवर्ष भी नधर्मका प्रेमी था। इसके समयमे गुणभद्रने अपना उत्तरपुराण र्ण किया। इसने भी जैनमन्दिरोको दान दिया और जैन विद्वानो- ा सन्मान किया। जब पश्चिमके चालुक्योंने राष्ट्रकूटोकी सत्ताका न्त कर दिया तो इस वशके अन्तिम राजा इन्द्रने अपने राज्यको पुनः ाप्त करनेका यत्न किया किन्तु उसे सफलता नही मिली। अन्तमें सने जिनदीक्षा धारण करके श्रवणवेलगोलामे समाधिपूर्वक प्राणोका ाग किया। लोकादित्य इनका सामंत और वनवास देशका राजा ा। गुणभद्राचार्यने इसे भी जैनधर्मकी वृद्धि करनेवाला और महान् शस्वी वतलाया है।

४. कालाचुरि राज्यमें जैनोंका विनाश

राष्ट्रकूटोंके पश्चात् राज्यशक्ति पश्चिमीय चालुक्योंके हाथमें आ गई। उनके समयमें जैनधर्मका प्रभाव नष्ट हो गया। यदि देशमें प्रचलित किंवदन्तीपर विश्वास किया जाय तो कहना होगा कि जैन मन्दिरोंमेंसे जैनमूर्तियाँ उठाकर फेंक दी गईं और उनके स्थानपर पौराणिक देवताओंकी मूर्तियाँ स्थापित कर दी गईं[1]।

चालुक्योंका राज्य बहुत थोड़े समय तक ही रहा; क्योंकि उनको कालाचूरियोंने निकाल बाहर किया। यद्यपि कालाचूरियोंका राज्य भी बहुत थोड़े समय तक ही रह सका किन्तु जैनधर्मके विनाशकी दृष्टिसे वह स्मरणीय है।

महान कालाचूरिनरेश विज्जल जैन था। किन्तु उसका समय लिंगायत सम्प्रदायके उद्गम और शिवभक्तिके पुनरुज्जीवन की दृष्टिसे उल्लेखनीय है। विज्जलके अत्याचारी मंत्री बसवके नेतृत्वमें इस सम्प्रदायने जैनोंको बहुत कष्ट दिया।

विज्जलराज चरितके अनुसार बसवने अपने स्वामी जैन राजा विज्जलकी हत्याके लिये क्या क्या नहीं किया। फलतः उसे देशसे निकाल दिया गया। और निराश होकर वह स्वयं एक कुँएमें गिर गया। किन्तु उसके अनुयायिओंने उसके इस प्राणत्यागको 'धर्मपर बलिदान' का रूप दिया। और लिंगायत सम्प्रदायके विषयमें ललित और सरल भाषामे साहित्य तैयार करके देशमें सर्वत्र वितरित किया। तथा जिन लिंगायत नेताओंने कालाचूरि साम्राज्यके अन्दर जैनोंके विनाशमें बहुत बड़ी सहायता की उनके नामोंके चारों ओर अनेक कपोलकल्पित कथाएँ जुट गईं। ऐसी एक कथा जो उस समयके शिलालेखमें अंकित है यहाँ दी जाती है—

शिव और पार्वती एक शैव सन्तके साथ कैलास पर्वतपर विचर रहे थे। इतनेमें नारद आये, उन्होने जैनों और बौद्धोंकी बढ़ती

१ स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० ११२।

हुई शक्तिकी सूचना दी। शिवने वीरभद्रको आज्ञा दी कि तुम संसारमें जाकर मानव योनिमें जन्म लो और इन धर्मोंको नष्ट करो। आज्ञानुसार वीरभद्रने पुरुपोत्तम पट्ट नामके व्यक्तिको स्वप्न दिया कि मैं तुम्हारे घरमें पुत्ररूपमें जन्म लूंगा। स्वप्न सत्य हुआ। बालकका नाम राम रखा गया और शैवके रूपमें उसका लालन पालन हुआ। शिवका भक्त होनेसे उसे एकान्तद रामैया कहते थे। किंवदन्तीके अनुसार यह रामैय्या ही उस देशमें जैनधर्मके विनाशके लिये उत्तरदायी है।

कथामें लिखा है कि एक दिन रामैया शिवकी पूजा करता था। उस समय जैनोंने उसे चैलेंज दिया कि वह अपने देवताका देवत्व सिद्ध करे। रामैयाने चैलेंज स्वीकार कर लिया। यह तय हुआ कि रामैया अपना सिर काटकर फिर जोड दे। यदि वह ऐसा कर सका तो जैनोंने अपने मन्दिर खाली करके उस देशको छोड़ देनेका वचन दिया। रामैयाने सिर काटकर फिर जोड़ लिया और जैनोंसे अपना वादा पूरा करनेके लिये कहा। जैनोंने अस्वीकार कर दिया। यह सुनते ही रामैयाने जैनोंके मन्दिरोंको नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ किया। जैनोंने विज्जलसे जाकर शिकायत की। विज्जल शैवोंपर बहुत क्रुद्ध हुआ। किन्तु रामैयाने विज्जलको अपना चमत्कार दिखाकर शैव बना लिया। विज्जलने जैनोंको आदेश दिया कि वे शैवोंके साथ शान्तिपूर्वक बर्ताव करें।

कल्चुरी राज्यमें जैनोंके विनाशकी साक्षी देनेवाली इस तरहकी कथाएँ और घटनाएँ शैव ग्रन्थोंमें अनेक मिलती हैं।

५. विजयनगर राज्य

इस तरह दक्षिण भारतमें यद्यपि जैनधर्म राजाश्रय विहीन हो गया। फिर भी गुणग्राही राजा लोग जैन गुरुओं, विद्वानों और नेताओंका यथोचित आदर करते थे। ऐसे राजाओंमें विजयनगर साम्राज्यके शासकोंका नाम उल्लेखनीय है। यह राज्य वैदिक

१ स्टडीज इन सा० इ० जैनिज्म, पृ० ११३।

धर्मका पोषक था किन्तु इसके राजा विभिन्न मतवालोंके प्रति उदारताका व्यवहार करते थे। तथा इस राज्यके उच्च पदस्थ कर्मचारियोंमे अधिकाश जैनधर्मावलम्बी थे। इसलिये राजाओंको भी जैनधर्मका विशेष ख्याल रखना पड़ता था।

हरिहर द्वितीयके सेनापति इरुगप्प कट्टर जैनधर्मानुयायी थे। उन्होंने ५६ वर्ष तक विजयनगर राज्यके ऊँचेसे ऊँचे पदोंको योग्यतापूर्वक निवाहा और जैनधर्मकी उन्नतिके लिये बराबर प्रयत्न करते रहे। इरुगप्पके अन्य सहयोगियोंने भी जैनधर्मकी पूरी सहायता की और उसके प्रचारमे काफी योगदान दिया।

विजयनगरकी रानियाँ भी जैनधर्म पालती थी। श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखसे देवराय महाराजकी रानी भीमादेवीका जैन होना प्रकट है।

१३६८ के एक शिलालेखसे पता चलता है कि जैनोंने प्रथमसे प्रार्थना की कि वैष्णव लोग जैनोंके साथ अन्याय करते हैं। राजाने काफी जाँच पडतालके बाद जैनों और वैष्णवोंमे मेल करा दिया तथा यह आज्ञा प्रकाशित की—

"यह जैन दर्शन पहलेकी ही भाँति पञ्च महाशब्द और कलशका अधिकारी है। यदि कोई वैष्णव किसी भी प्रकार जैनियोंको क्षति पहुँचावे तो वैष्णवोंको उसे वैष्णवधर्मकी क्षति समझना चाहिये। वैष्णव लोग जगह-जगह इस बातकी ताकीदके लिये शासन कायम करें। जब तक सूर्य और चन्द्रका अस्तित्व है तब तक वैष्णव लोग जैन दर्शनकी रक्षा करेंगे। वैष्णव और जैन एक ही हैं उन्हे अलग अलग नही समझना चाहिये।...वैष्णवों और जैनोंसे जो कर लिया जाता है उससे श्रवण बेलगोलाके लिये रक्षकोंकी नियुक्ति की जाय और यह नियुक्ति वैष्णवोंके द्वारा हो। तथा उससे जो द्रव्य बचे उससे जिनालयोंकी मरम्मत कराई जाये और उनपर चूना पोता जाये। इस प्रकार वे प्रतिवर्ष धनदान देनेसे न चूकेंगे और यश

तथा सम्मान प्राप्त करेंगे। जो इस आज्ञाका उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही संघद्रोही और सम्प्रदायद्रोही होगा।"

एक दूसरे शिलालेखसे जैनों और वीर शैवोंके विवादका पता चलता है। यह लेख १६३८ ई० का है, यह जैनधर्मकी प्रशंसासे शुरू होता है और शिवकी प्रशंसासे इसका अन्त होता है।

मामला यह था कि किसी वीर शैवने विजयपार्श्व वसदिके खम्भेपर शिवलिंगकी स्थापना कर दी और विजयप्पा नामके एक धनी जैन व्यापारीने उसे नष्ट कर दिया। इससे बड़ा क्षोभ फैला और जैनोंने वीर शैव मतके नेताओंके पास इस मामलेके निपटारेके लिये प्रार्थना की। यह निश्चय किया गया कि जैन लोग पहले विभूति और बेलपत्र शिवलिंगको चढ़ाकर अपना आराधन-पूजन करें। इसके उपलक्षमें वीर शैवोंने जैनियोंके प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित करनेके लिये उक्त निर्णयमें इतना जोड़ दिया—'जो कोई भी जैन-धर्मका विरोध करेगा वह शिवद्रोही समझा जायेगा। वह विभूति रुद्राक्ष तथा काशी और रामेश्वरके शिवलिंगोंका द्रोही समझा जायेगा। शिलालेखके अन्तमें 'जिन शासनकी जय हो' इस आशयका वाक्य लिखा हुआ है।

इस तरह चौदहवीं शतीमें आकर साम्प्रदायिक द्वेष कुछ कम हुआ और जैनधर्मका दक्षिण भारतसे यद्यपि समूल नाश तो नहीं हो सका, फिर भी वह क्षीणप्रभ हो गया।

२. सिद्धान्त

१. जैनधर्म क्या है ?

जैनधर्मके सिद्धान्त जाननेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैनधर्म है क्या ? जैनधर्म शब्द दो शब्दोंके मेलसे बना है—एक शब्द है 'जैन' और दूसरा शब्द है 'धर्म'। जैसे विष्णुको देवता मानने-वाले वैष्णव और शिवको देवता माननेवाले शैव कहलाते है, और उनके धर्मको वैष्णवधर्म या शैवधर्म कहते है। वैसे ही 'जिन' को देवता माननवाले जैन कहलाते है और उनके धर्मको जैनधर्म कहते हैं। साधारणतया 'जैनधर्म' का यही अर्थ समझा जाता है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी है, जो इस अर्थसे कही महत्त्वपूर्ण है। वह अर्थ है—'जिन' के द्वारा कहा गया धर्म। अर्थात् "जिन' ने जिस धर्मका कथन किया है, उपदेश किया है वह धर्म है जैनधर्म। शैवधर्म या वैष्णवधर्ममें यह अर्थ नही घटता, क्योंकि शिव या विष्णुने स्वयं किसी धर्मका उपदेश नही किया। वे तो देवता माने गये है। और बादमे जब बहुदेवतावादके स्थानमे एकेश्वर भावनाका उदय हुआ तो दोनों ईश्वरके रूप कहलाये। पीछेसे श्रीकृष्णको विष्णुका पूर्णावतार मान लिया गया। उनके भक्तोका धर्म तो मूलमें वेदविहित क्रियानुष्ठान ही है। किन्तु 'जिन' ईश्वरीय अवतार नही होते, वे तो स्वयं अपने पौरुषके बलपर अपने कामक्रोधादि विकारोंको जीतकर 'जिन' बनते है। 'जिन' शब्दका अर्थ होता है—जीतनेवाला। जिसने अपने आत्मिक विकारोपर पूरी तरहसे विजय प्राप्त कर ली वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते है वे हम प्राणियोमेसे ही बनते है। प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। जीवात्मा और परमात्मामे इतना ही अन्तर है कि जीवात्मा अशुद्ध होता है, काम-क्रोधादि विकारो और उनके

हम अपना ज्ञान किसी न किसी पुरुषके द्वारा ही दे सकता है, तथा उसका व्याख्यान भी पुरुष ही कर सकता है। किन्तु यदि वह पुरुष अल्पज्ञ हुआ या रागद्वेषी हुआ तो उसके व्याख्यानमे भ्रम भी हो सकता है। अत. उसे भी कमसे कम विशिष्ट ज्ञानी तो मानना ही पडता है। यह सब इसलिये किया गया है कि वे धर्म पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टिसे पुरुषकी आत्माका इतना विकास नही हो सकता। किन्तु जैनधर्म इस तरहके किसी ईश्वरकी सत्तामें विश्वास नही करता। वह जीवात्माका सर्वज्ञ हो सकना स्वीकार करता है। अत जैनधर्म किसी ईश्वर या किसी स्वयंसिद्ध पुस्तकके द्वारा नही कहा गया है। वल्कि मानवके द्वारा, उस मानवके द्वारा जो कभी हम ही जैसा अल्पज्ञ और रागद्वेषी था किन्तु जिसने अपने पौरुषसे प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और रागद्वेषके कारणोंसे अपने आत्माको मुक्त कर लिया और इस तरह वह सर्वज्ञ और वीतरागी होकर जिन वन गया, कहा गया है। अत: 'जिन' हुए उस मानवके अनुभवोंका सार ही जैनधर्म है।

अव हम 'धर्म' शब्दके बारेमे विचार करेंगे। धर्मशब्दके दो अर्थ पाये जाते है—एक, वस्तुके स्वभावको धर्म कहते है जैसे अग्निका जलाना धर्म है, पानीका शीतलता धर्म है, वायुका बहना धर्म है, आत्माका चैतन्य धर्म है। और दूसरा, आचार या चारित्रको धर्म कहते है। इस दूसरे अर्थको कोई इस प्रकार भी कहते है—जिससे अभ्युदय और नि.श्रेयस—मुक्तिकी प्राप्ति हो उसे धर्म कहते है। चूंकि आचार या चारित्रसे इनकी प्राप्ति होती है इसलिये चारित्र ही धर्म है। इस प्रकार धर्म शब्दसे दो अर्थोंका बोध होता है एक वस्तु-स्वभावका और दूसरे चारित्र या आचारका। इनमेंसे स्वभावरूप धर्म तो क्या जड़ और क्या चेतन, सभी पदार्थोंमें पाया जाता है, क्योकि ससारमे ऐसी कोई वस्तु नही, जिसका कोई स्वभाव न हो। किन्तु आचाररूप धर्म केवल चेतन

आत्मामें ही पाया जाता है। इसीलिए धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है। प्रत्येक तत्त्वदर्शी धर्मप्रवर्तकने केवल आचाररूप धर्मका ही उपदेश नही किया किन्तु वस्तु स्वभावरूप धर्मका भी उपदेश दिया है जिसे दर्शन कहा जाता है। इसीसे प्रत्येक धर्म अपना एक दर्शन भी रखता है। दर्शनमें, आत्मा क्या है? परलोक क्या है? विश्व क्या है? ईश्वर क्या है? आदि समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न किया जाता है। और धर्मके द्वारा आत्माको परमात्मा बननेका बतलाया जाता है। यद्यपि दर्शन और धर्म या वस्तु स्वभावरूप और आचाररूप धर्म दोनों जुदे-जुदे विषय है परन्तु इन दोनोका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरणके लिये, जब आचाररूप धर्म आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है, तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और परमात्माका स्वभाव क्या है? दोनोंमें अन्तर क्या है और क्यों है? यह जाने बिना आचारका पालना वैसे ही लाभकारी नहीं हो सकता जैसे सोने के गुण और स्वभावसे अनजान यदि सोनेको शोधनेका प्रयत्न भी करे तो उसका प्रयत्न लाभकारी नहीं हो सकता। तथा यह बात सर्वविदित है कि विचारके अनुसार ही मनुष्यका आचार होता है। उदाहरणके लिये, जो यह मानता है कि आत्मा नहीं है और न परलोक है उसका आचार सदा भोगप्रधान ही रहता है, और जो यह मानता है कि आत्मा है, परलोक है, प्राणी अपने २ शुभाशुभ कर्मके अनुसार फल भोगता है तो उसका आचार उससे बिलकुल विपरीत ही होता है। अत. विचारोंका मनुष्यके आचारपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसीसे दर्शनका प्रभाव धर्मपर बडा गहरा है। है, और एकको समझे बिना दूसरेको नही समझा जा सकता। अत जैनधर्मका भी एक दर्शन है जो जैनदर्शन कहा जाता है। किन्तु वह वस्तु स्वभावरूप धर्ममें ही अन्तर्भूत हो जाता है अत. उसे भी हम धर्मका ही एक अंग समझते है। और इसलिये जैनधर्मसे 'जिन' देवके द्वारा कहा हुआ विचार और आचार दोनों ही लेना चाहिये।

प्रकारान्तरसे भी धर्मके दो भेद किये जाते हैं एक साध्यरूप धर्म और दूसरा साधनरूप धर्म। परमात्मत्व साध्यरूप धर्म है और आचार या चारित्र साधनरूप धर्म है, क्योंकि आचार या चारित्रके द्वारा ही आत्मा परमात्मा बनता है। अत यहाँ दोनो ही प्रकारके धर्मोका निरूपण किया गया है।

२. जैनदर्शनका प्राण

अनेकान्तवाद

ऊपर लिख आये हैं कि जैनविचारका मूल स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। अत. प्रथम उसे समझ लेना आवश्यक है।

जैन दृष्टिसे इस विश्वके मूलभूत तत्त्व दो भागोमें विभाजित है एक जीवतत्त्व और दूसरा अजीव या जड़तत्त्व। अजीव या जडतत्त्व भी पाँच भागो मे विभाजित है—पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस तरह यह ससार इन छै तत्त्वोंसे बना हुआ है। इन छहोको छै द्रव्य कहते है। इन छै द्रव्योके सिवा संसारमें अन्य कुछ भी नही है, जो कुछ है, उस सबका समावेश इन्ही छै द्रव्योंमें हो जाता है। गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि जो अन्य तत्त्व दूसरे दार्शनिकोंने माने है, जैन दृष्टिसे वे सब द्रव्यकी ही अवस्थाएँ है, उससे पृथक् नहीं; क्योंकि जो कुछ सत् है वह सब द्रव्य है। सत् ही द्रव्यका लक्षण है। असत् या अभाव नामका कोई स्वतंत्र तत्त्व जैनदर्शनमे नही है। किन्तु जो सत् है दृष्टिभेदसे वही असत् भी है। न कोई वस्तु केवल सत्स्वरूप ही है और न कोई वस्तु केवल असत्स्वरूप ही है। यदि प्रत्येक वस्तुको केवल सत्स्वरूप ही माना जायेगा तो सब वस्तुओके सर्वथा सत्स्वरूप होनेसे उन वस्तुओके बीचमे जो अन्तर देखनेमे आता है, उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप हो जानेसे सब वस्तुएँ सब रूप हो जायेगी। उदाहरणके लिये—घट (घडा) और पट (कपड़ा) ये दोनों वस्तु है, घट भी वस्तु है और पट भी वस्तु है। किन्तु जब हम किसीसे घट लानेको कहते है तो वह घट ही लाता है, पट नही लाता। और

जब पट लानेको कहते है तो वह पट ही लाता है, घट नही लाता इससे प्रमाणित है कि घट घट ही है पट नही है, और पट पट ही है घट नही है। न घट पट है और न पट घट है, किन्तु है दोनो। परन्तु दोनोंका अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादामे ही सीमित है, उसके बाहर नही है। अत. प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादामे है और उससे बाहर नही है। यदि वस्तुए इस मर्यादाका उल्लघन कर जायें तो फिर घट और पटकी तो बात ही क्या, सभी वस्तुए सब रूप हो जायेंगी और इस तरहसे सकर दोष उपस्थित होगा। अत. प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षासे सत् कही जाती है और पररूपकी अपेक्षासे असत् कही जाती है। इसी दृष्टान्तको गुरु शिष्यके संवादके रूपमें यहाँ दिया जाता है, उससे पाठक और भी अधिक स्पष्ट रूपसे उसे समझ सकेगे।

गु०—एक मनुष्य अपने सेवकको आज्ञा देता है कि 'घट लाओ' तो सेवक तुरन्त घट ले आता है और जब वस्त्र लानेकी आज्ञा देता है तो वह वस्त्र उठा लाता है। यह तुम व्यवहारमे प्रतिदिन देखते हो। किन्तु क्या कभी तुमने इस बातपर विचार किया कि सुननेवाला घट शब्द सुनकर घट ही क्यों लाता है और वस्त्र शब्द सुनकर वस्त्र ही क्यों लाता है ?

शि०—घटको घट कहते है और वस्त्रको वस्त्र कहते है। इसलिये जिस वस्तुका नाम लिया जाता है, सेवक उसे ही ले आता है।

गु०—घटको ही घट क्यों कहते है ? वस्त्रको घट क्यों नही कहते ?

शि०—घटका काम घट ही दे सकता है, वस्त्र नही दे सकता।

गु०—घटका काम घट ही क्यो देता है, वस्त्र क्यो नही देता ?

शि०—यह तो वस्तुका स्वभाव है, इसमें प्रश्नके लिये स्थान नही है।

गु०—क्या तुम्हारे कहनेका यह अभिप्राय है कि जो स्वभाव घटका है वह वस्त्रका नही, और जो वस्त्रका है वह घटका नही ?

शि०—जी हाँ, प्रत्येक वस्तु अपना जुदा स्वभाव रखती है।

गु०—अब तुम यह बतलाओ कि क्या हम घटको असत् भी सकते हैं?

शि०—हाँ, घटके फूट जानेपर असत् कहते ही हैं।

गु०—टूट फूट जाने पर तो प्रत्येक वस्तु असत् कही जाती है। ारा मतलब है कि क्या घटके रहते हुए भी उसे असत् कहा जा ता है?

शि०—नहीं, कभी नही, जो 'है' वह 'नही' कैसे हो सकता है?

गु०—किनारे पर आकर फिर बहना चाहते हो। अभी तुम वयं स्वीकार कर चुके हो कि प्रत्येक वस्तुका स्वभाव जुदा-जुदा ोता है और वह स्वभाव उसी वस्तुमें रहता है दूसरी वस्तुमें नही।

शि०—हाँ, यह तो मै अब भी स्वीकार करता हूँ, क्योंकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो आग पानी हो जायेगी और पानी आग हो जायेगा। कपडा मिट्टी हो जायगा और मिट्टी कपड़ा हो जायेगी। कोई भी वस्तु अपने स्वभावमे स्थिर न रह सकेगी।

गु०—यदि हम तुम्हारी ही बातको इस तरहसे कहे कि प्रत्येक स्तु अपने स्वभावसे है और पर स्वभावसे नही है तो तुम्हे कोई आपत्ति ो नही?

शि०—नही, इसमें किसको आपत्ति हो सकती है।

गु०—अब तुमसे फिर पहला प्रश्न किया जाता है कि क्या मौजूदा घटको असत् कह सकते है?

शि०—(चुप)

गु०—चुप क्यों हो? क्या फिर भ्रममें पड गये हो?

शि०—पर स्वभावकी अपेक्षासे मौजूदा घटको भी असत् कह सकते हैं।

गु०—अब रास्तेपर आये हो। जब हम किसी वस्तुको सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तुके स्वरूपकी

अपेक्षासे ही उसे सत् कहा जाता है। अपनेसे अन्य वस्तुके स्वरूपव् अपेक्षासे संसारकी प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्तका पुत्र संसा भरके मनुष्योंका पुत्र नही है और न देवदत्त ससार भरके पुत्रोंका पित है। क्या इससे हम यह नतीजा नही निकाल सकते कि देवदत्तका पु पुत्र है और नही भी है। इसी तरह देवदत्तका पिता पिता है औ नही भी है। अत. संसारमें जो कुछ है वह किसी अपेक्षासे नहीं है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नही है।

किन्तु जब जैनदर्शन यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है औ असत् भी है तो श्रोता इसे असभव समझता है क्योकि जो सत् है वै असत् कैसे हो सकता है? परन्तु ऊपर वतलाये गये जिन दृष्टिकोणोव लक्ष्य करके जैनदर्शन वस्तुको सत् और असत् कहता है यदि उन दृष्टि कोणोंको भी समझ लिया जाये तो फिर उसे असभव कहनेका साह नहीं हो सकता। किन्तु जिसे समझनेमे बादरायण जैसे सूत्रकारो औ शंकराचार्य जैसे उसके व्याख्याताओंको भी भ्रम हुआ, उसमे यि साधारणजनोको व्यामोह हो तो अचरज ही क्या है।

बादरायणके सूत्र 'नैकस्मिन्नसभवात्' (२-५-३३) की व्याख्य करत हुए स्वामी शकराचार्यने इस सिद्धान्तपर जो सबसे बडा दूष दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है औ नही भी है' ऐसा कहना अनिश्चितताको बतलाता है। अर्थात् इस वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नही रहता। और अनिश्चितता संशयकं जननी है। अत यदि जैन सिद्धान्तके अनुसार वस्तु अनिश्चित है त उसमें नि.संशय प्रवृत्ति नही हो सकती। किन्तु ऊपरके ७८ ९१०।। इस आपत्तिका परिहार स्वय हो जाता है। हम व्यवहारमे भी ४१९५ विरोधी दो धर्म एक ही वस्तुमें पाते है—जैसे भारत स्वदेश भी है ७। विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी। इसमे न कोई ७ ।।२ तता है और न संशय। क्योकि भारतीयोकी दृष्टिसे भारत स्वदेश और विदेशियोंकी दृष्टिसे विदेश है। यदि कोई भारतीय भारतक

देश ही समझता है तो वह भारतको केवल अपने ही दृष्टिकोणसे देखता है, दूसरे भारतीयेतरोंके दृष्टिकोणसे नहीं, और इसलिये उसका भारतदर्शन एकांगी है। पूर्ण दर्शनके लिये सब दृष्टिकोणोंको दृष्टिमें रखना आवश्यक है। अतः शंकराचार्यका यह कथन कि—[1]"एक धर्मीमें परस्परमें विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व धर्मोंका होना असंभव है; क्योंकि सत्त्वधर्मके रहनेपर असत्त्वधर्म नहीं रह सकता और असत्त्व-धर्मके रहनेपर सत्त्वधर्म नहीं रह सकता। अतः आर्हत मत असंगत है" कहाँ तक संगत है यह निष्पक्ष पाठक ही विचार करें।

स्याद्वाद

इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु परस्परमें विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मोंका समूह है तो उस अनेक धर्मात्मक वस्तुका जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दोंके द्वारा उसे कहना कठिन है; क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मोंको एक साथ जान सकता है, किन्तु एक शब्द एक समयमें वस्तुके एक ही धर्मका आंशिक व्याख्यान कर सकता है। इसपर भी शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचन व्यवहार करता है। जैसे, देवदत्तको एक ही समय उसका पिता भी पुकारता है और उसका पुत्र भी पुकारता है। पिता उसे 'पुत्र' कहकर पुकारता है और उसका पुत्र उसे 'पिता' कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही है किन्तु पिता भी है और पुत्र भी है। इसलिये पिताकी दृष्टिसे देवदत्तका पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण है और पुत्रकी दृष्टिसे देवदत्तका पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण है; क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तुमेंसे जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य कहाता है और इतर धर्म गौण। अतः जब वस्तु अनेक धर्मात्मक प्रमाणित हो चुकी और शब्दमें इतनी सामर्थ्य नहीं पाई गई जो उसके पूरे धर्मोंका कथन एक समयमें कर सके। तथा प्रत्येक वक्ता अपनी अपनी

---

१. ब्रह्मसूत्र २-२-३३ का शांकरभाष्य।

दृष्टिसे वचन व्यवहार करता हुआ देखा गया तो वस्तुका स्वर
समझनेमे श्रोताको कोई धोखा न हो, इसलिये स्याद्वादका आविष्का
हुआ।

'स्याद्वाद' सिद्धान्तके अनुसार विवक्षित धर्मसे इतर धर्मा
द्योतक या सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्योके साथ गुप्तरूपसे सम्ब
रहता है। स्यात् शब्दका अभिप्राय 'कथञ्चित्' या 'किसी अपेक्ष
से है। अत संसारमे जो कुछ है वह किसी अपेक्षासे नही भी है। इ
अपेक्षावादका सूचक 'स्यात्' शब्द है, जिसका प्रयोग अनेकान्तवा
लिये आवश्यक है; क्योकि 'स्यात्' शब्दके बिना 'अनेकान्त' का प्र
शन संभव नही है। अत अनेकान्त दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु 'स्यात्
और 'स्यात् असत्' है।

कोई कोई विद्वान् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग 'शायद' के अर्थमे क
है। किन्तु शायद शब्द अनिश्चितताका सूचक है, जब कि स्यात् श
एक निश्चित अपेक्षावादका सूचक है। इस प्रकार अनेकान्तवाद
फलितार्थ स्याद्वाद है, क्योकि स्याद्वादके बिना अनेकान्तवादका प्रका
संभव नही है। अत एक ही वस्तुके सम्बन्धमे उत्पन्न हुए विभि
दृष्टिकोणोंका समन्वय स्याद्वादके द्वारा किया जाता है।

हम ऊपर लिख आये है कि शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन
अत. प्रत्येक वस्तुमें दोनों धर्मोके रहनेपर भी वक्ता अपने अपने दृ
कोणसे उन धर्मोका उल्लेख करते है। जैसे—दो आदमी कुछ खरीद
लिये एक दूकानपर जाते हैं। वहाँ किसी वस्तुको एक अच्छी बतला
है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनोमें बात बढ़ जाती है।
तीसरा आदमी उन्हें समझाता है—'भई क्यो झगडते हो?
वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। तुम्हारे लिये अच्छी है और इ
लिये बुरी है अपनी अपनी दृष्टि ही तो है। ये तीनों व्यक्ति त
प्रकारका वचन व्यवहार करते है। पहला विधि करता है, दूसरा निषे
और तीसरा विधि और निषेध।

वस्तुके उक्त दोनों धर्मोंको यदि कोई एक साथ कहना चाहे तो
ी कह सकता, क्योंकि एक शब्द एक समयमें विधि और निषेधमेंसे
का ही कथन कर सकता है। ऐसी अवस्थामें वस्तु अवाच्य ठहरती
अर्थात् उसे शब्दके द्वारा नहीं कहा जा सकता। उक्त चार वचन
वहारोंको दार्शनिक भाषामें स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् सदसत् और
ात् अवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगीके मूल यही चार भंग हैं। इन्हींके
ोगसे सात भंग होते हैं। अर्थात् चतुर्थ भंग स्यात् अवक्तव्यके साथ
ाश पहले, दूसरे और तीसरे भंगको मिलानेसे पाँचवाँ, छठा और
तवाँ भंग बनता है। किन्तु लोक व्यवहारमें मूल चार तरहके
नोंका ही व्यवहार देखा जाता है।

स्वामी शंकराचार्यने चौथे भंग 'स्यादवक्तव्य' पर भी आपत्ति
है। वे कहते हैं कि—"पदार्थ अवक्तव्य भी नहीं हो सकते। यदि
अवक्तव्य है तो उनका कथन नहीं किया जा सकता है। कथन भी
ा जाय और अवक्तव्य भी कहा जाये ये दोनों बातें परस्परमें
द्ध है"। किन्तु यदि जैन वस्तुको सर्वथा अवक्तव्य कहते तब तो
चार्य शंकरका उक्त दोषदान उचित होता। किन्तु वे तो अपेक्षा
से अवक्तव्य कहते हैं, इसीका सूचन करनेके लिये स्यात् शब्द
क्तव्यके साथ लगाया गया है जो बतलाता है कि वस्तु सर्वथा अव-
व्य नहीं है, किन्तु किसी एक दृष्टिकोणसे अवक्तव्य है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य शंकर स्याद्वादको समझ नहीं सके।
ोलिये स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा ने लिखा है—
"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैनसिद्धान्तका खण्डन पढ़ा है
से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है, जिसे
ान्तके आचार्योंने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अब तक जैनधर्मको
न सका हूँ उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्मको

१ "न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति। अवक्तव्यश्चेन्नोच्येरन्।
न्तो चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्"। —ब्रह्मसू० शां० २-२-३३।

र दिया। उनके पश्चात् आप्तमीमांसापर 'अष्टशती'[1] नामक
ाष्यके रचयिता श्रीअकलंकदेवने शेष तीन भगोंका उपयोग करके
स कमीको पूरा कर दिया। उनके मतसे शंकराचार्यका अनिर्वच-
ीयवाद सदवक्तव्य, बौद्धोंका अन्यापोहवाद असदवक्तव्य और योग-
ा पदार्थवाद सदसदवक्तव्य कोटिमें गर्भित है। इस तरह सातों
गोंका उपयोग हो जाता है।

३. द्रव्य-व्यवस्था

जैनदर्शनके मूलतत्त्व अनेकान्तवाद और उसके फलितार्थ स्याद्वाद
ौर सप्तभंगीवादका परिचय कराकर अब द्रव्यव्यवस्थाको बतलाते हैं।

यद्यपि द्रव्यका लक्षण सत् है तथापि प्रकारान्तरसे गुण और
र्यायोंके समूहको भी द्रव्य कहते हैं। जैसे, जीव एक द्रव्य है, उसमें
ुख ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं और नर नारकी आदि पर्यायें पाई
ाती है। किन्तु द्रव्यसे गुण और पर्यायकी पृथक् सत्ता नहीं है। ऐसा
हीं है कि गुण पृथक् हैं, पर्याय पृथक् है और उनके मेलसे द्रव्य बना
ै। किन्तु अनादिकालसे गुणपर्यायात्मक ही द्रव्य है। साधारण
ीतिसे गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती है। अतः द्रव्यको
ित्य-अनित्य कहा जाता है। जैनदर्शनमें सत्का लक्षण उत्पाद, व्यय
ौर ध्रौव्य माना गया है। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश
ौर स्थिरता पाई जाती है वही सत् है। जैसे, मिट्टीसे घट
नाते समय मिट्टीकी पिण्डरूप पर्याय नष्ट होती है, घट पर्याय
त्पन्न होती है और मिट्टी कायम रहती है। ऐसा नहीं है कि पिण्ड
र्यायका नाश पृथक समयमें होता है और घट पर्यायकी उत्पत्ति
ृथक् समयमें होती है। किन्तु जो समय पहली पर्यायके नाशका है,
ही समय आगेकी पर्यायके उत्पादका है। इस तरह प्रतिसमय पूर्व
र्यायका नाश और आगेकी पर्यायकी उत्पत्तिके होते हुए भी द्रव्य कायम

---

२. अष्टसहस्री पृ० १३८–१४२।

रहता है। अतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक कही जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, और उसमे वह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। जैसे, एक बच्चा कुछ समय बाद युवा हो जाता है और फिर कुछ कालके बाद बूढा हो जाता है। बचपनसे युवापन और युवापनसे बुढापा एकदम नही आ जाता, किन्तु प्रति समय बच्चेमे जो परिवर्तन होता रहता है वही कुछ समय बाद युवापनके रूपमे दृष्टिगोचर होता है। प्रति समय होनेवाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि उसे हम देख सकनेमे असमर्थ है। इस परिवर्तनके होते हुए भी उस बच्चेमे एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण बडा हो जाने पर भी हम उसे पहचान लेते है। यदि ऐसा न मानकर द्रव्यको केवल नित्य ही मान लिया जाये तो उसमे किसी प्रकारका परिवर्तन नही हो सकेगा, और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाये तो आत्माके सर्वथा क्षणिक होनेसे पहले जाने हुएका स्मरण आदि व्यापार नही बन सकेगा। अत. प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य स्वभाववाला है। चूंकि द्रव्यमे गुण ध्रुव होते है और पर्याय उत्पाद विनाशशील होती हैं; अत. गुणपर्यायात्मक कहो या उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक कहो, दोनोंका एक ही अभिप्राय है। द्रव्यके इन दोनों लक्षणोमे वास्तवमें कोई भेद नही है, किन्तु एक लक्षण दूसरे लक्षणका व्यञ्जकमात्र है।

द्रव्यका स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमे कहा है—

'दवियदि गच्छदि ताइ ताइ सब्भावपज्जयाइं ज।
दवियं तं भण्णते अणण्णभूद तु सत्तादो ॥९॥'

अर्थ—'द्रु' धातुसे, जिसका अर्थ जाना है, द्रव्य शब्द बना है अतः जो अपनी उन उन पर्यायोको प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते है वह द्रव्य सत्तासे अभिन्न है।'

इससे यह बतलाया है कि द्रव्य सत्स्वरूप है। और जैसे पर्यायोका प्रवाह सतत् जारी रहता है, एकके पश्चात् दूसरी और दूसरीके

पश्चात् तीसरी पर्याय होती रहती है, वैसे ही द्रव्यका प्रवाह भी सतत् जारी रहता है। अर्थात् द्रव्य अनादि और अनन्त है।

'दव्वं सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त ।
गुणपज्जयासयं वा ज तं भण्णति सव्वण्हू ॥१०॥

अर्थ—'भगवान् जिनेन्द्रदेव द्रव्यका लक्षण सत् कहते है। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त है वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायका आश्रय है वह द्रव्य है।'

द्रव्यके इन तीनो लक्षणोंमेसे एकके कहनेसे शेष दो लक्षण स्वतः ही कहे जाते है, क्योकि जो सत है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तथा गुण और पर्यायसे संयुक्त है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाला है वह सत् है और गुण पर्यायका आश्रय भी है, तथा जो गुण पर्यायवाला है वह सत् है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त भी है।

चूंकि सत् नित्यानित्यात्मक है अत. सत्के कहनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपना प्रकट होता है तथा ध्रुवत्वसे गुणोंके साथ और उत्पाद-व्ययस विनाशशील पर्यायोके साथ एकात्मकता प्रकट होती है। इसी तरह वस्तुको उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप वतलानेसे उसकी नित्यानित्यात्मकता और गुणपर्यायविशिष्टता प्रकट होती है। तथा वस्तुको गुणपर्यायात्मक वतलानेसे गुणोंसे ध्रौव्यका और पर्यायसे उत्पाद विनाशका सूचन होता है और उससे नित्यानित्यात्मक सत् यह प्रतीत होता है। अत. तीनों लक्षण प्रकारान्तरसे द्रव्यका विश्लेषण करते है और वतलाते है कि—

"उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥११॥'

अर्थ—"द्रव्यका न तो उत्पाद होता है और न विनाश, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसीकी पर्यायें उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको करती है।"

इसका यह मतलब है कि द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट

होता है, किन्तु उसकी पर्यायें उत्पन्न होती और नष्ट होती हैं और पर्यायें चूँकि द्रव्यसे अभिन्न हैं अत. द्रव्य भी उत्पाद-व्ययशील है।

जैन दर्शनके इस सिद्धान्तका प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलिने भी अपने महाभाष्यके पशपशाह्निकमें निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—

"द्रव्यं नित्यम्, आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचका. क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्ड पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्त. खदिरांगारसदृशे कुण्डले भवत। आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"

अर्थात्—'द्रव्य नित्य है और आकार यानी पर्याय अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकारसे पिण्डरूप होता है। पिण्डरूपका विनाश करके उससे माला बनाई जाती है। मालाका विनाश करके उससे कड़े बनाये जाते हैं। कड़ोंको तोड़कर उससे स्वस्तिक बनाये जाते हैं। स्वस्तिकोंको गलाकर फिर सुवर्णपिण्ड हो जाता है। उसके अमुक आकारका विनाश करके खदिर अङ्गारके समान दो कुण्डल बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकारके नष्ट होनेपर भी द्रव्य शेष रहता ही है।'

इससे द्रव्यकी नित्यता और पर्यायकी अनित्यता प्रमाणित होती है। जैन दर्शन भी ऐसा ही मानता है और इसीसे वह वस्तुका लक्षण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य करता है। उसके मतसे तत्त्व त्रयात्मक है। आचार्य समन्तभद्रने दो दृष्टान्त देकर इसी बातको प्रमाणित किया है। आप्तमीमासामें वे लिखते हैं—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥५९॥

'एक राजाके एक पुत्र है और एक पुत्री। राजाके पास एक सोनेका घड़ा है। पुत्री उस घटको चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस घटको तोडकर उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्रकी हठ पूरी करनेके लिये घटको तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। घटके

... दुखी होती है, मुकुटके उत्पादसे पुत्र प्रसन्न होता है और चूंकि राजा तो सुवर्णका इच्छुक है जो कि घट टूटकर मुकुट बन जानेपर भी कायम रहता है अत उसे न शोक होता है और न हर्ष। अत. वस्तु त्रयात्मक (तीनरूप) है।'

दूसरा उदाहरण—

'पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्व त्रयात्मकम् ॥६०॥'

'जिसने केवल दूध ही खानेका व्रत लिया है, वह दही नही खाता। जिसने केवल दही खानेका व्रत लिया है वह दूध नही खाता। और जिसने गोरसमात्र न खानेका व्रत लिया है वह न दूध खाता है और न दही, क्योंकि दूध और दही दोनो गोरसकी दो पर्यायें है अत गोरसत्व दोनोमे है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक—उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक है।

मीमांसादर्शनके पारगामी महामति कुमारिल भी वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप मानते है। उन्होने भी उसके समर्थनके लिये स्वामी समन्तभद्रके उक्त दृष्टान्तको ही अपनाया है। वे उसका खुलासा करते हुए लिखते हैं—

'वर्धमानकभंगे च रुचक. क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिन. शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन. ॥२१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥२२॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥२३॥'

—मी० श्लो० वा०।

अर्थात्—'जब सुवर्णके प्यालेको तोड़कर उसकी माला बनाई जाती है तब जिसको प्यालेकी जरूरत है, उसको शोक होता है, जिसे मालाकी आवश्यकता है उसे हर्ष होता है और जिसे सुवर्णकी आवश्यकता है उसे न हर्ष होता है और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक

है। यदि उत्पाद, स्थिति और व्यय न होते तो तीन व्यक्तियोके तीन प्रकारके भाव न होते, क्योकि प्यालेके नाशके विना प्यालेकी आवश्यकतावालेको शोक नही हो सकता, मालाके उत्पादके विना मालाकी आवश्यकतावालेको हर्ष नही हो सकता और सुवर्णकी स्थिरताके बिना सुवर्णके इच्छुकको प्यालेके विनाश और मालाके उत्पादमे माध्यस्थ्य नही रह सकता। अत वस्तु सामान्यसे नित्य है।' (और विशेष अर्थात् पर्यायरूपसे अनित्य है)।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शनमे द्रव्य ही एक तत्त्व है, जो कि ६ प्रकारका है और वह प्रति समय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप है अतएव वह द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। अब प्रत्येक द्रव्यका परिचय कराया जाता है।

४. जीवद्रव्य

जैनाचार्य श्रीकुन्दकुन्दने जीवका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'अरसमरूवमगधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥२–८०॥'
—प्रवच०

'जिसमे न कोई रस है न कोई रूप है और न किसी प्रकारकी गंध है, अतएव जो अव्यक्त है, शब्दरूप भी नही है, किसी भौतिक चिह्नसे भी जिसे नही जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है, उस चैतन्यगुण विशिष्ट द्रव्यको जीव कहते है।'

इसका यह आशय है कि जिसका चेतनागुण है, वह जीव है और वह जीव पुद्गल द्रव्यसे जुदा है, क्योकि पुद्गलद्रव्य रूप, रस गन्ध और स्पर्श गुणवाला तथा साकार होता है, किन्तु जीवद्रव्य ऐसा नही है। अत जीवद्रव्य जडतत्त्वसे जुदा एक वास्तविक पदार्थ है और भी—

'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥'
—पचास्ति०

'यह जीव चैतन्यस्वरूप है, जानने देखनेरूप उपयोगवाला है, भु है, कर्ता है, भोक्ता है और अपने शरीरके बराबर है। तथा द्यपि वह मूर्तिक नही है तथापि कर्मोसे सयुक्त है।'

इस गाथाके द्वारा जीवद्रव्यके सम्बन्धमें जैनदर्शनकी प्राय: सभी ुख्य मान्यताओको बतला दिया है। उनका खुलासा इस प्रकार है—

जीव चेतन है

जीवका असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना जानने ौर देखनेरूप है। अर्थात् जो जानता और देखता है वह जीव है। ाख्य भी चेतनाको पुरुषका स्वरूप मानता है, किन्तु वह उसे ज्ञानरूप ही मानता। उसके मतसे ज्ञान प्रकृतिका धर्म है। वह मानता है के ज्ञानका उदय न तो अकेले पुरुषमें ही होता है और न बुद्धिमें ही होता ै। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य पदार्थोंको बुद्धिके सामने उपस्थित करती ै तो बुद्धि उपस्थित पदार्थके आकारको धारण कर लेती है। इतने र भी जब बुद्धिमें चैतन्यात्मक पुरुषका प्रतिबिम्ब पडता है तभी ानका उदय होता है। परन्तु जैनदर्शनमें बुद्धि और चैतन्यमे कोई भेद ी नही है। उसमे हर्ष, विषाद आदि अनेक पर्यायवाला ज्ञानरूप एक आत्मा ही अनुभवसे सिद्ध है। चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान आदि उसीकी पर्यायें कहलाती है। अत चैतन्य ज्ञानस्वरूप ही है। उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक अन्तर्मुख और दूसरी बहिर्मुख जब वह आत्मस्वरूपको ग्रहण करता है तो उसे दर्शन कहते हैं और जब वह बाह्य पदार्थको ग्रहण करता है तो उसे ज्ञान कहते है। ज्ञान और दर्शनमे मुख्य भेद यह है कि जैसे ज्ञानके द्वारा 'यह घट है, यह पट है इत्यादि रूपसे वस्तुकी व्यवस्था होती है, उस तरह दर्शनके द्वारा नही होती। अत जीव चैतन्यात्मक है, इसका आशय है कि जीव ज्ञानदर्शनात्मक है, ज्ञान दर्शन जीवके गुण या स्वभाव है। कोई जीव उनके बिना रह ही नही सकता। जो जीव है वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान्

है वह जीव है। जैसे आग अपने उष्ण गुणको छोडकर नही रह सकती, वैसे ही जीव भी ज्ञानगुणके विना नही रह सकता। एकेन्द्रिय वृक्ष रहनेवाले जीवसे लेकर मुक्तात्माओं तकमे हीनाधिक ज्ञान पाया जाता है। सबसे कम ज्ञान वनस्पतिकायके जीवोमे पाया जाता है और सबसे अधिक यानी पूर्णज्ञान मुक्तात्मामे पाया जाता है।

जैनेतर दार्शनिकोमे नैयायिक वैशेषिक भी ज्ञानको जीवका गुण मानते है। किन्तु उनके मतानुसार गुण और गुणी ये दोनो दो पृथक् पदार्थ है और उन दोनोंका परस्परमें समवायसम्बन्ध है। अत. उनके मतसे आत्मा ज्ञानस्वरूप नही है, किन्तु उसमें ज्ञानगुण रहता है इसलिये वह ज्ञानवान् कहा जाता है। किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नही है तो वह अज्ञानस्वरूप ठहरता है। और उसके अज्ञानस्वरूप होनेपर आत्मा और जडमें कोई अन्तर नही रहता। इसपर नैयायिकका कहना है कि आत्माके साथ तो ज्ञानका सम्बन्ध होता है किन्तु जड घटादिकके साथ ज्ञानका सम्बन्ध नही होता। इसलिये आत्मा और जडमे अन्तर है। इसपर जैन दार्शनिकोंका कहना है कि जब आत्मा भी ज्ञानस्वरूप नही है और जड भी ज्ञानस्वरूप नही है, फिर भी ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे ही क्यो होता है, जडसे क्यो नही होता? यदि कहा जायेगा कि आत्मा चेतन है इसलिये, उसीके साथ ज्ञानका सम्बन्ध होता है तो इस पर जैन दार्शनिकोका यह कहना है कि नैयायिक आत्माको स्वय चेतन भी नही मानता किन्तु चैतन्यके सम्बन्धसे ही चेतन मानता है। ऐसी स्थितिमे ज्ञानकी ही तरह चेतनके सम्बन्धमें भी वही प्रश्न पैदा होता है कि चैतन्यका सम्बन्ध, आत्माके ही साथ क्यो होता है घटादिकके साथ क्यो नही होता? अत. इस आपत्तिसे बचनेके लिये आत्माको स्वय चेतन और ज्ञानस्वरूप मानना चाहिये। जैसा कि कहा है—

'णाणी णाण च सदा अत्थतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्ह अचेदणत्त पसजदि सम्म जिणावमद ॥४८॥

ण हि सो समवायादो अत्यंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयण एगत्तप्पसाधकं होदि ॥४६॥
—पञ्चास्ति० ।

अर्थात्–'यदि ज्ञानी और ज्ञानको परस्परमें सदा एक दूसरेसे भिन्न पदार्थान्तर माना जायगा तो दोनो अचेतन हो जायेगे। यदि कहा जायेगा कि ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी आत्मा ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होता है तो प्रश्न होता है कि ज्ञानके साथ समवाय सम्बन्ध होनेसे पहले वह आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी था तो उसमे ज्ञानका समवाय मानना व्यर्थ है। यदि अज्ञानी था तो अज्ञानके समवायसे अज्ञानी था या अज्ञानके साथ एकमेक होनेसे अज्ञानी था ? अज्ञानीमे अज्ञानका समवाय मानना तो व्यर्थ ही है। तथा उस समय उसमें ज्ञानका समवाय न होनेसे उसे ज्ञानी भी नही कहा जा सकता। इसलिये अज्ञानके साथ एकमेक होनेसे आत्मा अज्ञानी ही ठहरता है। ऐसी स्थितिमे जैसे अज्ञानके साथ एकमेक होनेसे आत्मा अज्ञानी हुआ वैसे ही ज्ञानके साथ भी आत्माका एकत्व मानना चाहिये।'

साराश यह है जैनदर्शन गुण और गुणीके प्रदेश जुदे नही मानता। जो आत्माके प्रदेश है वे ही प्रदेश ज्ञानादिक गुणोके भी है, इसलिये उनमे प्रदेशभेद नही है। और जुदे वे ही कहलाते है जिनके प्रदेश भी जुदे हों। अत जो जानता है वही ज्ञान है। इसलिये ज्ञानके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञाता नही है, किन्तु ज्ञान ही आत्मा है। जैसा कि कहा है—

णाण अप्प त्ति मद वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाण अप्पा अप्पा णाण व अण्ण वा ॥२७॥
—प्रवच० ।

अर्थात्—'ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है। चूंकि ज्ञान आत्माके विना नही रहता अत ज्ञान आत्मा ही है। किन्तु आत्मामें अनेक गुण पाये जाते है अत आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य गुणरूप भी है।'

जन्य न होनेसे ही आत्माका कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ता है। अत आत्मा कर्ता है।

भोक्ता है

जिस तरह जीव अपने भावोंका कर्ता है उसी तरह उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख दु.खका भोक्ता न हो तो सुख दु खकी अनुभूति ही नही हो सकती और अनुभूति चैतन्यका धर्म है। साख्यका कहना है कि 'पुरुप स्वभावसे भोक्ता नही है किन्तु उसमे भोक्तृत्वका आरोप किया जाता है, क्योकि सुख दु खका अनुभव वुद्धिके द्वारा होता है और वुद्धि अचेतन है। वुद्धिमें सक्रान्त सुख दु खका प्रतिविम्ब शुद्ध स्वभावमें पड़ता है, अत. पुरुषको सुख दु खका भोक्ता मान लिया जाता है।' इस पर जैनोका कहना है कि जैसे स्फटिकमें जपाकुसुमका प्रतिविम्ब पड़नेसे स्फटिक मणिका लाल रूपसे परिणमन मानना पड़ता है वैसे ही पुरुषमें सुख दु खका प्रतिविम्ब माननेसे पुरुषमें सुख दु ख-रूप परिणाम मानना ही पडता है। उसके विना सुख दु खकी अनुभूति नही हो सकती।

अपने शरीरप्रमाण है

जैन दर्शनमें जीवको शरीरप्रमाण माना गया है। जैसे दीपक छोटे या वड़े जिस स्थानमे रखा जाता है, उसका प्रकाश उसके अनुसार ही या तो सकुच जाता है या फैल जाता है, वैसे ही आत्मा भी प्राप्त हुए छोटे या वडे शरीरके आकारका हो जाता है। किन्तु न तो सकोच होने पर आत्माके प्रदेशोकी हानि होती है और न विस्तार होनेपर नये प्रदेशोकी वृद्धि होती है। प्रत्येक दशामे आत्मा असंख्यातप्रदेशीका असंख्यातप्रदेशी ही रहता है।

आत्माको शरीरप्रमाण माननमें यह आपत्ति की जाती है कि यदि आत्मा शरीरके प्रत्येक प्रदेशमें प्रवेश करता है तो शरीरकी तरह आत्माको भी सावयव मानना पडता है और सावयव माननेसे आत्माका विनाश प्राप्त होता है, क्योकि जैसे घट सावयव है जव उसके अवयवोका संयोग नष्ट होता है तो घट भी नष्ट हो जाता है, उसी तरह आत्माको

सावयव माननेसे उसका भी नाश हो सकता है। इस आपत्तिका उत्तर जैनदर्शन देता है कि जैन दृष्टिसे आत्मा कथंचित् सावयव भी है, किन्तु उसके अवयव घटके अवयवोंकी तरह कारणपूर्वक नही है। अर्थात् घट एक द्रव्य नही है किन्तु अनेक द्रव्य है, क्योकि अनेक परमाणुओंके समूहसे घट बना है और प्रत्येक परमाणु एक एक द्रव्य है। अत. घटके अवयव उसके कारणभूत परमाणुओंसे उत्पन्न हुए है। किन्तु आत्मामें यह बात नही है आत्मा एक अखण्ड और अविनाशी द्रव्य है। वह अनेक द्रव्योके संयोगसे नही बना है। अत घटकी तरह उसके विनाशका प्रसङ्ग उपस्थित नही होता। जैसे आकाश एक सर्वव्यापक अमूर्तिक द्रव्य है, किन्तु उसे भी जैन दर्शनमे अनन्त प्रदेशी माना गया है, क्योकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो मथुरा, काशी और कलकत्ता एक प्रदेशवर्ती हो जायेंगे। चूंकि ये भिन्न-भिन्न प्रदेशवर्ती है अत सिद्ध है कि आकाश बहुप्रदेशी भी है। बहुप्रदेशी होनेपर भी न तो आकाशका विनाश ही होता है और न वह अनित्य ही है, उसी तरह आत्माको भी जानना चाहिये।

दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि यदि आत्मा शरीर-प्रमाण है तो बालकके शरीरप्रमाणसे युवा शरीररूप वह कैसे बदल जाता है? यदि बालकके शरीरप्रमाणको छोड़कर वह युवाके शरीरप्रमाण होता है तो शरीरकी तरह आत्मा भी अनित्य ठहरता है। यदि बालकके शरीरप्रमाणको छोड़े बिना आत्मा युवा शरीररूप होता है तो यह संभव नही है, क्योकि एक परिमाणको छोड़े बिना दूसरा परिमाण नही हो सकता। इसके सिवा यदि जीव शरीरपरिमाण है तो शरीरके एकाध अंशके कट जानेपर आत्माके भी अमुक भागकी हानि माननी पड़ती है। इसका उत्तर यह है कि आत्मा बालकके शरीरपरिमाणको छोड़कर ही युवा शरीरके परिमाणको धारण करता है। जैसे सर्प अपने फण वगैरहको फैलाकर बडा कर लेता है वैसे ही आत्मा भी संकोच-विस्तार गुणके कारण भिन्न-भिन्न समयमे भिन्न-भिन्न आकारवाला हो जाता

। इस अपेक्षासे आत्माको अनित्य भी कहा जा सकता है। किन्तु व्यदृष्टिसे तो आत्मा नित्य ही है। शरीरके खण्डित हो जानेपर । आत्मा खण्डित नहीं होता किन्तु शरीरके खण्डित हुए भागमे आत्मा- प्रदेश विस्ताररूप हो जाते हैं। यदि खण्डित हुए भागमें आत्माके देश न माने जायँ तो शरीरसे कटकर अलग हुए भागमे जो कंपन खा जाता है उसका कोई दूसरा कारण दृष्टिगोचर नही होता, योंकि उस भागमे दूसरी आत्मा तो नहीं हो सकता, और विना आत्माके परिस्पन्द नही हो सकता, क्योकि कुछ देरके बाद, जब आत्म- देश सकुच जाते है तो कटे भागमें क्रिया नही रहती। अत. शरीरके दो भाग हो जानेपर भी आत्माके दो भाग नही होते। अत. आत्मा शरीर परिमाणवाला है, क्योकि मै सुखी हूँ, इत्यादि रूपसे शरीरमें ही आत्माका ग्रहण होता है।

इस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाणवाला सिद्ध करके जैन- दार्शनिक आत्माके व्यापकत्वका खण्डन करते हैं। वे कहते है कि यदि आत्मा व्यापक है तो उसमें क्रिया नही हो सकती और क्रियाके विना वह पुण्य-पापका कर्ता नही हो सकता। तथा कर्तृत्वके विना बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नही बनती।

कर्मोसे संयुक्त है

जैनदर्शन प्रत्येक संसारी आत्माको कर्मोंसे बद्ध मानता है। यह कर्मबन्धन उसके किसी अमुक समयमें नही हुआ, किन्तु अनादिसे है। जैसे, खानसे सोना सुमैल ही निकलता है वैसे ही संसारी आत्माएँ भी अनादिकालसे कर्मबन्धनमे जकड़े हुए ही पाये जाते हैं। यदि आत्माएँ अनादिकालसे शुद्ध ही हो तो फिर उनके कर्मबन्धन नही हो सकता, क्योकि कर्मबन्धनके लिये आन्तरिक अशुद्धिका होना आवश्यक है। उसके विना भी यदि कर्मबन्धन होने लगे तो मुक्त आत्माओंके भी कर्मबन्धनका प्रसंग उपस्थित हो सकता है और ऐसी अवस्थामें मुक्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ हो जायेगा।

इस प्रकार जैन दृष्टिसे जीव जानने देखनेवाला, अमूर्तिक, कर्ता भोक्ता, शरीर परिमाणवाला और अपने उत्थान और पतनके लि स्वयं उत्तरदायी है।

जीवके भेद

उस जीवके मूल भेद दो है—ससारी जीव और मुक्त जीव कर्मबन्धनसे बद्ध जो जीव एक गतिसे दूसरी गतिमे जन्म लेते औ मरते है वे ससारी है और जो उससे छूट चुके है वे मुक्त है। मुक्त जीवोमे तो कोई भेद होता ही नही, सभी समान गुणधर्मवाले होते है। किन्तु संसारी जीवोमे अनेक भेद प्रभेद पाये जाते है। ससारी जीव चार प्रकारके होते है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इस पृथिवीके नीचे सात नरक है, उनमे जो जीव निवास करते है वे नारकी है। ऊपर स्वर्गोमे जो निवास करते है वे देव कहाते है हम आप सब मनुष्य है और पशु, पक्षी, कीड़े, मकोडे, वृक्ष आदि शेष सब तिर्यञ्च कहे जाते है। नारकी, देव और मनुष्योके तो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती है, किन्तु तिर्यञ्चोमें ऐसा नही है। पृथ्वीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उसीके द्वारा वे जानते है। इन जीवोंको स्थावर कहते है। जैनधर्मके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी कीडे, मकोड़े आदिके सिवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति भी जीव है। मिट्टीमे कीड़े आदि जीव तो है ही, किन्तु मिट्टी पहा आदि स्वयं पृथ्वीकायिक जीवोके शरीरका पिण्ड है। इसी तरह जलमे यंत्रोंके द्वारा दिखाई देनेवाले अनेक जीवोके अतिरिक्त जल स्वय जलकायिक जीवोके शरीरका पिण्ड है। यही वात अग्निका आदिके विषयमें भी जाननी चाहिये। लट आदि जीवोके स्पर्शन औ रसना ये दो इन्द्रियाँ होती है। चीटी वगैरहके स्पर्शन, रसना औ घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती है। भौरे आदिके स्पर्शन, रसना, घ्रा और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती है और सर्प, नेवला, पशु, पक्षी आदिक

पाँचों इन्द्रियाँ होती है। इन इन्द्रियोके द्वारा वे जीव अपने अपने योग्य स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दका ज्ञान करते है। जैन शास्त्रोमे इन सभी जीवोंकी योनि, जन्म और शरीर वगैरहका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जैनदर्शन जीव बहुत्ववादी है। वह प्रत्येक जीवकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। उसका कहना है कि यदि सभी जीव एक होते तो एक जीवके सुखी होनेसे सभी जीव सुखी होते, एक जीवके दुःखी होनेसे सभी जीव दुःखी होते, एकके बन्धनसे सभी बंधनबद्ध होते और एककी मुक्तिसे सभी मुक्त हो जाते। जीवोकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओको देखकर ही सांख्यने भी जीवोकी अनेकताको स्वीकार किया है। जैनदर्शनका भी यही मत है।

५ अजीवद्रव्य

जिन द्रव्योंमें चैतन्य नही पाया जाता वे अजीवद्रव्य कहे जाते है। वे पाँच है। उनका परिचय इस प्रकार है—

१ पुद्गलद्रव्य

यह बात उल्लेखनीय है कि जैन दर्शनमे पुद्गल शब्दका प्रयोग बिल्कुल अनोखा है, अन्य दर्शनोमें इसका प्रयोग नही पाया जाता। जो टूटे फूटे, बने और बिगडे वह सब पुद्गलद्रव्य है। मोटे तौरपर हम जो कुछ देखते है, छूते है, सूंघते है, खाते है और सुनते है वह सब पुद्गलद्रव्य है। इसीलिये जैन शास्त्रोंमे पुद्गलका लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला बतलाया है। इस तरह पुद्गलसे आधुनिक विज्ञानके 'मैटर' (Matter) और इनर्जी (Energy) दोनो ही सगृहीत हो जाते है। जो परमाणुसम्बन्धी आधुनिक खोजोसे परिचित है वे पुद्गल शब्दके चुनावकी प्रशंसा ही करेंगे। आधुनिक वैज्ञानिकोके मतानुसार सब अटोम (परमाणु) इलैक्ट्रोन प्रोट्रोन और न्यूट्रोनके

समूह मात्र है । विज्ञानमे यूरेनियम एक धातु है उससे सदा तीन प्रकारकी किरणे निकलती रहती है । जब यूरेनियमका एक अणु, तीनों किरणोंको खो बैठता है तो वह एक रेडियमके अणुके रूपमे बदल जाता है । इसी तरह रेडियम अणु शीशा धातुमे परिवर्तित हो जाता है । यह परिवर्तन बतलाता है कि एलेक्ट्रोन और प्रोट्रोनके विभागमे 'मैटर'का एक रूप दूसरे रूपमे परिवर्तित हो जाता है । इस रद्दो बदल और टूट फूटको 'पुद्गल' शब्द बतलाता है । छहो द्रव्योंमें एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक है । न्यायदर्शनकार, पृथिवी, जल, तेज और वायुको जुदा जुदा द्रव्य मानते है, क्योकि उनकी मान्यताके अनुसार पृथिवीमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चारो गुण पाये जाते हैं, जलमे गन्धके सिवा शेष तीन ही गुण पाये जाते हैं, तेजमें गन्ध और रसके सिवा शेष दो ही गुण पाये जाते हैं और वायुमे केवल एक स्पर्श ही गुण पाया जाता है । अत चारोके परमाणु जुदे-जुदे है । अर्थात् पृथिवीके परमाणु जुदे है, जलके परमाणु जुदे हैं, तेजके परमाणु जुदे है और वायुके परमाणु जुदे हैं । अत. ये चारो द्रव्य जुदे जुदे है । किन्तु जैन दर्शनका कहना है कि सब परमाणु एकजातीय ही है और उन सभीमे चारों गुण पाये जाते हैं । किन्तु उनसे बने हुए द्रव्योमें जो किसी किसी गुणकी प्रतीति नही होती, उसका कारण उन गुणोंका अभिव्यक्त न हो सकना ही है । जैसे, पृथिवीमे जलका सिंचन करनेसे गन्ध गुण व्यक्त होता है इसलिये उसे केवल पृथ्वीका ही गुण नही माना जा सकता । आँवला खाकर पानी पीनेसे पानीका स्वाद मीठा लगता है, किन्तु वह स्वाद केवल पानीका ही नही है, आँवलेका स्वाद भी उसमे सम्मिलित है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये । इसके सिवा जलसे मोती उत्पन्न होता है जो पार्थिव माना जाता है, जंगलमे बाँसोकी रगड़से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जौके खानेसे पेटमे वायु उत्पन्न होती है । इससे सिद्ध है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणुओमें भेद नही है । जो कुछ भेद है, वह केवल परिणमन-का भेद है । अतः सभीमें स्पर्शादि चारो गुण मानने चाहियें । और

इसीलिये पृथ्वी आदि चार द्रव्य नही है किन्तु एक द्रव्य है। इसीलिये कहा है—

'आदेसमत्त मुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो॥७८॥,—पचास्ति०।

अर्थात्—जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका कारण है वह परमाणु। परमाणु द्रव्य है उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और रूप ये चारो गुण पाये जाते हैं। इसी कारणसे वह मूर्तिक कहा जाता है। वह परमाणु अविभागी होता है, क्योकि उसका, आदि, अन्त और मध्य नही है। इसीलिये उसका दूसरा भाग नही होता। जैन दर्शनकी दृष्टिसे द्रव्य और गुणमें प्रदेशभेद नही होता। इसलिये जो प्रदेश परमाणुका है वही चारो गुणोका भी है। अत इन चारो गुणोको परमाणुसे जुदा नही किया जा सकता। फिर भी जो किसी द्रव्यमें किसी गुणकी प्रतीति नही होती उसका कारण परमाणुका परिणामित्व है, परिणमनशील होनेके कारण ही कही किसी गुणकी उद्भूति देखी जाती है और कही किसी गुणकी अनुद्भूति। किन्तु परमाणु शब्दरूप नही है।

पुद्गलके दो भेद है—परमाणु और स्कन्ध। प्राचीन शास्त्रोंमें परमाणुका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत णेव इदियग्गेज्झ।
ज दव्व अविभागी त परमाणु वियाणाहि॥'

'जो स्वय ही आदि, स्वय ही मध्य और स्वयं ही अन्तरूप है, अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अन्तका भेद नही है और जो इन्द्रियोके द्वारा भी ग्रहण नही किया जा सकता। उस अविभागी द्रव्यको परमाणु जानो।'

'सव्वेसिं खंधाण जो अतो त वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो॥७७॥'—पञ्चास्ति०

'सब स्कन्धोका जो अन्तिम खण्ड है, अर्थात् जिसका दूसरा खण्ड नही हो सकता, उसे परमाणु जानो। वह परमाणु नित्य है, शब्दरूप नही है, एक प्रदेशी है, अविभागी है और मूर्तिक है।

'एयरसवण्णगंध दो फासं सद्दकारण मसद्दं ।
खधंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि ॥८१॥' —पञ्चास्ति०

'जिसमे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श गुण होते है जो शब्दकी उत्पत्तिमे कारण तो है किन्तु स्वयं शब्दरूप नही है, जो स्कन्धसे जुदा है, उसे परमाणु जानो ।'

ऊपरके इस विवेचनसे परमाणुके सम्बन्धमें अनेक बातें ज्ञात होती है । पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अशको परमाणु कहते है । वह परमाणु एकप्रदेशी होता है, इसीलिये उसका दूसरा भाग नही हो सकता । उसमे कोई एक रस, कोई एक रूप, कोई एक गध और शीत-उष्णमेंसे एक तथा स्निग्ध रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श होते है । यद्यपि परमाणु नित्य है तथापि स्कन्धोके टूटनेसे उसकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् अनेक परमाणुओंका समूहरूप स्कन्ध जब विघटित होता है तो विघटित होते होते उसका अन्त परमाणु रूपमें होता है, इस दृष्टिसे परमाणुओकी भी उत्पत्ति मानी गई है किन्तु द्रव्यरूपसे तो परमाणु नित्य ही है ।

अनेक परमाणुओके बन्धसे जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कन्ध कहते है । दो परमाणुओके मेलसे द्व्यणुक बनता है, तीन परमाणुओके मेलसे त्र्यणुक तैयार होता है । इसी तरह, सख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणुओके मेलसे संख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदशी स्कन्ध तैयार होते है । हम जो कुछ देखते है वह सब स्कन्ध ही है । धूपमे जो कण उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते है, वे भी स्कन्ध ही हैं ।

'यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि आधुनिक रसायन शास्त्र (Chemistry) मे जो 'अटोम' माने गये है वे जैन परमाणुके समकक्ष नही हैं । यद्यपि 'अटोम' का मतलब आरम्भमे यही लिया गया था कि जिसे विभाजित नही किया जा सकता । तथापि अब

१. Cosmology old and new, By pro. G. R. Jain

यह प्रमाणित हो गया है कि 'अटोम' प्रोटोन न्यूट्रोन और एलेक्ट्रोनका एक पिण्ड है। परमाणु तो वह मूल कण है जो दूसरोंके मेलके बिना स्वयं कायम रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी अनेक पर्यायें होती हैं। यथा—

'सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥' —द्रव्यसं०।

'शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चाँदनी और धूप ये सब पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं।'

अन्य दार्शनिकोंने शब्दको आकाशका गुण माना है, किन्तु जैन दार्शनिक उसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानते हैं। वे लिखते हैं—

'सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥' —पञ्चास्ति०।

'शब्द स्कन्धसे उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओंके बन्ध-विशेषको स्कन्ध कहते हैं। उन स्कन्धोंके परस्परमें टकरानेसे शब्दोंकी उत्पत्ति होती है।'

जैनोंका कहना है कि यदि शब्द आकाशका गुण होता तो मूर्तिक कर्णेन्द्रियके द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता था, क्योंकि अमूर्तिक आकाशका गुण भी अमूर्तिक ही होगा। और अमूर्तिकको मूर्तिक इन्द्रिय नहीं जान सकती। तथा शब्द टकराता भी है, कुएँ वगैरहमें आवाज करनेसे प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। शब्द रोका भी जाता है, ग्रामोफोनके रिकार्ड, टेलीफोन आदि इसके उदाहरण हैं। शब्द गतिमान भी है। आधुनिक विज्ञान भी शब्दमें गति मानता है। तथा स्कूलमें लड़कोंको प्रयोग द्वारा बतलाया जाता है कि शब्द ऐसे आकाशमें गमन नहीं कर सकता जहाँ किसी भी प्रकारका 'मैटर' न हो। अतः विज्ञानसे भी शब्द आकाशका गुण सिद्ध नहीं होता। अतः शब्द मूर्तिक है।

बन्धका मतलब केवल दो वस्तुओंका परस्परमें मिल जाना मात्र नहीं है। किन्तु बन्ध उस सम्बन्ध विशेषको कहते हैं, जिसमें दो चीजें

अपनी असली हालतको छोडकर एक तीसरी हालतमे हो जाती है। उदाहरणके लिये आक्सीजन और हाइड्रोजन नामक दो हवाएँ है। ये दोनों जब परस्परमें मिलती है तो पानीरूप हो जाती है। इसी तरह कपूर, पीपरमेण्ट और सत अजवायन परस्परमें मिलकर एक द्रव औषधीका रूप धारण कर लेते है। यह बन्ध है। यदि ऐसा न माना जाये तो जिस तरह वस्त्रमे रंग-विरगे धागोका सयोग होनेपर भी सब धागे अलग अलग ही रहते है, एकका दूसरेपर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता, उसी तरह यदि परमाणुओंका भी केवल सयोगमात्र ही माना जाये और वन्धविशेष न माना जाये तो उनके संयोगसे स्थिर स्थूल वस्तुकी उत्पत्ति नही हो सकती, क्योंकि वन्धमें जो रसायनिक सम्मिश्रण होता है, केवल संयोगमें वह संभव नही है। और रसायनिक सम्मिश्रणके बिना स्कन्ध उत्पन्न नही हो सकता। इसीलिये जैन दर्शनमें वन्धके स्वरूपका विश्लेषण बड़ी बारीकीसे किया गया है। उसमे बतलाया है कि स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे ही परमाणुओंका वन्ध होता है। परमाणुमे अन्य भी अनेक गुण है, किन्तु वन्ध करानेमे कारण केवल दो ही गुण है—स्निग्धता-चिक्कणता और रूक्षता-रूखा-पना। स्निग्ध गुणवाले परमाणुओका भी वन्ध होता है, रूक्षगुणवाले परमाणुओंका भी वन्ध होता है और स्निग्ध रूक्षगुणवाले परमाणुओका भी वन्ध होता है। किन्तु जघन्य गुणवालोका वन्ध नही होता और न समान गुणवालोंका ही वन्ध होता है, क्योंकि इस प्रकारके गुणवाले परमाणु यद्यपि परस्परमें मिल सकते है किन्तु स्कन्धको उत्पन्न नही कर सकते। अत. दो अधिक गुणवालोका ही परस्परमे वन्ध हो सकता है; क्योंकि अधिक गुणवाला परमाणु अपनेसे दो कम गुणवाले परमाणु-से मिलकर एक तीसरी अवस्था धारण करता है, इसीका नाम वन्ध है। यदि दोसे अधिक या दोसे कम गुणवालोका भी वन्ध मान लिया जाय तो अधिक विषमता हो जानेके कारण अधिक गुणवाला कम गुणवालोको अपनेमें मिला लेगा, किन्तु कम गुणवाला अधिक गुणवाले-

पर अपना उतना प्रभाव नही डाल सकेगा जितना रसायनिक सम्मिश्रणके लिये आवश्यक है। अत दो अधिक गुणवालोका ही बन्ध होता है, और बन्धसे स्कन्धोकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारका वन्ध पुद्गल द्रव्यमे ही समव है अत. बन्ध भी पुद्गलकी पर्याय है।

इसी तरह मोटापन, दुबलापन, गोल, तिकोन, चौकोर आदि आकार और टूट-फूट भी मूर्तिकद्रव्यमे ही सभव है। अत. वे भी पुद्गलकी पर्याय हैं। जैनदृष्टिसे अन्धकार भी वस्तु है, क्योकि वह दिखाई देता है और उसमे तरतमभाव पाया जाता है। जैसे, गाढा अन्धकार, हलका अन्धकार आदि। दूसरे दार्शनिक अन्धकारको केवल प्रकाशका अभाव ही मानते हैं, किन्तु जैनदार्शनिक उसे केवल अभावमात्र न मानकर प्रकाशकी ही तरह एक भावात्मक चीज मानते हैं। और जैसे सूर्य, चाँद वगैरहका प्रकाश, जो धूप और चाँदनीक नामसे पुकारा जाता है, पुद्गलकी पर्याय है वैसे ही अन्धकार भी पुद्गलकी पर्याय है। छाया भी पुद्गलकी पर्याय है, क्योकि किसी मूर्तिमान् वस्तुके द्वारा प्रकाशके रुक जानेपर छाया पड़ती है।

इस प्रकार इन्द्रियोके द्वारा हम जो कुछ देखते है, सूंघते है, छूते है, चखते है और सुनते है वह सब पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय है।

२. धर्मद्रव्य और ३. अधर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसे मतलब पुण्य और पापसे नही है, किन्तु ये दोनो भी जीव और पुद्गलकी ही तरह दो स्वतंत्र द्रव्य है जो जीव और पुद्गलोके चलने और ठहरनेमे सहायक होते है। छ द्रव्योमेसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय है, इनमे हलन-चलन नही होता, शेष जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय है। इन दोनों द्रव्योको जो चलनेमे सहायता करता है वह धर्मद्रव्य है और जो ठहरनेमे सहायता करता है वह अधर्मद्रव्य है। यद्यपि चलने और ठहरनेकी शक्ति तो जीव पुद्गलमें है ही, किन्तु

बाह्य सहायताके बिना उस शक्तिकी व्यक्ति नही हो सकती। जैसे परिणमन करनेकी शक्ति तो संसारकी प्रत्येक वस्तुमे मौजूद है, किन्तु कालद्रव्य उसमे सहायक है उसकी सहायताके विना कोई वस्तु परिणमन नही कर सकती। इसी तरह धर्म और अधर्मकी सहायताके बिना न किसीमें गति हो सकती है और न किसीकी स्थिति हो सकती है। ये दो द्रव्य ऐसे है, जिन्हे जैनोंके सिवा अन्य किसी भी धर्मने नही माना। दोनो द्रव्य आकाशकी तरह ही अमूर्तिक हैं और समस्त लोकव्यापी हैं। जैसा कि कहा है—

धम्मत्थिकायमरस अवण्णगध असद्दमप्फास।
लोगोगाढं पुठ्ठ पिहुलमसखादियपदेस ॥८३॥'—पचास्ति०।

'धर्मद्रव्यमे न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है, और न वह शब्दरूप ही है। तथा समस्तलोकमे व्याप्त है, अखडित है और असंख्यात प्रदेशी है।'

'उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥'—पचास्ति०।

'जैसे इस लोकमे जल मछलियोके चलनेमे सहायक है वैसे ही धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोको चलनेमे सहायक है।'

'जह हवदि धम्मदव्वं तह त जाणेह दव्वमधम्मक्ख।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूद तु पुढवीव ॥८६॥'—पचास्ति०

'जैसा धर्मद्रव्य है वैसा ही अधर्मद्रव्य है। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए जीव और पुद्गलोको पृथ्वीकी तरह ठहरनेमें सहायक है।'

सहायक होनेपर भी धर्म और अधर्म द्रव्य प्रेरक कारण नही है, अर्थात् किसीको बलात् नही चलाते है और न बलात् ठहराते है। किन्तु चलते हुएको चलनेमें और ठहरते हुएको ठहरनेमे मदद करते है।

यदि उन्हे गति और स्थितिमे मुख्य कारण मान लिया जाये तो जो चल रहे हैं वे चलते ही रहेगे और जो ठहरे है वे ठहरे ही रहेगे। किन्तु जो चलते है वे ही ठहरते भी है। अत. जीव और पुद्गल स्वयं

ही चलते हैं और स्वयं ही ठहरते हैं, धर्म और अधर्म केवल उसमें सहायकमात्र हैं।[1]

४. आकाशद्रव्य

जो सभी द्रव्योंको स्थान देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अमूर्तिक और सर्वव्यापी है। इसे अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। किन्तु जैनोंकी मान्यतामें उनसे कुछ अन्तर है। जैनदर्शनमें आकाशके दो भेद माने गये हैं—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। सर्वव्यापी आकाशके मध्यमें लोकाकाश है और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाशमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाशमें केवल आकाशद्रव्य ही पाया जाता है।

जैसा कि लिखा है—

'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्ण आयास अतवदिरित्त ॥९१॥' —पचास्ति०।

'जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकसे बाहर नहीं हैं। और

---

१ प्रो० घासीराम जैनने अपनी 'कासमोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू' नामकी पुस्तकमें धर्मद्रव्यकी तुलना आधुनिक विज्ञानके ईथर नामक तत्त्वसे और अधर्म द्रव्यकी तुलना सर आइजक न्यूटनके आकर्षण सिद्धान्तसे की है। क्योंकि वैज्ञानिकोंने 'ईथर'को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य माननेके साथ 'गतिका आवश्यक माध्यम' भी माना है, जैनोंने धर्मद्रव्यको भी ऐसा ही माना है। अधर्मद्रव्य और विज्ञानके आकर्षण सिद्धान्तकी तुलना करते हुए प्रोफेसर जैनने लिखा है—'यह जैनधर्मके अधर्मद्रव्य विषयक सिद्धान्तकी सबसे बड़ी विजय है कि विश्वकी स्थिरताके लिये विज्ञानने अदृश्य आकर्षणशक्तिकी सत्ताको स्वयसिद्ध प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइस्टीनने उसमें सुधार करके उसे क्रियात्मकरूप दिया। अब आकर्षण सिद्धान्तको सहायक कारणके रूपमें माना जाता है, मूल कर्ताके रूपमें नहीं, इसलिये अब वह जैनधर्मविषयक अधर्मद्रव्यकी मान्यताके बिल्कुल अनुरूप बैठता है।' पे-४४।

आकाश उस लोकके अन्दर भी है और वाहर भी है, क्योंकि उसका अन्त नही है।'

सारांश यह है कि आकाश सर्वव्यापी है। उस आकाशके बीचमें लोकाकाश ह, जो अकृत्रिम है—किसीका वनाया हुआ नही है। न उसका आदि है और न अन्त ही है। कटिके दोनों भागोंपर दोनो हाथ रखकर और दोनों पैरोको फैलाकर खड़े हुए पुरुषके समान लोकका आकार है। नीचेके भागमे सात नरक है। नाभि देशमे मनुष्यलोक है और ऊपरके भागमे स्वर्गलोक है। तथा मस्तक प्रदेशमे मोक्षस्थान है। चूंकि जीव शरीरपरिमाणवाला और स्वभावसे ही ऊपरको जानेवाला है अत कर्मवन्धनसे मुक्त होते ही वह शरीरमेंसे निकलकर ऊपर चला जाता है और जाकर मोक्षस्थानमे ठहर जाता है। उससे आगे वह जा नही सकता, क्योंकि गमनमे सहायक धर्मद्रव्य वहींतक पाया जाता है, उससे आगे नही पाया जाता। और उसकी सहायताके विना वह आगे जा नही सकता। इसीलिये जव कुछ दार्शनिकोने जैनोसे यह प्रश्न किया कि धर्म और अधर्म द्रव्यकी आवश्यकता ही क्या है, आकाश उनका भी कार्य कर लेगा तो उन्होंने उन्हें उत्तर दिया—

'आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९२॥' —पचास्ति०

'यदि आकाश अवगाहके साथ-साथ गमन और स्थितिका भी कारण हो जायेगा तो ऊर्ध्वगमन करनेवाले मुक्त जीव मोक्षस्थानमे कैसे ठहर सकेंगे।'

इस पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तजीव ऊपर लोकके अग्रभाग-में यदि नही ठहर सकेंगे तो न ठहरे। मात्र उन्हें ठहरानेके लिये ही तो दो द्रव्य नही माने जा सकते? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

'जम्हा उवरिमठ्ठाण सिद्धाण जिणवरेहि पण्णत्त।
तम्हा गमणट्ठाण आयासे जाण णत्थित्ति ॥९३॥' —पचास्ति०

'यत भगवान जिनेन्द्रने मुक्त जीवोका स्थान ऊपर लोकके अग्रभागमे बतलाया है, अत आकाश गति और स्थितिका निमित्त नही है।'

तथा—

'जदि हवदि गमणहेदू आगास ठाणकारण तेसि।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स अतपरिवुड्ढी ॥९४॥ —पचास्ति०।

'यदि आकाश जीव और पुद्गलोके गमन और स्थितिमे भी कारण होता है तो ऐसा माननेसे लोककी अन्तिम मर्यादा बढती है और अलोकाकाशकी हानि प्राप्त होती है, क्योकि फिर तो जीव और पुद्गल गति करते हुए आगे बढते जायँगे। और ज्यो-ज्यो वे आगे बढते जायँगे त्यों-त्यो लोक बढता जायेगा और अलोक घटता जायेगा।'

इसपर भी यह कहा जा सकता है कि लोककी वृद्धि और अलोककी हानि यदि होती है तो होओ, तो उसपर पुन. आचार्य कहते है—

'तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णाकासं।
इदि जिणवरेहि भणिद लोगसहाव सुणताण ॥९५॥' —पचास्ति०।

'जिनवर भगवानने श्रोताजनोको लोकका स्वभाव ऐसा ही बतलाया है। अत. धर्म और अधर्मद्रव्य ही गति और स्थितिके कारण है, आकाश नही।'

आशय यह है कि एक ही आकाशके दो विभाग कायम रखनेमें प्रधान कारण धर्म और अधर्मद्रव्य है। इन दोनो द्रव्योंकी वजहसे ही जीव और पुद्गल लोकाकाशकी मर्यादासे बाहर नही जा सकते। जैनेतर दार्शनिकोने आकाश द्रव्यको मानकर भी न तो लोकका कोई खास आकार माना और न आत्माको सक्रिय और शरीर परिमाणवाला ही माना। इसलिये उसका नियमन करनेके लिये उन्हे धर्म और अधर्म नामके द्रव्य माननेकी आवश्यकता भी प्रतीत नही हुई। किन्तु जैनधर्ममें वैसी व्यवस्था होनेसे आकाशसे जुदे, किन्तु उसके समकक्ष दो द्रव्य और माने गये। इस तरह धर्म और अधर्मद्रव्यके निमित्तसे एक ही आकाश अखण्ड होकर भी दो रूप हो गया है। जितने आकाशमें सब

द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाशको लोकाकाश कहते है और उससे अतिरिक्त जो शुद्ध अकेला आकाश है उसे अलोकाकाश कहते है।

यहा यह बतला देना अनुचित न होगा कि जब जैनधर्म लोकाकाशको सान्त मानता है और उसके आगे अनन्त आकाश मानता है, तब प्रसिद्ध वैज्ञानिक[1] आइस्टीन समस्तलोकको सान्त मानते है किन्तु उसके आगे कुछ नही मानते, क्योकि प्रो० एडिंगटनका कहना है कि पदार्थविज्ञानका विद्यार्थी कभी भी आकाशको शून्यवत् नही मान सकता।

५ कालद्रव्य

जो वस्तुमात्रके परिवर्तन करानेमे सहायक है उसे कालद्रव्य कहते है। यद्यपि परिणमन करनेकी शक्ति सभी पदार्थोमें है, किन्तु वाह्य निमित्तके विना उस शक्तिकी व्यक्ति नही हो सकती। जैसे कुम्हारके चाकमें घूमनेकी शक्ति मौजूद है, किन्तु कीलका साहाय्य पाये विना वह घूम नही सकता, वैसे ही ससारके पदार्थ भी कालद्रव्यका साहाय्य पाये विना परिवर्तन नही कर सकते। अत. कालद्रव्य उनके परिवर्तनमे सहायक है। किन्तु वह भी वस्तुओंका बलात् परिणमन नही कराता है और न एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप परिणमन कराता है, किन्तु स्वयं परिणमन करते हुए द्रव्योंका सहायकमात्र हो जाता है।

काल दो प्रकारका है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहारकाल। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर जुदे-जुदे कालाणु-कालके अणु स्थित हैं, उन कालाणुओंको निश्चयकाल कहते है। अर्थात् कालद्रव्य नामकी वस्तु वे कालाणु ही है। उन कालाणुओंके निमित्तसे ही संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उन्हीके निमित्तसे प्रत्येक वस्तुका अस्तित्व कायम है। आकाशके एक प्रदेशमें स्थित पुद्गलका एक परमाणु मन्दगतिसे जितनी देरमे उस प्रदेशसे लगे हुए दूसरे प्रदेशपर पहुँचता है उसे समय कहते है। यह समय कालद्रव्यकी पर्याय है।

१ Cosmology Old and New, P. 57।

समयोंके समूहको ही आवली, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, घटिका, दिन रात आदि कहा जाता है। यह सब व्यवहारकाल है। यह व्यवहार-काल सौर मण्डलकी गति और घड़ी वगैरहके द्वारा जाना जाता है तथा इसके द्वारा ही निश्चयकाल अर्थात् कालद्रव्यके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है; क्योंकि जैसे किसी बच्चेमें शेरका व्यवहार करनेसे कि 'यह बच्चा शेर है' शेर नामके पशुके होनेका निश्चय किया जाता है, वैसे ही सूर्य आदिकी गतिमें जो कालका व्यवहार किया जाता है वह औपचारिक है, अतः काल नामका कोई स्वतंत्र द्रव्य होना आवश्यक है जिसका उपचार लौकिक व्यवहारमे किया जाता है।

कालद्रव्यको अन्य दार्शनिकोंने भी माना है, किन्तु उन्होंने व्यवहारकालको ही कालद्रव्य मान लिया है। कालद्रव्य नामकी अणुरूप वस्तुको केवल जैनोंने ही स्वीकार किया है। यह कालद्रव्य भी आकाशकी तरह ही अमूर्तिक है। केवल इतना अन्तर है कि आकाश एक अखण्ड है, किन्तु कालद्रव्य अनेक है, जैसा कि लिखा है—

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठ्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाण रासिमिव ते कालाणु असखदव्वाणि॥—सर्वार्थ० पृ० १९१

'लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह जो एक एक करके स्थित है, वे कालाणु है और वे असंख्यात द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक कालाणु एक एक द्रव्य है जैसे कि पुद्गलका प्रत्येक परमाणु एक एक द्रव्य है।'

प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंमें इन कालाणुओंके सम्बन्धमें अनेक युक्तियोंके द्वारा अच्छा प्रकाश डाला गया है जो मनन करने योग्य है।

इस प्रकार जैनदर्शनमें ६ द्रव्य माने गये है। कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको पञ्चास्तिकाय कहते है। 'अस्तिकाय' में दो शब्द मिले हुए है एक 'अस्ति' और दूसरा 'काय'। 'अस्ति' शब्दका अर्थ है होता है जो कि अस्तित्व सूचक है और कायशब्दका अर्थ होता है 'शरीर'। अर्थात् जैसे शरीर बहुदेशी होता है वैसे ही ...

शेष पाँच द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं। इसलिये उन्हे अस्तिकाय कहते है किन्तु कालद्रव्य अस्तिकाय नही है, क्योकि उसके कालाणु असख्य होनेपर भी परस्परमें सदा अवद्ध रहते है, न तो वे आकाशके प्रदेशोकी तरह सदासे मिले हुए एक और अखण्ड है और न पुद्गलके परमाणुओंकी तरह कभी मिलते और कभी बिछुडते ही है। इसलिये वे 'काय' नही कहे जाते।

प्रदेशके सम्वन्धमे भी कुछ मोटी वाते जान लेनी चाहिये। जितने देशको एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने देशको प्रदेश कहते है। लोकाकाशमे यदि क्रमवार एक एक करके परमाणुओको बरावर बरावर सटाकर रखा जाये तो असख्यात परमाणु समा सकते है, अतः लोकाकाश और उसमे व्याप्त धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी कहे जाते हैं। इसी तरह शरीरपरिमाण जीवद्रव्य भी यदि शरीरसे बाहर होकर फैले तो लोकाकाशमे व्याप्त हो सकता है अत. जीवद्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी है। पुद्गलका परमाणु तो एक ही प्रदेशी है किन्तु उन परमाणुओके समूहसे जो स्कन्ध वन जाते है वे सख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होते है। अत. पुद्गल द्रव्य भी बहुप्रदेशी है। इस तरह बहुप्रदेशी होनेसे पाँच द्रव्योको पञ्चास्तिकाय कहते है।

६. यह विश्व और उसकी व्यवस्था

यह विश्व, जो हमारी आँखोके सामने है और जिसमे हम निवास करते है, इन्ही द्रव्योंसे बना हुआ है। 'बना हुआ" से मतलव यह नही लेना चाहिये कि किसीने अमुक समयमे इस विश्वकी रचना की है। यह विश्व तो अनादि-अनिधन है, न इसकी आदि ही है और न अन्त ही है, न कभी किसीने इसे बनाया है और न कभी इसका अन्त ही होता है। अनादिकालसे यह ऐसा ही चला आ रहा है और अनन्तकाल तक ऐसा ही चला जायेगा। रहा परिवर्तन, सो वह तो प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। सर्वथा नित्य तो कोई वस्तु है ही नही। हो भी नही सकती।

्योकि वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर विश्वमे जो वैचित्र्य दिखाई ता है वह सभव नही हो सकता । अत परिवर्तनशील ससारकी ौलिक स्थितिमे कोई परिवर्तन न होते हुए विश्वकी व्यवस्था सदा ारी रहती है ।

किन्तु कुछ दार्शनिको और जनसाधारणकी भी ऐसी धारणा ै कि इस विश्वका कोई एक रचयिता अवश्य होना चाहिये, जिसकी ाज्ञासे विश्वकी व्यवस्था सदा नियमित रीतिसे जारी रहती है । ृष्टिरचनाके सम्बन्धमे यो तो अनेक मान्यताएँ प्रचलित है किन्तु ोटेरूपस उन्हे तीन भागोमे रखा जा सकता है । एक विभागवाले ो यह मानते है कि एक परमेश्वर या ब्रह्म ही अनादि अनन्त है । जो ्क ब्रह्मको ही अनादि अनन्त मानते है उनका कहना है कि ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ है ही नही । यह जो कुछ भी सृष्टि दिखाई दे रही है ्रह स्वप्नके समान एक प्रकारका भ्रम है । जो परमेश्वरको ही अनादि अनन्त मानते है उनका कहना है कि यह सृष्टि भ्रममात्र तो नही है । ेकन्तु इसे परमेश्वरने ही नास्तिसे अस्तिरूप किया है । पहले तो एक रमेश्वरके सिवाय कुछ था ही नही । पीछे उसने किसी समयमें अवस्तुसे ही ये सब वस्तुएँ बना दी है । जब वह चाहेगा तब फिर वह इन्हें नास्तिरूप कर देगा और तब सिवाय उस एक परमेश्वरके अन्य कुछ भी न रहेगा । दूसरे विभागवाले कहते है अवस्तुसे कोई वस्तु बन नही सकती, वस्तुसे ही वस्तु बना करती है । ससारमे जीव और अजीव दो प्रकारकी वस्तुएँ दिखाई देती है, वे किसीके द्वारा बनाई नही गई है । जिस प्रकार परमेश्वर सदासे है उसी प्रकार जीव और अजीवरूप वस्तुएं भी सदासे है, सदा रहेगी । परन्तु इन वस्तुओकी अनेक अवस्थाओका बनाना और बिगाडना उस परमेश्वरके ही हाथमे है । तीसरे विभागवालोका कहना है कि जीव और अजीव ये दोनो ही प्रकारकी वस्तुएँ अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेंगी । इनकी अवस्थाओको बदलनेवाला और इस विश्वका नियामक कोई तीसरा

नही है। इन्ही वस्तुओंके परस्परके सम्बन्धसे इन्हीके गुणो और स्वभावोंके द्वारा सब परिवर्तन स्वयमेव होता है।

इस प्रकार इन तीनो मतोमे यद्यपि बहुत अन्तर है तो भी एक बात में ये तीनो ही सहमत हैं। तीनोने ही किसी न किसी वस्तुको अनादि अवश्य माना है। पहला ब्रह्म या ईश्वरको अनादि मानता है। वही इस विश्वको बनाता और बिगाड़ता है। दूसरा परमेश्वरके ही समान जीव और अजीवको भी अनादि मानता है। तीसरा जीव और अजीवको ही अनादि मानता है। अत इन तीनोमे यह विवाद तो उठ ही नहीं सकता कि बिना बनाये सदासे भी कोई वस्तु हो सकती है या नही और जब यह मान लिया गया कि बिना बनाये सदासे भी कोई या कुछ वस्तुएँ हो सकती है तो यह बात भी सभी स्वीकार करेंगे कि वस्तुमें कोई न कोई गुण या स्वभाव भी अवश्य होता है, क्योंकि बिना किसी गुण या स्वभावके कोई वस्तु हो ही नही सकती। और जैसे वह वस्तु अनादि है वैसे ही उसका गुण या स्वभाव भी अनादि है। साराश यह है कि दो बातोमे संसारके सभी मतवाले एकमत है कि संसारमें कोई वस्तु बिना बनाये अनादि भी हुआ करती है और बिना बनाये उसके गुण और स्वभाव भी अनादि होते हैं। अब केवल यह निश्चय करना है कि कौन वस्तु बिना बनी हुई अनादि है और कौन वस्तु सादि है?

जब हम संसारकी ओर दृष्टि देते है तो संसारमें तो हमें कोई भी वस्तु ऐसी नही मिलती जो बिना किसी वस्तुके ही बन गई हो और न कोई ऐसी वस्तु दिखाई देती है जो किसी समय एकदम नास्तिरूप हो जाती हो। यहाँ तो वस्तुसे ही वस्तु बनती देखी जाती है। साराश यह है कि न तो कोई सर्वथा नवीन वस्तु पैदा होती है और न कोई वस्तु सर्वथा नष्ट ही होती है। किन्तु जो वस्तुएँ पहलेसे चली आती है उन्हीका रूप बदल-बदलकर नवीन-नवीन वस्तुएँ दिखाई देती रहती है। जैसे, सोनेसे अनेक प्रकारके आभूषण बनाये जाते है। सोनेके बिना ये आभूषण नही बन सकते। फिर उन्ही आभूषणोको

ाडकर दूसरे प्रकारके आभूषण वनाये जाते है। सोना उनमें भी हता है। इसी प्रकार मिट्टी, जल, वायु और धूपका संयोग पाकर ाज ही वृक्षरूप परिणत होता है। वृक्षको जला देनेपर उसके कोयले ो जाते है और कोयले जलकर राख हो जाते है। इससे यही सिद्ध ोता है कि वस्तुसे ही वस्तुकी उत्पत्ति होती है। तथा जगतमें एक ी परमाणु न तो कम होता है और न वढ़ता है। सदा जितनेके तितने ो रहते है। हाँ, उनकी अवस्थाएँ वदल-वदलकर नई नई वस्तुओकी ृष्टि होती रहती है। अत यह वात सिद्ध होती है कि संसारमे कोई स्तु अस्तिसे नास्तिरूप नही होती और नास्तिसे अस्तिरूप नही होती। कन्तु हरेक वस्तु किसी न किसी रूपमें सदासे चली आती है और ागे भी किसी न किसी रूपमें सदा विद्यमान रहेगी। अर्थात् संसारकी ीव व अजीवरूप सभी वस्तुएँ अनादि अनन्त है और उनके अनेक वीनरूप होते रहनेसे ही यह संसार चल रहा है।

३ इस प्रकार जीव व अजीवरूप सभी वस्तुओकी नित्यता सिद्ध हो ानेपर अव केवल एक वात निर्णय करनेके योग्य रह जाती है कि ंसारके ये सव पदार्थ किस तरहसे नवीन-नवीन रूप धारण करते ै। इस वातका निर्णय करनेके लिये जव हम संसारकी ओर दृष्टि ालते है तो हमे मालूम होता है कि मनुष्य मनुष्यसे ही पैदा होता है। सी तरह पशु-पक्षी भी अपने माँ वापसे ही पैदा होते देखे जाते है। िना माँ-वापके उनकी उत्पत्ति नही देखी जाती। गेहूँ,चना आदि अनाज था आम, अमरूद आदि वनस्पतियाँ भी अपने अपने वीज, जड़ या शाखा ोरहसे ही उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। और जैसे ये आज उत्पन्न ोती हुई देखी जाती है वैसे ही पहले भी उत्पन्न होती होंगी। इस रह इन सव वस्तुओंकी उत्पत्ति अनादि माननेपर इस धरतीको भी नादि मानना ही पड़ता है।

४ जिस प्रकार वस्तुएँ अनादि अनन्त है उसी प्रकार उनके गुण और वभाव भी अनादि अनन्त है। जैसे, अग्निका स्वभाव उष्ण है।

यह उसका स्वभाव अनादिसे ही है और अनन्त कालतक रहेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओके सम्बन्धमे भी समझ लेना चाहिये। यदि वस्तुओं के गुण और स्वभाव सदा बदलते रहते तो मनुष्यको किसी वस्तुको छूने या उसके पास जाने तकका साहस भी न होता। उसे सदा भय रहता कि न जाने आज इसका क्या स्वभाव हो गया है परन्तु उनके गुण और स्वभावके विषयमे वह सदा निर्भय रहता है क्योकि वह उनके स्वभावके विषयमे अपने और अपनेसे पूर्ववर्ती सज्जनोके अनुभवपर पूरा भरोसा करता है। अत यह सिद्ध होता है कि वस्तुओकी ही तरह उनके गुण और स्वभाव भी अनादि अनन्त है।

इसी प्रकार ससारकी वस्तुओकी जाँच करनेपर यह भी मालूम होता है कि दो या तीन वस्तुओको मिलानेसे जो वस्तुएँ आज बन सकती है वे पहले भी बन सकती थी। जैसे नीला और पीला रंग मिलानेसे आज हरा रंग बन जाता है, यह रंग पहले भी बन सकता था और आगे भी बनता रहेगा। ऐसे ही किसी एक वस्तुके प्रभावसे जो परिवर्तन दूसरी वस्तुमे हो जाता है वह पहले भी होता था या हो सकता था और आगे भी होता रहेगा। जैसे, आगकी गर्मीसे जो भाप आज बनती है वही पहले भी बनती थी और आगेको भी बनती रहेगी। जलानसे जैसे आज लकड़ी, आग, कोयला राखरूप हो जाती है वैसे ही वे पहले भी होती थी और आगे भी होगी। सारांश यह है कि अन्य वस्तुओस प्रभावित होने तथा अन्य वस्तुओको प्रभावित करनेके गुण और स्वभाव भी वस्तुओंमे अनादि है।

इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षकी उत्पत्तिके समान या मुर्गीसे अण्डा और अण्डेसे मुर्गीकी उत्पत्तिके समान संसारके सभी मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति सन्तान दर सन्तान अनादि कालसे चले आते है। किसी समयमें इनका आदि नही हो सकता और इन सबके अनादि होनेसे इस पृथ्वीका भी

अनादि होना जरूरी है। साथ ही वस्तुओंके गुण स्वभाव और एक दूसरेपर असर डालने तथा एक दूसरेके असरको ग्रहण करनेकी प्रकृति भी अनादि कालसे ही चली आती है, तब जगतके प्रबन्धका सारा ढांचा ही मनुष्यकी आंखोंके सामने हो जाता है। उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि संसारमें जो कुछ हो रहा है वह सब वस्तुओंके गुण और स्वभावके ही कारण हो रहा है। इसके सिवा न तो कोई ईश्वरीय शक्ति ही इसमें कोई कार्य कर रही है और न उसकी कोई जरूरत ही है। जैसे, जब समुद्रके पानीपर सूरजकी धूप पड़ती है तो उस धूपमें जितना ताप होता है उसीके अनुसार समुद्रका पानी भापरूप बन जाता है। और जिधरकी हवा होती है उधरको ही भाप बनकर चला जाता है। फिर जहाँ कहीं भी उसे इतनी ठंड मिल जाती है कि वह पानीका पानी हो जावे वहीं पानी हो कर बरसने लगता है। फिर वह बरसा हुआ पानी स्वभावसे ही ढालकी ओर बहता हुआ बहुत-सी चीजोंको अपने साथ लेता हुआ चला जाता है। और बहता-बहता नदियोंके द्वारा समुद्रमें ही जा पहुंचता है।

धूप, हवा, पानी और मिट्टी आदिके इन उपर्युक्त स्वभावोंसे दुनियामें लाखों करोडों परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे फिर लाखों करोडों काम होने लग जाते हैं। अन्य भी जिन परिवर्तनोंपर दृष्टि डालते हैं उनमें भी वस्तु स्वभावको ही कारण पाते हैं। जब संसारकी सारी वस्तुएँ और उनके गुण स्वभाव सदासे हैं और जब संसारकी सारी वस्तुएँ दूसरी वस्तुओंसे प्रभावित होती हैं और दूसरी वस्तुओंपर अपना प्रभाव डालती हैं तब तो यह बात जरूरी है कि उनमें सदासे ही आदान-प्रदान होता रहता है और उसके कारण नाना परिवर्तन होते रहते हैं। यही संसारका चक्र है जो वस्तुस्वभावके द्वारा अपने आप ही चल रहा है। किन्तु अविचारी मनुष्य उससे, चकित होकर भ्रममें पडे हुए हैं।

विचारनेकी बात है कि जब समुद्रके पानीको ही भाप बनकर

उसका ही बादल बनता है तब यदि वस्तु स्वभावके सिवाय कोई दूसरा ही वर्षाका प्रबन्ध करनेवाला होता तो वह कभी भी उस समुद्रपर पानी न बरसाता जिसके पानीकी भापसे ही वह बादल बना था। परन्तु देखनेमे तो यही आता है कि बादलको जहाँ भी इतनी ठंड जाती है कि भापका पानी बन जावे वही वह बरस पडता है। यही कारण है कि वह समुद्रपर भी बरसता है और धरतीपर भी। बादलको तो इस बातका ज्ञान ही नही कि उसे कहाँ बरसना चाहिये और कहाँ नही। इसीसे कभी वर्षा समयपर होती है और कभी कुसमयमे। बल्कि कभी कभी तो ऐसा होता है कि सारी फसल भर अच्छी वर्षा होकर अन्तमे एक आध वर्षाकी ऐसी कमी हो जाती है कि सारी करी कराई खेती मारी जाती है। यदि वस्तु स्वभावके सिवाय कोई दूसरा प्रबन्ध कर्ता होता तो ऐसी अन्धाधुन्धी कभी भी न होती। इसपर शायद यह कहा जाये कि उसकी तो इच्छा ही यह थी कि इस खेतमे अनाज पैदा न हो या कम पैदा हो। परन्तु यदि यही बात होती तो वह सारी फसल भर अच्छी वर्षा करके उस खेतीको इतनी बड़ी ही क्यो होने देता। बल्कि वह तो उस किसानको बीज ही न बोने देता। यदि किसानपर उसका काबू नही चल सकता था तो खेतमे पड़े बीजको ही वह न उगने देता। यदि बीजपर भी उसका काबू न था तो बारिशकी एक बूंद भी उस खेतमें न पड़ने देता। तथा यदि संसारके उस प्रबन्धकर्ताकी यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज ही पैदा न हो या कमती पैदा हो तो वह उन खेतोको ही न सुखाता जो बारिशके ही ऊपर निर्भर हैं बल्कि उन खेतोंको भी जरूर सुखाता जिनमें नहरसे पानी आता है। परन्तु देखनेमे यही आता है कि जिस वर्ष वर्षा नही होती उस वर्ष उन खेतोंमें तो कुछ भी पैदा नहीं होता जो वर्षापर निर्भर हैं, और नहरसे पानी आनेवाले खेतोंमें उसी वर्ष सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे सिद्ध है कि ससारका कोई एक प्रबन्धकर्ता नही है बल्कि वस्तु-स्वभावके कारण ही जब वर्षाके निमित्त कारण जुट जाते हैं तब पानी बरस जाता है और जब वे कारण नही जुटते तब पानी नही बरसता।

वर्षाको इस वातका ज्ञान नही है कि उसके कारण कोई खेती हरी होगी या सूखेगी और ससारके जीवोका लाभ होगा या हानि। इसीसे ऐसी गडवडी हो जाती है कि जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ एक बूद भी पानी नही पडता और जहाँ आवश्यकता नही होती वहाँ खूब वर्षा हो जाती है। किसी प्रवन्धकर्ताके न होनेके कारण ही मनुष्यने नहर निकालकर और कुएँ आदि खोदकर यह प्रवन्ध किया है कि यदि वर्षा न हो तो भी अपने खेतोंको पानी देकर वह अनाज पैदा कर सके।

इसके सिवाय जव प्रत्येक धर्मके अनुसार ससारमे इस समय पापोंकी ही अधिकता हो रही है और नित्य ही भारी भारी अन्याय देखनेमे आते है तव यह कैसे माना जा सकता है कि जगतका कोई प्रवन्धकर्ता भी है, जिसकी आज्ञाको न मानकर ही ये सव अपराध और पाप हो रहे है। शायद कहा जाये कि राजाकी भी तो आज्ञा भंग होती रहती है। किन्तु राजा न तो सर्वज्ञ ही होता है और न सर्वशक्तिमान्। इसलिये न तो उसे सव अपराव करनेवालोका ही पता रहता है और न वह सव प्रकारके अपराधोको दूर ही कर सकता है। परन्तु जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो और एक छोटेसे परमाणुसे लेकर आकाश तककी गति और स्थितिका कारण हो, जिसकी इच्छाके विना एक पत्ता तक भी नही हिल सकता हो, उसके सम्वन्धमे यह वात कभी भी नही कही जा सकती। एक ओर तो उसे संसारके एक एक कणका प्रवन्धकर्ता वताना और दूसरी ओर अपराधोंके रोकनेमें उसे असमर्थ ठहराना, यह तो उस प्रवन्धकर्ताका परिहास है।

तथा यदि कोई इस ससारका प्रवन्धक होता तो वह यह अवश्य वतलाता कि इस समय हमें जो सुख या दुख मिल रहा है वह हमारे कौनसे कृत्योंका फल है जिससे हम आगामीको वुरे कृत्योंसे वचते और अच्छे कामोंकी ओर लगते। परन्तु हमे तो यह भी मालूम नही कि पुण्य क्या है और पाप क्या है? एक ही कृत्यको कोई पाप कहता है और कोई पुण्य। यही वजह है कि संसारमें सैकड़ों प्रकारके मत फैले

हुए हैं और तमाशा यह है कि सब ही अपने अपने मतको उसी सर्व शक्तिमान् परमात्माका बतलाया हुआ कहते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं ऐसा अन्धेर तो मामूली राजाओंके राज्यमे भी नही होता। प्रत्येक राजाके राज्यमे जो कानून प्रचलित होता है, यदि कोई मनुष्य उसके विपरीत नियम चलाना चाहता है या उसके विरुद्ध प्रचार करता है तो वह दण्ड पाता है। किन्तु सर्वशक्तिमान् परमात्माके राज्यमे सैकड़ो ही मतोके प्रचारक अपने अपने धर्मका उपदेश करते हैं— अपने अपने सिद्धान्तोंको उसी एक परमेश्वरकी आज्ञा बताकर उसके ही अनुसार चलनेकी घोषणा करते है। और यह सब कुछ होते हुए भी ससारके प्रबन्धकर्ता उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ओरसे कुछ भी रोकटोक इस विषयमे नही होती। ऐसी स्थितिमे तो कभी भी यह नही माना जा सकता कि कोई सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इस संसारका प्रबन्ध करता है। बल्कि यही माननेके लिये विवश होना पडता है कि वस्तु स्वभावपर ही संसारका सारा ढाँचा बंधा हुआ है और उसीके अनुसार जगतका सब प्रबन्ध चला आता है। यही कारण है कि यदि कोई मनुष्य वस्तु स्वभावके विपरीत आचरण करता है तो ये सब वस्तुएँ उसको मना करने या रोकने नही जाती। और न अपने स्वभावके अनुसार कभी अपना फल देनेसे ही चूकती है। जैसे, आगमे चाहे तो कोई बालक नादानीसे अपना हाथ डाल दे या किसी बुद्धिमान पुरुषका हाथ भूलसे पड़ जावे, वह आग अपना काम अवश्य करेगी। मनुष्यके शरीरमे सैकड़ों बीमारियाँ ऐसी होती है जो उसके अज्ञात दोषोंका ही फल होती है। परन्तु प्रकृति या वस्तु स्वभाव उसे यह नही बताते कि तेरे अमुक दोषके कारण तुझको यह बीमारी हुई है। इसी तरह हमारे दोषोंका फल भी हमे वस्तु स्वभावके अनुसार स्वयं मिल जाता है।

इस प्रकार वस्तु स्वभावके अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि सुख दुःख भोगते समय क्यो हमको हमारे उन कृत्योंकी खबर

ाही होती, जिनके फलस्वरूप हमें वह सुख दुःख भोगना पड़ता है। रन्तु किसी प्रवन्धकर्ताके माननेकी हालतमें वह वात कभी ठीक नही ठती, वल्कि उल्टा अन्धेर ही दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि हम ाह मानते हैं कि जो वच्चा किसी चोर, डाकू या वेश्या आदि ापियोके घर पैदा किया गया है वह अपने भले वुरे कृत्योके फलस्वरूप ो ऐसे स्थानमें पैदा किया गया है तो सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वरको ावन्धकर्ता माननेकी अवस्थामें यह वात ठीक नही वैठती; क्योकि ारावी शराव पीकर और उसका वुरा फल भोगकर भी यदि शरावकी ,ुकानपर जाता है और पहलेसे भी तेज शराव मांगता है तो वस्तु-वभावके अनुसार तो यह वात ठीक वैठ जाती है कि शरावने उसका दमाग ऐसा खराव कर दिया है जिससे अव उसको पहलेसे भी ज्यादा ाज शराव पीनेकी इच्छा होती है। परन्तु जगतके प्रवन्धकर्ताके द्वारा ी फल मिलनेकी अवस्थामे तो शराव पीनेका ऐसा दड मिलना चाहिये ाा जिससे वह शरावकी दुकानतक पहुँच ही नही सकता या फिर कभी उसका नाम ही नही लेता। इसी तरह व्यभिचार और चोरी आदिकी ी ऐसी सजा मिलनी चाहिये थी, जिससे वह कभी भी व्यभिचार ाा चोरी करने नही पाता। जो जीव चोरों या वेश्याओंके घर पैदा केये जाते हैं उन्हे ऐसी जगह पैदा करना तो चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलानेका ही प्रयत्न करना है। सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वर-ने तो ऐसी आशा कभी भी नही की जा सकती।

ऐसी वातें देखकर यही मानना पड़ता है कि संसारका कोई भी एक वुद्धिमान् प्रवन्धकर्ता नही है। वल्कि वस्तु स्वभावके द्वारा और उसीके अनुसार ही जगतका सव प्रवन्ध चल रहा है। खेद है कि मनुष्योने वस्तु स्वभावको न समझकर ससारका एक प्रवन्धकर्ता मान लिया है। पृथ्वीपर राजाको मनुष्योके वीचमें प्रवन्ध सम्वन्धी कार्य करता हुआ देखकर सारे संसारके प्रवन्धकर्ताको भी वैसा ही मान लिया है। जिस प्रकार राजा लोग खुशामद और स्तुतिसे प्रसन्न होकर खुशामद करने-

वालोंके वशमें हो जाते है और उनकी इच्छाके अनुसार ही कार्य करने लग जाते है उसी प्रकार दुनियाके लोगोने भी संसारके प्रवन्धकर्ताको खुशामद या स्तुतिसे प्रसन्न होनेवाला मानकर उसकी भी खुशामद करना शुरू कर दिया है और अपने आचरणोंको सुधारना छोड बैठे है। इसी वजहसे ससारमे पापोंकी वृद्धि होती जाती है। जब मनुष्य इस भ्रामक विचारको हृदयसे दूर करके वस्तु स्वभावके अटल सिद्धान्त-को मानने लग जायेंगे, तभी उनके चित्तमे यह विचार जड पकड सकता है कि जिस प्रकार आँखोमे मिर्च और घावपर नमक डाल देनेसे दर्दका होना आवश्यक है वह दर्द किसीकी खुशामद या स्तुतिसे दूर नही हो सकता, जबतक कि मिर्च या नमकका असर दूर न कर दिया जाये। उस ही प्रकार जैसा हमारा आचरण होगा वैसा ही उसका फल भी हमे अवश्य भोगना पडेगा। किसीकी खुशामद या स्तुतिसे उसे टाला नही जा सकता। 'जैसी करनी वैसी भरनी' के सिद्धान्त-पर पूर्ण विश्वास हो जानेपर ही यह मनुष्य बुरे कृत्योंसे बच सकता है और भले कृत्योंकी तरफ लग सकता है। परन्तु जब तक मनुष्यको यह ख्याल बना रहेगा कि खुशामद करने, केवल स्तुतियाँ पढने या भेंट चढाने आदिके द्वारा भी मेरे अपराध क्षमा हो सकते है तबतक वह बुरे कामोसे नही बच सकता और न अच्छे कामोंकी तरफ लग सकता है। अत संसारके लोगोंको चाहिये कि वे वस्तु स्वभावके अटल सिद्धान्तपर विश्वास लावे, अपने अपने भले बुरे कृत्योंका फल भुगतनेके लिये सदा तैयार रहे और किसीकी खुशामद या स्तुति करनेसे उनका फल टल जाना बिल्कुल ही असंभव समझे। ऐसा मान लेनेपर ही मनुष्योंको अपने ऊपर पूरा भरोसा होगा, वे अपने पैरोंपर खडे होकर अपने आचरणोंको ठीक बनानेका प्रयत्न करेंगे और तभी दुनियासे सब पाप और अन्याय दूर हो सकेंगे। नही तो, किसी प्रवन्धकर्ताको माननेकी अवस्थामे हृदयमे अनेक भ्रम उत्पन्न होते रहेंगे और दुनियाके लोग पापोंकी तरफ ही झुकते रहेंगे। जैसे, कोई एक तो यह सोचेगा कि यदि उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको मुझसे पाप कराना मंजूर नही होता

तो वह मेरे मनमें पाप करनेका विचार ही क्यों आने देता। दूसरा विचारेगा कि यदि वह मुझसे इस प्रकारके पाप कराना न चाहता तो वह मुझे ऐसा बनाता ही क्यो ? तीसरा कहेगा कि यदि वह पापोको न कराना चाहता तो पापोंको पैदा ही क्यों करता। चौथा सोचेगा कि अब तो यह पाप कर ले फिर उस सर्वशक्तिमानकी खुशामद करके उसे भेट चढाकर अपराध क्षमा करा लेगे। सारांश यह है कि ससारका प्रबन्धकर्ता माननेकी अवस्थामे तो लोगोंको पाप करनेके लिये सैकड़ो बहाने बनानेका अवसर मिलता है, परन्तु वस्तु स्वभावके अनुसार ही संसारका सब कार्य चलता हुआ माननेकी अवस्थामें इसके सिवाय कोई विचार ही नही उठ सकता कि जैसा करेंगे वैसा ही हम उसका फल भी पावेगें। एसा माननेपर ही हम बुरे आचरणोंसे बच सकते है और अच्छे आचरणोकी ओर लग सकते है। अत. किसी प्रबन्धकर्त्ताकी खुशामद करके या भेट चढ़ाकर उसको राजी कर लेनेके भरोसे न रहकर हमको स्वयं अपने आचरणोको सुधारनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये और यही श्रद्धान रखना चाहिये कि यह विश्व अनादि-निधन है इसका कोई एक बुद्धिमान प्रबन्धकर्ता नही है।

७ जैनदृष्टिसे ईश्वर

'ईश्वर' शब्दके सुनते ही हमे जिन अर्थोका बोध होता है वे है-ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, सर्वशक्तिमान्, स्वामी, अधिकारी, कर्ता-हर्ता आदि। इस लोकमें जो दर्जा एक स्वतंत्र सम्राट्का है वही परलोकमे ईश्वर या परमेश्वरका माना जाता है। जैसे किसी राजवशमे जन्म लेनेवालोको सम्राट्पद अनायास प्राप्त हो जाता है, उसके लिये उन्हे कुछ भी प्रयत्न नही करना पड़ता, वैसे ही वह ईश्वर भी अनादिकालसे संसारके कारण क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओसे सर्वथा अछूता है, उनका विनाश कर देनेसे उसे ईश्वरत्वपद प्राप्त नही हुआ है, किन्तु सदासे ही उनस वह सर्वथा रहित है। इसीलिये वह सबसे बडा है, सबका गुरु है, सबका ज्ञाता है। जो संसारी जीव क्लेश कर्म आदिको नष्ट

करके मुक्त होते है, वे कभी भी उसके बराबर नही हो सकते। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है, क्योंकि कालके द्वारा उसका कभी नाश नही होता। ऐसे अनादि-अनन्त पुरुषविशेषको ईश्वर कहा जाता है। किन्तु जैनधर्ममे इस प्रकारके ईश्वरके लिये कोई स्थान नही है। उसका कहना है—

'नास्पृष्ट कर्मभि शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तित ॥८॥' आप्तप०।

'कोई सर्वद्रष्टा सदासे कर्मोसे अछूता हो नही सकता, क्योंकि बिना उपायके उसका सिद्ध होना किसी भी तरह नही बनता।'

असलमे ईश्वरको अनादि माननेके कारण उसे सदा कर्मोसे अछूता माना गया है और चूंकि वह सृष्टिका रचयिता है इसलिये उसे अनादि माना गया है। किन्तु जैनधर्म किसीको इस विश्वका रचयिता नही मानता, जैसा कि हम पहले बतला आये है। अत वह किसी एक अनादिसिद्ध परमात्माकी सत्तासे इंकार करता है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नही, बल्कि असंख्य है। अर्थात् जैनधर्मके अनुसार इतने ईश्वर है कि उनकी गिनती नही हो सकती। उनकी संख्या अनन्त है और आगे भी वे बराबर अनन्तकाल तक होते रहेंगे, क्योंकि जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतत्र सत्ताको लिये हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसे अनन्त आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होगे। ये मुक्त जीव ही जैनधर्मके ईश्वर है। इन्हीमें-से कुछ मुक्तात्माओंको जिन्होने मुक्त होनेसे पहले ससारको मुक्तिका मार्ग बतलाया था, जैनधर्म तीर्थङ्कर मानता है।

जैनधर्मका मन्तव्य है कि अनादिकालसे कर्मबन्धनसे लिप्त होनेके कारण जीव अल्पज्ञ हो रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोके द्वारा उसके स्वाभाविक ज्ञान आदि सद्गुण ढंके हुए है। इन आवरणो-के दूर होनेपर यह जीव अनन्त ज्ञान आदिका अधिकारी होता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। जो जो महापुरुष कर्मबन्धनको काटकर मुक्त हुए

है, वे सब सर्वज्ञ है। कर्म जीवके स्वाभाविक गुणोका पूर्ण विकास नही होने देता। उसके दूर होनेपर प्रत्येक जीव अपनी अपनी स्वाभाविक शक्तियोंको प्राप्त कर लेता है। मतलब यह है कि जीवोका कर्मबन्धन तथा जीवोंका मर्यादित किन्तु हीनाधिक ज्ञान इस बातको बतलाता है कि जीवोंकी मुक्ति तथा उनकी सर्वज्ञता असंभव वस्तु नही है तथा जो जो सर्वज्ञ होता है वह कर्मबन्धनको काटकर ही सर्वज्ञ होता है उसके बिना कोई सर्वज्ञ हो नही सकता। इसलिये अनादि सिद्ध को नही है।

कर्मबन्धनका विशेष वर्णन आगे कर्मसिद्धान्तमें किया गया है चार घातिकर्मोका नाश करके यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञका दूसरा नाम केवली भी है। क्योकि उसका ज्ञान और दर्शन आत्माके सिवा किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं करता, अत. वह केवली कहा जाता है। उसे जीवन्मुक्त भी कहा जा सकता है, क्योकि यद्यपि अभी वह सशरीर है, किन्तु घातिकर्मोके नष्ट हो जानेके कारण मुक्तात्माके ही समान है। वह चार घातियाकर्मोका नाश कर देता है इसलिये उसे 'अरिहंत' भी कहते हैं। उसे ही 'जिन' कहते है, क्योकि वह कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेता है। ये केवली जिन दो प्रकारके होते है—एक सामान्य केवली और दूसरे तीर्थङ्कर केवली। सामान्य केवली अपनी ही मुक्तिकी साधना करते है, किन्तु तीर्थङ्कर केवली अपनी मुक्तिकी साधनाके बाद संसारी जीवोंको भी मुक्तिका-समस्त दु खोंसे छूटनेका मार्ग बताते है। इनके उपदेशसे संसारके अनेक जीव तर जाते है इसलिये वे तीर्थ-स्वरूप गिने जाते है।

जैसे ब्राह्मणधर्ममे रामचन्द्रजी आदिको अवताररूप माना जाता है या बौद्धधर्ममें बुद्धकी मान्यता है वैसे ही जैनधर्ममें तीर्थङ्करोंकी मान्यता है। किन्तु ये तीर्थङ्कर किसी परमात्माका अवताररूप नहीं होते, बल्कि संसारी जीवोंमेंसे ही कोई जीव प्रयत्न करते-करते लोककल्याणकी भावनासे तीर्थङ्करपद प्राप्त करता है। जब कोई तीर्थङ्करपद प्राप्त करनेवाला जीव माताके गर्भमें आता है तब तीर्थङ्करके

माताको सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते है। तीर्थङ्करोके गर्भावतरण, जन्माभिषेक, जिनदीक्षा, केवलज्ञानप्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति ये पञ्च महाकल्याणक होते है, जिनमे इन्द्रादिक भी सम्मिलित होते है। इन पञ्च महाकल्याणकरूप पूजाके कारण तीर्थङ्करको 'अर्हत्'[1] भी कहा जाता है।

तीर्थङ्कर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्यके धारी होते है। ये साक्षात् भगवान् या ईश्वर होते है। जैनसाहित्यमे इनके ऐश्वर्यका बहुत वर्णन मिलता है। ये जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारी होते है। जन्मसे ही इनका शरीर अपूर्व कान्तिमान् होता है। इनके निश्वासमें अपूर्व सुगन्धि रहती है। इनके शरीरका रक्त और मांस सफेद होता है। केवलज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अर्थात् अर्हत् पद प्राप्त कर लेनेपर उनका उपदेश सुननेके लिये पशु-पक्षी तक इनकी सभामे उपस्थित होते है। इस सभाको 'समवसरण' कहते है, जिसका अर्थ होता है 'समानरूपसे सबका शरणभूत' अर्थात् जिसकी शरणमे सब आते है। इस सभामें बारह प्रकोष्ठ होते है, जिनमे एक प्रकोष्ठ पशुओंके लिये भी होता है। तीर्थङ्करकी वाणीको पशु भी समझ लेते है। जहाँ जहाँ इनका विहार होता है वहाँ वहाँ रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि रह नहीं सकते। तीर्थङ्कर भगवान्के पधारनेके साथ ही देशमें सर्वत्र शान्ति छा जाती है। कैवल्यलाभ करनेके पश्चात् ये अपना शेष जीवन ससारके प्राणियोंका उद्धार करनेमें ही व्यतीत करते है। इसीसे जैनोके परमपवित्र पञ्च नमस्कार मंत्रमे अरिहंतको प्रथम स्थान दिया गया है-

णमो अरिहंताण—अर्हन्तोको नमस्कार हो।

---

१ सम्भवत. इस 'अर्हत्' नाम परसे हिन्दू पुराणकारोने यह कल्पना कर डाली है कि किसी 'अर्हत्' नामके राजाने जैनधर्मकी स्थापना की थी। अर्हत् किसीका नाम नही है बल्कि जैन तीर्थंकरोका एक पद है। इस पदको प्राप्त कर लेनेपर ही वे जीवन्मुक्त होकर ससारको कल्याणका मार्ग बतलाते है, वही मार्ग उनके 'जिन' नाम परसे जैनधर्म कहा जाता है।

जब इन अर्हन्तोकी आयु थोडी शेष रह जाती है तब ये योगका
नरोध करके बाकी बचे चार अघातिया कर्मोको भी नष्ट कर देते
। चारों अघातिया कर्मोका भी नाश होनेपर इन्हें मुक्तिकी प्राप्ति
ोती है। इनका शरीर यही छूट जाता है और अपने स्वाभाविक ज्ञानादि
ुणोंसे युक्त केवल शुद्ध आत्मा रह जाता है, जो मुक्त होनेके पश्चात्
वाभाविक उद्र्ध्वगमनके द्वारा लोकके ऊपर अग्रभागमें जाकर ठहर
ाता है। मुक्त होनेके पश्चात् सामान्य केवली और तीर्थंकर केवलीमें
ोई अन्तर नही रहता, दोनोंको एक ही प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती
। यद्यपि संसारमे सामान्य केवलीकी अपेक्षा तीर्थङ्कर केवली
धिक पूजनीय माने जाते है, क्योंकि तीर्थङ्कर केवलीसे ससारको
हुत लाभ पहुँचता है, किन्तु मुक्त होनेपर दोनोंमें इस तरहका कोई
न्तर नही रहता। संसार अवस्थामें जो कुछ अन्तर था वह तीर्थङ्कर
दके कारण था। मुक्त होनेपर इस पदसे भी मुक्ति मिल जाती है,
त. मुक्तिमें सामान्य केवली और तीर्थङ्कर केवलीमें कोई भेद नही
हता। दोनों मुक्त कहे जाते है। मुक्तोंको जैनसिद्धान्तमें 'सिद्ध'
ी कहते है। यद्यपि अर्हन्तोसे सिद्धोंका पद ऊँचा है; क्योंकि अर्हन्त
र्मवन्धनसे सर्वथा मुक्त नही होते और सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते
, तथापि सिद्धोको अर्हन्तोंके बाद नमस्कार किया गया है। यथा—

णमो सिद्धाणं—सिद्धोंको नमस्कार हो।

इस प्रकार जैनदृष्टिसे अर्हन्तपद और सिद्धपदको प्राप्त हुए जीव
ी ईश्वर कहे जाते है। प्रत्येक जीवमे इस प्रकारके ईश्वर होनेकी
ाक्ति है। परन्तु अनादिकालसे कर्मवन्धनके कारण वह शक्ति ढकी
ुई है। जो जीव इस कर्मवन्धनको तोड़ डालता है उसके ही ईश्वर
ोनेकी शक्तियाँ प्रकट हो जाती है और वह ईश्वर बन जाता है।
स तरह ईश्वर किसी एक पुरुषविशेषका नाम नही है। किन्तु अनादि-
ालसे जो अनन्त जीव अर्हन्त और सिद्धपदको प्राप्त हो गये है और
ागे होगे उन्हीका नाम ईश्वर है।

जैनधर्मके ये ईश्वर संसारसे कोई सम्बन्ध नही रखते। न सृष्टिके संचालनमे उनका हाथ है, न वे किसीका भला बुरा करते है। न वे किसीके स्तुतिवादसे कभी प्रसन्न होते है और न किसीके निन्दावादसे अप्रसन्न। न उनके पास को' ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य या वैभवके नामसे पुकार सके, न वे किसीको उसके अपराधोंका दण्ड देते है। जैनसिद्धान्तके अनुसार सृष्टि स्वयसिद्ध है। जीव अपने अपने कर्मोके अनुसार स्वय ही सुख दु ख पाते है। ऐसी अवस्थामें मुक्तात्माओ और अर्हन्तोको इन सब झंझटोमे पड़नेकी आवश्यकता ही नही है; क्योकि वे कृतकृत्य हो चुके है, उन्हे अब कुछ करना बाकी नही रहा है।

सारांश यह है कि जैनधर्ममे ईश्वररूपमे माने हुए अर्हन्तों और मुक्तात्माओका उस ईश्वरत्वसे कोई सम्बन्ध नही है जिसे अन्य लोग ससारके कर्ता हर्ता ईश्वरमें कल्पना किया करते है। उस ईश्वरत्वकी तो जैनदर्शनके विविध ग्रन्थोमें बड़े जोरोंके साथ आलोचना की गई है। और उस दृष्टिसे जैनधर्मको अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। उसमे इस तरहके ईश्वरके लिये कोई स्थान नही है।

८ उसकी उपासना

क्यों और कैसे ?

जैनोंमें मूर्तिपूजाका प्रचलन बहुत प्राचीन है। सम्राट् खारवेलके शिलालेखमें कलिङ्गपर चढाई करके नन्दद्वारा अग्रजिन (श्रीऋषभदेव) की मूर्तिको ले जानेका और मगधपर चढाई करके खारवेलके द्वारा उसे प्रत्यावर्तन करके लानेका उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि आजसे लगभग अढाई हजार वर्ष पूर्व राजघरानोंतकमे जैनोके प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेवकी मूर्तिकी पूजा होती थी। स्वामी दयानन्द तो जैनोसे ही मूर्तिपूजाका प्रचलन हुआ मानते है। यों तो भारतके प्राय. सभी प्राचीन धर्मोमे मूर्तिपूजा प्रचलित है, किन्तु जैनमूर्तिके स्वरूप, उसकी पूजाविधि तथा उसके उद्देश्यमे अन्यधर्मोसे

बहुत अन्तर है। जो उसे समझ लेगा वह मूर्तिपूजाको व्यर्थ कहनेका साहस नही कर सकता।

जैनधर्ममें पाँच पद बहुत प्रतिष्ठित माने गये है—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हे पंच परमेष्ठी कहते है। जैनोके परमपवित्र पंचनमस्कार मंत्रमे इन्ही पंचपदोंको नमस्कार किया गया है। ये ही पाँच पद जैनधर्ममे वंदनीय और पूजनीय है।

जो चार घातिया कर्मोको नष्ट करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप स्वचतुष्टयको प्राप्त कर लेते हैं, उन परम औदारिक शरीरमे स्थित शुद्ध आत्माको अर्हन्त कहते है, जिनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। ये जीवन्मुक्त होते है। जो आठों कर्मोसे और शरीरसे भी रहित हो जाते है, लोकालोकके जानने और देखनेवाले, सिद्धालयमें विराजमान उस पुरुषाकार आत्माको सिद्ध कहते है। और यह मुक्त होते है। जो साधु साधुसंघके प्रधान होते है, पाँच प्रकारके आचारका स्वयं भी पालन करते है और अपने संघके अन्य साधुओंसे भी पालन कराते है, वे आचार्य कहे जाते है। जो साधु समस्त शास्त्रोके पारगामी होते है, अन्य साधुओको पढाते है तथा सदा धर्मका उपदेश करनेमे लगे रहते है, उन्हें उपाध्याय कहते है।

जो विषयोकी आशाके फन्देसे निकलकर सदा ज्ञान, ध्यान और तपमे लीन रहते हैं, जिनके पास न किसी प्रकारकी परिग्रह होती है और न कोई ठगविद्या, मोक्षका साधन करनेवाले उन शान्त, निस्पृही और जितेन्द्रिय मुनिको साधु कहते है।

इन पाँच परमेष्ठियोमेंसे अर्हन्त परमेष्ठीकी मूर्ति जैनमन्दिरोमें बहुतायतसे विराजमान रहती है। यद्यपि वे मूर्तियाँ जैनोके २४ तीर्थङ्करोमेसे किसी न किसी तीर्थङ्करकी ही होती है, किन्तु होती अर्हन्त अवस्थाकी ही है, क्योकि तीर्थङ्कर पदका वास्तविक कार्य धर्मतीर्थ प्रवर्तन है, जो अर्हन्त अवस्थामे ही होता है। तीर्थङ्कर भी

अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त किये बिना पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ नहीं होते और बिना वीतरागता और सर्वज्ञताके धर्मतीर्थका प्रवर्तन नही हो सकता। अत धर्मतीर्थके प्रवर्तक जैन तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ जैनमन्दिरोमे बहुतायतसे पाई जाती हैं। ये मूर्तियाँ पद्मासन भी होती है और खड्गासन भी होती हैं, किन्तु होती सभी ध्यानस्थ है। एक आत्मध्यानमें लीन योगीकी जैसी आकृति होती है वैसी ही आकृति उन मूर्तियोंकी होती हैं।

भगवद्गीतामे योगाभ्यासीका चित्रण करते हुए लिखा है—

'समं कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभी र्ब्रह्मचारिव्रते स्थित.।
मन. सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ॥१४॥' अ० ६

भावार्थ—शरीर, सिर और गर्दनको सीधा रखकर, निश्चल हो, इधर उधर न देखते हुए, स्थिर मनसे अपनी नाकके अग्रभागपर दृष्टि रखकर प्रशान्त आत्मा, निर्भय हो, ब्रह्मचर्य व्रतमे स्थित होकर तथा मनको वशमें करके मेरेमे मनको लगा।

जैनमूर्तिकी भी बिल्कुल ऐसी ही मुद्रा होती है। उसकी दृष्टि नाकके अग्र भागपर रहती है। शरीर, सिर और गर्दन एक सीधमें रहते हैं। पद्मासनमे बाईं हथेलीके ऊपर दाईं हथेली खुली होती है। और खड्गासनमे दोनों हाथ जानुतक लटके रहते हैं। चेहरेपर शान्ति, निर्भयता और निर्विकारता खेलती रहती है। शरीरपर विकारको ढाकनेके लिये न कोई आवरण होता है और न सौंदर्यको चमकानेके लिये कोई आभरण रहता है। न हाथमें कोई अस्त्र शस्त्र ही होता है। भगवत्गीतामे कही हुई जिस योगमुद्रासे योगी निर्वाण लाभ करते हैं, वही मुद्रा जैनमूर्तिमे अंकित रहती है। देखनेवालेको यही प्रतीत होता है कि वह किसी प्रशान्तात्मा योगीकी मूर्तिका दर्शन कर रहा है। न वहाँ राग है और न वैर-विरोध।

सिद्धोंकी भी मूर्ति रहती है, किन्तु चूंकि सिद्ध परमेष्ठी देहरहित

होते है, इसलिये पीतलकी चादरके बीचमेसे मनुष्याकारको काटकर मनुष्याकाररूप खाली स्थान छोड़ दिया जाता है। आचार्य, उपाध्याय और साधुकी भी मूर्तियाँ कही कही पाई जाती है। इनकी मूर्तियोमे साधुके चिह्न पीछी और कमण्डलु अंकित रहते हैं। सारांश यह है कि जैनमूर्ति जैनोके आराध्य पञ्चपरमेष्ठियोंकी प्रतिकृतिरूप होती है।

जिनमन्दिरमे जाकर देवदर्शन करना प्रत्येक जैन श्रावक और श्राविकाका नित्य कर्तव्य है। वहाँ वह यह विचारता है कि यह मन्दिर जिन भगवानका समवसरण—उपदेशसभा है, वेदीमे विराजमान जिनकी मूर्ति ही जिनेन्द्रदेव है, और मन्दिरमे उपस्थित स्त्री पुरुष ही श्रोतागण है। ऐसा विचार करके अच्छी अच्छी स्तुतियाँ पढते हुए जिन भगवान्को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देता है। और यदि पूजन करना होता है तो पूजा भी करता है। पूजामे सबसे पहले जलसे मूर्तियोंका अभिषेक किया जाता है। कही कही दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधी रससे भी अभिषेक करनेकी पद्धति है। अभिषेकके पश्चात् पूजन किया जाता है। यह पूजन जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्योसे किया जाता है। एक एक पद्य बोलते जाते है और नम्बरवार एक एक द्रव्य चढाते जाते है। द्रव्य चढाते समय द्रव्य चढ़ानेका उद्देश्य बोलकर द्रव्य चढाते है। यथा—मैं जन्म, जरा और मृत्युके विनाशके लिये जल चढ़ाता हूँ। अर्थात् जैसे जलसे गन्दगी दूर हो जाती है वैसे ही मेरे पीछे लगे हुए ये रोग धुलकर दूर हो जावें। मैं संसाररूपी सन्तापकी शान्तिके लिये चन्दन चढाता हूँ २। मैं अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्तिके लिये अक्षत चढाता हूँ ३। मैं कामके विकारको दूर करनेके लिये पुष्प चढाता हूँ ४। मै क्षुधारूपी रोगको दूर करनेके लिये नैवेद्य चढाता हूँ ५। मै अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये दीप चढाता हूँ ६। मैं आठों कर्मोंको जलानेके लिये धूप चढाता हूँ ७। यह धूप अग्निमें चढाई जाती है। मैं मोक्षफलकी प्राप्तिके लिये फल चढ़ाता हूँ ८। एक एक करके आठो द्रव्य

चढानेके बाद आठों द्रव्योंको मिलाकर चढ़ाया जाता है उसे 'अर्घ्य' कहते हैं। यह भी अनर्घ अर्थात् अमूल्यपदकी प्राप्ति के उद्देश्यसे चढाया जाता है।

इस प्रकार पूजाका उद्देश्य भी अपने विकारों और विकारोंके कारणोंको दूर करके चरम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति ही रखा गया है। पूजाके दो भेद किये गये हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। शरीर और वचनको पूजनमें लगाना द्रव्यपूजा है और उसमे मनको लगाना भावपूजा है। शरीरको लगानेके लिये द्रव्य रखे गये है, जिससे हाथ वगैरहका उपयोग उनके चढानेमे ही होता रहता है। और वचनको उसमे लगानेके लिये पद्य रखे गये हैं जिन्हे पढ पढ करके द्रव्य चढाया जाता है इस तरह मनुष्यका शरीर और वचन पूजनमे रहनेपर भी यदि उसका मन उसमे न रम रहा हो तो वह पूजन बेकार ही है क्योकि बिना भावके कोई क्रिया फलदायक नही होती। जैसा कि कल्याणमन्दिरस्तोत्रमें कहा भी है—

'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नून न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्र
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या. ॥३८॥'

'हे जनबन्धु ! तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा कर भी और तुम्हें बारम्बार देखकर भी अवश्य ही मैंने भक्तिपूर्वक तुम्हें अपने हृदयमे स्थापित नही किया। इसीसे मैं दुःखोंका पात्र बना। क्योंकि भावशून्य क्रिया कभी भी फलदायी नही होती।'

अत द्रव्य पूजाके साथ—शारीरिक और वाचनिक पूजाके साथ साथ—भावपूजाका—मानसिक पूजाका होना आवश्यक है। किन्तु भावपूजा ऊपर कहे गये आठ द्रव्योके बिना भी हो सकती है। द्रव्य तो मन, वचन और कायको लगानेके लिये एक आलम्बनमात्र है।

इस प्रकार जैनमूर्तिका स्वरूप और उसकी पूजाविधि बतलाकर उसके उद्देश्यपर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

भित ! तुम्हारी जय हो। भव्य जीवोको स्वानुभव करानेमें कारण परमशान्त मुद्राके धारक ! तुम्हारी जय हो। हे देव ! भव्यजीवोंके भाग्योदयसे आपका दिव्य उपदेश होता है, जिसे सुनकर उनका भ्रम दूर हो जाता है। हे देव ! तुम्हारे गुणोंका चिन्तन करनेसे अपने परायेका भेद मालूम हो जाता है। अर्थात् तुम्हारे आत्मिक गुणोंका विचार करनेसे मैं यह जान जाता हूँ कि आत्मा और शरीरमें तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले कुटुम्बी जन धन-सम्पत्ति आदिमें कितना अन्तर है; क्योंकि तुम्हारी आत्मामे जो गुण है वैसे ही गुण मेरी आत्मामें भी मौजूद हैं मगर मै उन्हे भूला हुआ हूँ। अत तुम्हारे गुणोंका चिन्तन करनेसे मुझे अपने गुणोंका भान हो जाता है और उससे मै 'स्व' और 'पर' पहचानने लगता हूँ, जिससे मै अनेक आपदाओंसे—मुसीवतोंसे बच जाता हूँ। हे देव ! तुम संसारके भूषण हो; क्योंकि तुम सब दूषणों और संकल्प विकल्पोंसे मुक्त हो। तुम शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमपावन परमात्मा हो। तुमने शुभ और अशुभरूप विभाव परिणतिका अभाव कर दिया है। हे धीर ! तुम अठारह दोषोंसे रहित हो और अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-वीर्यरूप स्वचतुष्टयमें विराजमान हो। मुनि गणपति वगैरह तुम्हारी सेवा करते है। तुम नौ केवल लब्धिरूपी आध्यात्मिक लक्ष्मीसे सुशोभित हो। तुम्हारे उपदेशोपर चलकर अगणित जीवोने मुक्तिलाभ किया है, करते हैं तथा सदा करेंगे। 'यह भवरूपी समुद्र दु खरूपी खारे पानीसे पूर्ण है, इसे पार करानेमें आपके सिवा और कोई समर्थ नही है।' यह देखकर और 'मेरे दु खरूपी रोगको दूर करनेका इलाज तुम्हारे ही पास है' यह जानकर मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ और चिरकालसे मैंने जो दु ख उठाये हैं उन्हे वतलाता हूँ। मैं अपनेको भूलकर चिरकालसे इस संसारमें भटक रहा हूँ, मैंने विधिके खेल, पुण्य और पापको ही अपना समझा और अपनेको परका कर्ता मानकर तथा परमें इष्ट या अनिष्टकी कल्पना करके अज्ञानवश मै व्याकुल हुआ हूँ। जैसे मृग मारीचिकाको पानी समझ लेता है वैसे ही मैंने

शरीरको ही आत्मा माना और कभी भी आत्मरसका अनुभव नहीं किया।'

'हे जिनेश ! तुमको न जानकर मैंने जो क्लेश उठाये उन्हे तुम जानते हो। पशुगति, नरकगति और मनुष्यगतिमे जन्म ले लेकर मैं अनन्तवार मरा। अब काललब्धिके आ जानेसे—मुक्तिलाभका काल समीप आ जानेसे तुम्हारे दर्शन पाकर मै बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। मेरा मन शान्त हो गया है। मेरे सब द्वन्द्व फन्द मिट गये है और मैंने दु खोका नाश करनेवाले आत्मरसका स्वाद चख लिया है। हे नाथ ! अब ऐसा करो कि तुम्हारे चरणोका साथ कभी न छूटे। (और इसके लिये) आत्माका अहित करनेवाले पाँचों इन्द्रियोके विषयोमे और क्रोधादि कषायोंमे मेरा मन कभी न रमे। मैं अपने आपमे ही मग्न रहूँ। भगवन् ! ऐसा करो जिससे मै स्वाधीन हो जाऊँ। हे ईश ! मुझे और कुछ चाह नहीं है, मुझे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्ररूपी रत्नत्रय चाहिये। मेरे कार्य के कारण आप हैं। मेरा मोहरूपी संताप हरकर मेरा कार्य करो। जैसे चन्द्रमा स्वयं ही शान्ति भी देता है और अन्धकारको भी हरता है, वैसे ही कल्याण करना तुम्हारा स्वभाव ही है। जैसे अमृतके पीनेसे रोग चला जाता है वैसे ही तुम्हारा अनुभवन करनेसे ससाररूपी रोग नष्ट हो जाता है। तीनो लोको और तीनों कालोमे तुम्हारे सिवा अन्य कोई आत्मिक सुखका दाता नही है आज मेरे मनमें यह निश्चय हो गया है। तुम दु खोके समुद्रसे पार उतारनेके लिये जहाजके समान हो'।

इस स्तुतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति मनुष्यके चंचल चित्तको लगानेके लिये एक आलम्वन है। उस आलम्बनको पाकर मनुष्यका चंचल चित्त क्षण भरके लिये उन महापुरुषोंके गुणानुवादमें रम जाता है, जो किसी समय हमारी ही तरह संसारमें भटक रहे थे। किन्तु उन्होंने स्वयं अपने पैरोंपर खड़े होकर अपनेको पहचाना और आत्मलाभ करके दुनियाके कल्याणकी भावनासे उस मार्गको बतलाया जिसपर

चलकर उन्होने स्वयं मुक्तिलाभ किया। उनके गुणानुवादका प्रयोजन उन्हे रिझाना या प्रसन्न करना नही है। वे तो राग-द्वेपकी इस घाटीसे वहुत दूर है। न वे किसीकी स्तुतिसे प्रसन्न होते है और न निन्दासे नाराज। किन्तु उनके गुणोंका कीर्तन करनेसे हमें अपने गुणोंका वोध होता है, क्योकि जो गुण उनमें है वही हममें भी है, किन्तु हम अपनेको भूले हुए है। अत उनका गुणानुवाद हमें अपनी स्मृति कराकर बुरे कामोसे वचाता है। कहा भी है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तयापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्न. पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्य.॥५७॥'

—वृहत्स्वयं०।

अर्थ—हे नाथ! तुम वीतराग हो इसलिये तुम्हें अपनी पूजासे कोई प्रयोजन नही है। और चूंकि तुम वीतद्वेष हो इसलिये निन्दासे भी कोई प्रयोजन नही है। फिर भी तुम्हारे पुण्य गुणोंकी स्मृति हमारे चित्तको पापरूपी कालिमासे वचाती है।

अत. मूर्तिपूजाका उद्देश्य मूर्तिमे अकित भावोको अपनेमें लाकर जिसकी वह मूर्ति है उसके ही समान अपनेको वनाना है। अर्थात् जो जैसा होना चाहता है वह अपने सामने वैसा ही आदर्श रखता है। जैनधर्मका उद्देश्य आत्माको समस्त कर्मवन्धनोसे छुड़ाकर उसके असली स्वरूपकी प्राप्ति कराना है जिसे वह भूला हुआ है। अतः उसका आदर्श वे पुनीत आत्माएँ है, जिन्होंने अपनेको वैसा वना लिया है। उन्ही आदर्शोंकी मूर्तिमें स्थापना करके सच्चा जैन अपनेको वैसा ही वनानेका प्रयत्न करता है।

प्रत्येक जैनमन्दिरमें शास्त्रभंडार भी रहता है, जिसमे जैनशास्त्रोंका संग्रह होता है। जो दर्शन या पूजनके लिये जाता है उसे दर्शन या पूजन कर चुकनेके वाद शास्त्रस्वाध्याय भी अवश्य करनी होती है; क्योकि उन शास्त्रोंको जाने विना दर्शक या पूजक उन जैन तीर्थङ्करोके उपदेशों और उनके जीवनवृत्तोंको नही जान सकता जिनकी मूर्तिको वह पूजता है। और उनके जाने विना मूर्तिसे उसे जिस आदर्शकी शिक्षा

मिलती है उस आदर्शको वह प्राप्त नही कर सकता। क्योकि मूर्ति तो मनुष्यके उच्च आदर्शकी ओर संकेतमात्र करती है, केवल वही उसे उच्च आदर्श प्राप्त नहीं करा सकती। जैसे, जब बालक वर्णमाला सीखता है तो उसका हाथ साधनेके लिये पट्टीपर पेंसिलसे वर्णमालाके आँवटे लिख दिये जाते हैं। बच्चा उन आंवटोपर ही अपनी कलम चलाता है। जबतक उसका हाथ नही सधता और वह इस योग्य नही हो जाता कि बिना आंवटोके भी स्वयं अक्षर लिख सके, तबतक उसे बराबर आंवटोंका सहारा लेना पडता है। किन्तु जब उसका हाथ सध जाता है तब आवटोंकी जरूरत नही रहती और वह बिना किसी सहारेके स्वय लिखने लग जाता है। उसी तरह मूर्तिके साहाय्यकी भी तभी तक जरूरत रहती है जब तक दर्शकका दृष्टिकोण अपने आदर्शकी ओर पूरी तरहसे नही होता। जब दर्शक अपने आदर्शकी ओर अग्रसर होकर उसीकी साधनामे लग जाता है, और इस तरह उस पथका साधक बन जाता है तब उसके लिये मूर्तिका दर्शन करना आवश्यक नही रहता।

अत. जैनोंकी मूर्तिपूजा उस आदर्शकी पूजा है जो प्राणिमात्रका सर्वोच्च लक्ष है। उसके द्वारा पूजकको अपने आदर्शका भान होता है, उसे वह भुला नही सकता। प्रतिदिन प्रात काल अन्य सब कार्य करनेसे पहले मन्दिरमे जाना इसीलिये अनिवार्य रखा गया है कि मनुष्य अर्थ और कामके पचड़ेमें पड़कर अपने उस सर्वोच्च लक्षको भूल न जाये। तथा जिन महापुरुषोने उस सर्वोच्च लक्षको प्राप्त कर लिया है उनका गुणानुवाद करके उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सके और शान्ति तथा विरागताके उस दर्पणमे अपनी कलुषित आत्माका प्रतिबिम्ब देखकर उसके परिमार्जन करनेका प्रयत्न करसके।

ऐसे सर्वोच्च लक्षका भान करानेके लिये निर्मित जैन-मन्दिरोके बारेमे जब हम एक पुरानी उक्ति सुनते हैं—

'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्'

अर्थात्—'हाथीके द्वारा मारे जानेपर भी जैन मन्दिरमें नहीं जाना चाहिये।'

तो हमें बडा अचरज होता है। तत्कालीन साम्प्रदायिक मनोवृत्तिके सिवा इसका कोई दूसरा कारण हमारे दृष्टिगोचर नही होता। अस्तु,

हम पहले लिख आये है कि जैनमूर्ति निरावरण और निराभरण होती है। जो लोग सवस्त्र और सालङ्कार मूर्तिकी उपासना करते है उन्हें शायद नग्नमूर्ति अश्लील प्रतीत होती है। इस सम्बन्धमे हम अपनी ओरसे कुछ न लिखकर सुप्रसिद्ध साहित्यिक काका कालेलकरके वे उद्‌गार यहाँ अकित करते है जो उन्होंने श्रमण बेलगोला (मैसूर) में स्थित बाहुबलिकी प्रशान्त किन्तु नग्नमूर्तिको देखकर अपने एक लेखमें व्यक्त किये थे। वे लिखते है—

'सासारिक शिष्टाचारमे आसक्त हम इस मूर्तिको देखते ही मनमें विचार करते है कि यह मूर्ति नग्न है। हम मनमें और समाजमे भांति भांतिकी मैली वस्तुओका संग्रह करते है, परन्तु हमे उससे नही होती है घृणा और नही आती है लज्जा। परन्तु नग्नता देखकर घबराते है और नग्नतामे अश्लीलताका अनुभव करते है। इसमें सदाचारका द्रोह है और यह लज्जास्पद है। अपनी नग्नताको छिपानेके लिये लोगोने आत्महत्या भी की है। परन्तु क्या नग्नता वस्तुत. अभद्र है? वास्तवमे श्रीविहीन है? ऐसा होता तो प्रकृतिको भी इसकी लज्जा आती। पुष्प नग्न रहते है, पशु पक्षी नग्न ही रहते है। प्रकृतिके साथ जिन्होने एकता नही खोई है ऐसे बालक भी नग्न ही घूमते है। उनको इसकी शरम नही आती और उनकी निर्व्याजताके कारण हमें भी इसमें लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नही होता। लज्जाकी बात जाने दें। इसमें किसी प्रकारका अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, विश्री, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्यको अनुभव नही। इसका कारण क्या? कारण यही कि नग्नता प्राकृतिक स्थितिके साथ स्वभावशुदा है। मनुष्यने

विकृत ध्यान करके अपने मनके विकारोंको इतना अधिक बढाया है और उन्हे उल्टे रास्तेकी ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभावसुन्दर नग्नता उसे सहन नही होती। दोष नग्नताका नही पर अपने कृत्रिम जीवनका है। बीमार मनुष्यके समक्ष परिपक्व फल, पौष्टिक मेवे और सात्विक आहार भी स्वतंत्रतापूर्वक रख नही सकते। यह दोष उन खाद्य पदार्थोंका नही पर मनुष्यके मानसिक रोगका है। नग्नता छिपानेमें नग्नताकी लज्जा नही, पर इसके मूलमें विकारी पुरुषके प्रति दयाभाव है, रक्षणवृत्ति है। पर जैसे बालकके सामने नराधम भी सौम्य और निर्मल बन जाता है वैसे ही पुण्यपुरुषोके सामने, वीत-राग विभूतियोंके समक्ष भी वे शान्त हो जाते हैं। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ भी मनुष्य पराजित होकर विशुद्ध होता है। मूर्ति-कार सोचते तो माधवीलताकी एक शाखा जघाके ऊपरसे ले जाकर कमरपर्यन्त ले जाते। इस प्रकार नग्नता छिपानी अशक्य नही थी। पर फिर तो उन्हें सारी फिलोसोफीकी हत्या करनी पड़ती। बालक आपके समक्ष नग्न खड़े रहते हैं। उस समय वे कात्यायनी व्रत करती हुई मूर्तियोंके समान अपने हाथो द्वारा अपनी नग्नता नही छिपाते। उनकी लज्जाहीनता उनकी नग्नताको पवित्र करती है। उनके लिये दूसरा आवरण किस कामका है?"

"जब मैं (काका सा०) कारकलके पास गोमटेश्वरकी मूर्ति देखने गया, उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे। हममेंसे किसीको भी इस मूर्तिका दर्शन करते समय संकोच जैसा कुछ भी मालूम नही हुआ। अस्वाभाविक प्रतीत होनेका प्रश्न ही नही था। मैंने अनेक नग्न मूर्तियाँ देखी है और मन विकारी होनेके बदले उल्टा इन दर्शनोंके कारण ही निर्विकारी होनेका अनुभव करता हूँ। मैंने ऐसी भी मूर्तियाँ तथा चित्र देखे है कि जो वस्त्राभूषणसे आच्छादित होनेपर भी केवल विकारप्रेरक और उन्मादक जैसी प्रतीत हुई है। केवल एक औप-चारिक लंगोट पहननेवाले नग्न साधु अपने समक्ष वैराग्यका वातावरण उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत सिरसे पैर पर्यन्त वस्त्राभूषणोंसे

लदे हुए व्यक्ति आँखके एक इंगितमात्रसे अथवा अपने नखरेके थोड़ेसे इशारेसे मनुष्यको अस्वस्थ कर देते हैं, नीचे गिरा देते हैं। अत हमारी नग्नताविषयक दृष्टि और हमारा विकारोकी ओर झुकाव दोनों बदलने चाहियें। हम विकारोंका पोषण करते जाते हैं और विवेक रखना चाहते हैं।"

काका साहबके इन उद्‌गारोंके बाद नग्नताके सम्बन्धमे कुछ कहना शेष नही रहता। अत. जैनमूर्तियोकी नग्नताको लेकर जैनधर्मके सम्बन्धमे जो अनेक प्रकारके अपवाद फैलाये गये है वे सब साम्प्रदायिक प्रद्वेषजन्य गलतफहमीके ही परिणाम हैं। जैनधर्म वीतरागताका उपासक है। जहाँ विकार है, राग है, कामुकप्रवृत्ति है, वही नग्नताको छिपानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है। निर्विकारके लिये उसकी आवश्यकता नही हैं। इसी भावसे जैनमूर्तियाँ नग्न होती है। उनके मुखपर सौम्यता और विरागता रहती हैं। उनके दर्शनसे विकार भागता है न कि उत्पन्न होता है। अत जैनमन्दिरोंमे न जानेकी जनश्रुति भी एक मिथ्या प्रवाद है।

जैनमन्दिर शान्ति और भव्यताके प्रतीक होते हैं। उनमें जानेसे मनुष्यका मन पवित्र होता है। निर्विकार मूर्ति, तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण प्राचीन शास्त्र और उपयोगी चित्रकारी यही वहाँकी प्रधान वस्तुएँ हैं, जिनके दर्शन और अध्ययनसे मनुष्यके मनको शान्ति मिलती है।

९ सात तत्त्व

यद्यपि द्रव्य छै हैं तथापि धर्मका सम्बन्ध केवल एक जीवद्रव्यसे ही है, क्योंकि उसीको दु खोसे छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त करानेके लिये ही धर्मका उपदेश दिया गया है। और दु खोका मूलकारण उसी जीवके द्वारा बाँधे गये कर्म हैं, जो कि अजीव और अजीवोंमे भी पौद्‌गलिक हैं। अत जब धर्मका लक्ष्य जीवको सब दु खोसे छुडाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना है और दु खोंका मूलकारण जीवके द्वारा

बांधे गये कर्म ही है तो दु.खोसे छूटनेके लिये निम्न बातोंकी जानकारी आवश्यक है—

१—उस वस्तुका क्या स्वरूप है, जिसको छुटकोरा दिलाना है ?

२—कर्मका क्या स्वरूप है ? क्योंकि जैसे स्वर्णकारको स्वर्ण और उसमे मिले हुए द्रव्यकी ठीक ठीक पहचान होना आवश्यक है वैसे ही एक आत्मशोधकको भी आत्मा और उसके साथ मिले हुए परद्रव्यकी पहचान होना आवश्यक है, क्योंकि उसके विना वह आत्मा-का शोधन ही नही कर सकता।

३—वह अजीव कर्म जीव तक कैसे पहुँचता है ?

४—और पहुँचकर कैसे जीवके साथ बँध जाता है ?

इस प्रकार जीव और कर्मका स्वरूप और कर्मोका जीवतक आगमन और वन्धनका ज्ञान हो जानेसे संसारके कारणोका पूरा ज्ञान हो जाता है। अब उससे छुटकारा पानेके लिये कुछ बाते जानना आवश्यक है—

५—नवीन कर्मवन्धको रोकनेका क्या उपाय है ?

६—पुराने बँधे हुए कर्मोको कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

७—इन उपायोसे जो मुक्ति प्राप्त होगी वह क्या वस्तु है ?

इन सात बातोंका ज्ञान होना प्रत्येक मुमुक्षुके लिये आवश्यक है, इन्हीको सात तत्त्व कहते है। पौद्‌गलिक कर्मोके सयोगसे ही यह जीव वन्धनमे है और सब प्रकारके कष्ट भोगता है। इस सम्बन्धका अन्त किस प्रकार किया जाये यह एक समस्या है, जिसे प्रत्येक मुमुक्षु-को हल करना है। धर्म ही वह विज्ञान है जिसके द्वारा उक्त समस्याको हल किया जा सकता है और उसीके हल करनेके लिये उक्त सात बाते बतलाई गई है। ये सात बाते ही ऐसी है जिनकी श्रद्धा और ज्ञानपर हमारा योगक्षेम निर्भर है। इसीलिये इन्हे तत्त्व-सज्ञा दी गई है। तत्त्व यानी सारभूत पदार्थ ये ही है। जो व्यक्ति इनको नही जानता, सम्भव है वह बहुत ज्ञान रखता हो, किन्तु यथार्थमे उपयोगी बातोका ज्ञान उसे नही है।

उक्त सात तत्त्वोंका नाम है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमेंसे जीव और अजीव दो मूलभूत तत्त्व हैं, जिनसे यह विश्व निर्मित है। इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन पहले कर आये हैं। तीसरा तत्त्व आस्रव है, जो जीवमें कर्ममलके आनेको सूचित करता है। वास्तवमें जीव और कर्मोंका बन्ध तभी सम्भव है जब जीवमें कर्म-पुद्गलोंका आगमन हो। अत. कर्मोंके आनके द्वारको आस्रव कहते हैं। वह द्वार, जिसके द्वारा जीवमें सर्वदा कर्मपुद्गलोंका आगमन होता है जीवकी ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। वह शक्ति शरीरधारी जीवोंकी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाओंका सहारा पाकर जीवकी ओर कर्मपुद्गलोको आकृष्ट करती है। अर्थात् हम मनके द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचनके द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीरके द्वारा जो कुछ हलनचलन करते हैं वह सब हमारी ओर कर्मोंके आनेमे कारण होता है। इसीलिये तत्त्वार्थ-सूत्रमें कहा है कि मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहते हैं और वह योग ही आस्रवका कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है। अत. आस्रव तत्त्व यह बतलाता है कि जीवमें कर्मपुद्गलोंका आगमन किस प्रकारसे होता है?

चौथा बन्ध तत्त्व है। जीव और कर्मके परस्परमे मिल जानेको बन्ध कहते हैं। यह बन्ध यद्यपि संयोगपूर्वक होता है किन्तु संयोगसे एक जुदी वस्तु है। संयोग तो मेज और उसपर रक्खी हुई पुस्तकका भी है, किन्तु उसे बन्ध नहीं कह सकते। बन्ध तो एक ऐसा मिश्रण (मिलाव) है जिसमें रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। उसमें मिलनेवाली दो वस्तुएँ अपनी असली हालतको छोड़कर एक तीसरी हालतमें हो जाती हैं। जैसे दूध और पानीको आपसमें मिला दिये जानेपर न दूध अपनी असली हालतमें रहता है और न पानी अपनी असली हालतमें रहता है, किन्तु दूधमें पनीलापन आ जाता है और पानी दूधका सा हो जाता है। दोनों दोनोंपर प्रभाव डालते

है। इसी तरह जीव और कर्मका परस्परमे सम्बन्ध हो जानेपर न जीव ही अपनी असली हालतमे रहता है और न कर्म पुद्गल ही अपनी असली हालतमे रहते है। दोनों दोनोसे प्रभावित होते है। यही बन्ध है। इसका विशेष विवेचन आगे कर्मसिद्धान्तमे किया गया है। आस्रव और बन्ध ये दोनों ससारके कारण है।

पाँचवा तत्त्व संवर है। आस्रवके रोकनेको संवर कहते है। अर्थात् नये कर्मोका जीवमे न आना ही सवर है। यदि नये कर्मोके आगमनको न रोका जाये तो जीवको कभी भी कर्मबन्धनसे छुटकारा नही मिल सकता। अत सवर पाँचवा तत्त्व है। छठा तत्त्व निर्जरा है। बँधे हुए कर्मोके थोडा थोडा करके जीवसे अलग होनेको निर्जरा कहते है। यद्यपि जैसे जीवमे प्रतिसमय नये कर्मोका आस्रव और बन्ध होता है वैसे ही प्रतिसमय पहले बँधे हुए कर्मोकी निर्जरा भी होती रहती है, क्योकि जो कर्म अपना फल दे चुकते है वे झडते जाते है। किन्तु उस निर्जरासे कर्मबन्धनसे छुटकारा नही मिलता, क्योकि प्रतिसमय नये कर्मोका बन्ध होता ही रहता है, अत सवरपूर्वक जो निर्जरा होती है, अर्थात् एक ओर तो नये कर्मोके आगमनको रोक दिया जाता है और दूसरी ओर पहले बँधे हुए कर्मोको जीवसे धीरेधीरे जुदा कर दिया जाता है तभी मोक्षकी प्राप्ति होती है जो कि सातवाँ तत्त्व है। समस्त कर्मबन्धनोंसे जीवके छूट जानेको मोक्ष कहते है। मोक्ष या मुक्ति शब्दका अर्थ ही छुटकारा है। जब जीव सब कर्मबन्धनोंसे छूट जाता है तो उसे मुक्तजीव कहते है।

इस प्रकार उक्त सात तत्त्वोंमेसे जीव और अजीव दो मूल तत्त्व है, उनके मेलसे ही संसारकी सृष्टि होती है। संसारके मूल कारण आस्रव और बन्ध है और संसारसे मुक्त होनेके कारण संवर और निर्जरा है। संवर और निर्जराके द्वारा जीवको जो पद प्राप्त होता है वह मोक्ष है, जो कि प्रत्येक जीवका चरम लक्ष्य है। उसीकी प्राप्तिके लिये उसका प्रयत्न चालू रहता है, जिसे हम धर्मके नामसे पुकारते है।

ह अत. जो जीव अपने उस चरम लक्ष्यको प्राप्त करना चाहता है उसे उक्त सात तत्त्वोंका ज्ञान होना आवश्यक है।

१० कर्म सिद्धान्त

कर्मका स्वरूप

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। मोटे तौरसे यही कर्मसिद्धान्तका अभिप्राय है। इस सिद्धान्तको जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, किन्तु अनात्मवादी बौद्ध-दर्शन भी मानता है। इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इसमें प्राय. एकमत है। किन्तु इस सिद्धान्तमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फल देनेके सम्बन्धमें दोनोमें मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते है। जैसे–खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना वगैरह। परलोकको माननेवाले दार्शनिकोंका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है, क्योकि हमारे प्रत्येक कर्म या प्रवृत्तिके मूलमे राग और द्वेष रहते है। यद्यपि प्रवृत्ति या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे संस्कारकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम संसार है। यह संस्कार ही धर्म, अधर्म, कर्माशय आदि नामोंसे पुकारा जाता है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें इससे भिन्न है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कारमात्र ही नही है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ मिल जाता है। यद्यपि वह पदार्थ भौतिक है तथापि जीवके कर्म अर्थात् क्रियाके द्वारा आकृष्ट होकर वह जीवसे बँधता है इसलिये उसे कर्म कहते है। आशय यह है कि जहाँ अन्य धर्म राग और द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते है और उस कर्मके क्षणिक होनेपर भी उसके संस्कारको

स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका कहना है कि राग द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाके साथ एक द्रव्य जीवमें आता है जो उसके रागद्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर जीवसे बँध जाता है, और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है। इसका खुलासा यह है कि पुद्गलद्रव्य २३ तरहकी वर्गणाओंमें बँटा हुआ है। उन वर्गणाओंमेंसे एक कार्मणवर्गणा भी है, जो सब संसारमें व्याप्त है। जीवके कार्योंके निमित्तसे यह कार्मणवर्गणा ही कर्मरूप हो जाती है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

'परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहिं ॥९५॥'—प्रवच०

'जब राग द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरण आदि रूपसे उसमें प्रवेश करता है।'

इस प्रकार कर्म एक मूर्त पदार्थ है जो जीवके साथ बँध जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक। अत. उन दोनोका बन्ध सम्भव नही है, क्योकि मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध हो सकता है, किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका की जा सकती है, उसका समाधान इस प्रकार है—अन्य दर्शनोकी तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादि मानता है। किसी समय जीव सर्वथा शुद्ध था, बादको उसके साथ कर्मोंका सम्बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नही है, क्योकि ऐसा माननेमे अनेक विवाद उठ खड़े होते हैं। सबसे पहला विवाद तो यह है कि सर्वथा शुद्ध जीवके कर्मबन्ध हुआ तो कैसे हुआ? और यदि सर्वथा शुद्ध जीव भी कर्म बन्धनमे पड़ सकता है तो उससे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना ही व्यर्थ हो जाता है। अत. जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। जैसा कि पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थमें आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदि ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।

तेहि दु विसयगहण तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥'

अर्थ—जो जीव ससारमें स्थित है अर्थात् जन्म और मरणके क्रम पड़ा हुआ है, उसके रागरूप और द्वेषरूप परिणाम होते है। न परिणामोंसे नये कर्म बंधते है। कर्मोसे गतियोमे जन्म लेना पडता । जन्म लेनेसे शरीर मिलता है। शरीरमे इन्द्रियाँ होती है। न्द्रियोंसे विषयोको ग्रहण करता है। विषयोंको ग्रहण करनेसे इष्ट षयोंसे राग और अनिष्ट विषयोसे द्वेष करता है। इस प्रकार ससार- पी चक्रमें पडे हुए जीवके भावोसे कर्मबन्ध और कर्मबन्धसे राग-द्वेप प भाव होते रहते है। यह चक्र 'अभव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि नन्त है और भव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि संसारी जीव अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोसे धा हुआ है और इसलिये एक तरहसे वह भी मूर्तिक हो रहा है, जैसा क कहा है—

'वण्ण रस पच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बधादो ॥ ॥' द्रव्यस०।

अर्थात्—वास्तवमें जीवमें पाँचो रूप, पाँचो रस, दोनों गन्ध और आठों स्पर्श नही रहते इसलिये वह अमूर्तिक है, क्योकि जैनदर्शनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शगुणवाली वस्तुको ही मूर्तिक कहा है। किन्तु कर्मबन्धके कारण व्यवहारमें जीव मूर्तिक है। अत कथञ्चित् मूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक कर्मद्रव्यका सम्बन्ध होता है।

सारांश यह है कि कर्मके दो भेद है—द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीवसे सम्बद्ध कर्मपुद्गलोको द्रव्यकर्म कहते है और द्रव्यकर्मके प्रभावसे होनेवाले जीवके राग-द्वेपरूप भावोको भावकर्म कहते है। द्रव्यकर्म भावकर्मका कारण है और भावकर्म द्रव्यकर्मका कारण है। न विना

---

१ जो जीव इस चक्रका अन्त नही कर सकते उन्हें अभव्य कहते है और जो इसका अंत कर सकते हैं उन्हें भव्य कहते है।

द्रव्यकर्मके भावकर्म होते है और न बिना भावकर्मके द्रव्यकर्म होते है।

कर्म अपना फल कैसे देते है ?

ईश्वरको जगत्का नियन्ता माननेवाले वैदिकदर्शन जीवको कर्म करनेमे स्वतंत्र किन्तु उसका फल भोगनेमे परतंत्र मानते है। उनके मतसे कर्मका फल ईश्वर देता है और वह प्राणियोंके अच्छे या बुरे कर्मके अनुरूप ही अच्छा या बुरा फल देता है। किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देते है, उसके लिये किसी न्यायाधीश-की आवश्यकता नही है। जैसे, शराब पीनेसे नशा होता है और दूध पीनेसे पुष्टि होती है। शराब या दूध पीनेके बाद उसका फल देनेके लिये किसी दूसरे शक्तिमान नियामककी आवश्यकता नही होती। उसी तरह जीवकी प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते है और रागद्वेषका निमित्त पाकर उस जीवसे बध जाते है, उन कर्म परमाणुओमे भी शराब और दूधकी तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालनेकी शक्ति रहती है, जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर जीवपर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है, जो सुखदायक वा दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीवके भाव अच्छे होते है तो बँधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर अच्छा प्रभाव पडता है और बादको उनका फल भी अच्छा ही होता है। तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पडता है और कालान्तरमे उसका फल भी बुरा ही होता हैं।

मानसिक भावोंका अचेतन वस्तुके ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावकी वजहसे उस अचेतनका परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है ? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये चिकित्सकोंके भोजन सम्बन्धी नियमोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमे किसी तरहका क्षोभ नही होना चाहिये;

ोजन करनेसे आधा घंटा पहलेसे लेकर भोजन करनेके आधा घंटा ाद तक मनमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला कोई विचार नही आना ाहिये। ऐसी दशामे जो भोजन किया जाता है, उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकार नही करता। किन्तु इसके विपरीत ाम, क्रोध आदि विकारोके रहते हुए यदि भोजन किया जाता है ो वह भोजन शरीरमें जाकर विकार उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट है कि कर्ताके भावोका असर अचेतनपर भी पडता है और उसके अनुसार ही उसका विपाक होता है। अत जीवको फल भोगनेमें रतन्त्र माननेकी आवश्यकता नही है।

यदि ईश्वरको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातकको पापका भागी नही होना चाहिये; क्योकि उस घातकके द्वारा ईश्वर मरनेवालेको दंड दिलाता है। जैसे, राजा जिन पुरुषोके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नही कहे जाते, क्योकि वे राजाज्ञाका पालन करते है। उसी तरह किसीका घात करनेवाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मोका फल भुगताता है, क्योकि ईश्वरने उसके पूर्वकृत कर्मोकी यही सजा नियत की होगी तभी तो उसका वध किया गया। यदि कहा जाये कि मनुष्य कर्म करनेमे स्वतन्त्र है अत घातकका कार्य ईश्वरप्रेरित नही है, किन्तु घातककी स्वतन्त्र इच्छाका परिणाम है। तो इसका उत्तर यह है कि ससारदशामें कोई भी प्राणी वास्तवमें स्वतंत्र नही है, सभी अपने अपने कर्मोसे बँधे है और कर्मके अनुसार ही प्राणीकी बुद्धि होती है। शायद कहा जाये कि ऐसी दशामे तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नही कर सकता; क्योकि जीव कर्मसे बँधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि कर्म अच्छे भी होते है और बुरे भी होते हैं। अत. अच्छे कर्मके अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्यको सन्मार्गकी ओर ले जाती है और बुरे कर्मके अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्यको कुमार्ग-

की ओर ले जाती है। सन्मार्गपर चलने से मुक्तिलाभ और कुमार्गपर चलनेसे संसारलाभ होता है। अत बुद्धिके कर्मानुसार होनेसे मुक्तिकी प्राप्तिमे कोई वाधा नही आती।

इस तरह जब जीव कर्म करनेमे स्वतंत्र नही है तो घातकका घात-रूपकर्म उसकी दुर्बुद्धिका ही परिणाम कहा जायेगा। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत कर्मका फल कही जायेगी। ऐसी स्थितिमे यदि हम कर्मफलदाता ईश्वरको मानते है तो उस घातककी दुष्ट बुद्धिका कर्ता ईश्वरको ही कहा जायेगा। इसपर हमारी विचार-शक्ति कहती है कि एक विचारशील फलदाताको किसी व्यक्तिके वुरे कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमे हो, न कि उसके द्वारा दूसरोको सजा दिलवानेके रूपमे हो। किन्तु ईश्वर घातकसे दूसरेका घात कराता है, क्योंकि उसे उस घातकके द्वारा दूसरेको सजा दिलानी है। किन्तु घातकको, जिस वुद्धिके कारण वह परका घात करता है उस वुद्धिको बिगाडनेवाले कर्मोंका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेको सजा भोगनी पडी। किन्तु यदि ईश्वरको फलदाता न मानकर जीवके कर्मोंमें ही स्वत फलदानकी शक्ति मान ली जाय तो उक्त समस्या आसानीसे हल हो जाती है, क्योंकि, मनुष्यके वुरे कर्म उसकी वुद्धिपर इस प्रकारका सस्कार डाल देते है, जिससे वह क्रोधमें आकर दूसरोंका घात कर डालता है और इस तरह उसके वुरे कर्म उसे वुरे मार्गकी ओर ही तबतक लिये चले जाते है जब तक वह स्वयसे सावधान नही होता। अत ईश्वरको कर्मफलदाता माननेमे इस तरहके अन्य भी अनेक विवाद खड़े होते है। जिनमेंसे एक इस प्रकार है—

किसी कर्मका फल हमे तुरन्त मिल जाता है, किसीको कुछ माह वाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष वाद मिलता है और किसीका जन्मान्तरमें मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्मफलके भोगमे समयकी विषमता क्यो देखी जाती है ? ईश्वरवादियोकी ओरसे

इसका ईश्वरेच्छाके सिवाय कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं मिलता। किन्तु कर्ममे ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोका बुद्धिगम्य समाधान करता है जो कि आगे बतलाया गया है। अतः ईश्वरको फलदाता मानना उचित नही जँचता।

कर्मके भेद

पहले बतलाया है कि जैनदर्शनमे कर्मसे मतलब जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ जीवकी ओर आकृष्ट होनेवाले कर्मपरमाणुओसे है। वे कर्मपरमाणु जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ, जिसे जैनदर्शनमें योगके नामसे कहा गया है, जीवकी ओर आकृष्ट होते है और आत्माके राग, द्वेष और मोह आदि भावोंका, जिन्हे जैनदर्शनमें कषाय कहते है, निमित्त पाकर जीवसे बँध जाते हैं। इस तरह कर्मपरमाणुओंको जीवतक लानेका काम जीवकी योगशक्ति करती है और उसके साथ बन्ध करानेका काम कषाय अर्थात् जीवके राग-द्वेषरूप भाव करते है। सारांश यह है कि जीवकी योगशक्ति और कषाय ही बन्धका कारण है। कषायके नष्ट हो जानेपर योगके रहनेतक जीवमें कर्मपरमाणुओंका आस्रव-आगमन तो होता है किन्तु कषायके न होनेके कारण वे ठहर नही सकते। उदाहरणके लिये, योगको वायुकी, कषायको गोदकी, जीवको एक दीवारकी और कर्मपरमाणुओको धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवारपर गोंद लगी हो तो वायुके साथ उड़कर आनेवाली धूल दीवारसे चिपक जाती है, किन्तु यदि दीवार साफ, चिकनी और सूखी होती है तो धूल दीवारपर न चिपककर तुरन्त झड़ पड़ती है। यहाँ धूलका कम या ज्यादा परिमाणमें उडकर आना वायुके वेगपर निर्भर है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी खूब उडती है और यदि वायु धीमी होती है तो धूल भी कम उड़ती है। तथा दीवारपर धूलका थोड़े या अधिक दिनोंतक चिपके रहना उसपर लगी गोद आदि गीली वस्तुओंकी चिपकाहटकी कमीवेशी पर निर्भर है। यदि दीवारपर पानी पड़ा हो तो उसपर लगी हुई धूल जल्दी झड़

जाती है। यदि किसी पेडका दूध लगा हो तो कुछ देरमे झडती है और यदि कोई गोंद लगी हो तो वहुत दिनोमे झडती है। साराश यह कि चिपकानेवाली चीजका असर दूर होते ही चिपकनेवाली चीज स्वय झड़ जाती है। यही वात योग और कषायके सम्वन्धमें भी जाननी चाहिये। योगशक्ति जिस दर्जेकी होती है आनेवाले कर्मपरमाणुओकी संख्या भी उसीके अनुसार कमती या वढती होती है। यदि योग उत्कृष्ट होता है तो कर्मपरमाणु भी अधिक तादादमे जीवकी ओर आते है। यदि योग जघन्य होता है तो कर्मपरमाणु भी कम तादादमे जीवकी ओर आते है। इसी तरह यदि कषाय तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु जीवके साथ वहुत दिनोतक वँधे रहते है और फल भी तीव्र देते है। यदि कषाय हल्की होती है तो कर्मपरमाणु जीवके साथ कम समय तक वँधे रहते है और फल भी कम देते है। यह एक साधारण नियम है किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी है।

इस प्रकार योग और कषायसे जीवके साथ कर्मपुद्गलोंका वन्ध होता है। वह वन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिवन्ध, प्रदेशवन्ध, स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध। वन्धको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओ-में अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना प्रकृतिवन्ध है। उनकी संख्या-का नियत होना प्रदेशवन्ध है। उनमें कालकी मर्यादाका पड़ना, कि ये अमुक कालतक जीव के साथ वँधे रहेगे, स्थितिवन्ध है और उनमें फल देनेकी शक्तिका पडना अनुभागवन्ध है। कर्मोमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना तथा उनकी सख्याका कमती वढती होना योगपर निर्भर है। तथा उनमे जीवके साथ कम या अधिक कालतक ठहरनेकी शक्तिका पड़ना और तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पडना कषायपर निर्भर है। इस तरह प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध तो योगसे होते है, और स्थितिवन्ध तथा अनुभागवन्ध कषायसे होते है।

इनमेंसे प्रकृतिवन्धके आठ भेद है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेद-नीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण नामका

अधिक कलुषित हो जाते है और वह और भी अधिक बुरे काम करनेपर उतारू हो जाता है तो बुरे भावोका असर पाकर पहले बाँधे हुए कर्मोकी स्थिति और फलदानशक्ति और भी अधिक बढ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षणके कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देरमें। किसी कर्मका फल तीव्र होता है और किसीका मन्द।

सत्ता—बंधनेके बाद ही कर्म तुरन्त अपना फल नही देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है। इसका कारण यह है कि बँधनेके बाद कर्म सत्तामे रहता है। जैसे शराब पीते ही तुरन्त अपना असर नही देती किन्तु कुछ समय बाद अपना असर दिखलाती है। वैसे ही कर्म भी बंधनेके बाद कुछ समयतक सत्तामें रहता है। इस कालको जैनपरिभाषामे आबाधाकाल कहते है। साधारणतया कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिके अनुसार होता है। जैसे जो शराब जितनी ही अधिक नशीली और टिकाऊ होती है वह उतने ही अधिक दिनोतक सड़ाकर बनती है, वैसे ही जो कर्म अधिक दिनोतक ठहरता है उसका आबाधाकाल भी उसी हिसाबसे अधिक होता है। एक कोटी कोटी सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष आबाधा काल होता है। अर्थात् यदि किसी कर्मकी स्थिति एक कोटि कोटि सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्षके बाद फल देना शुरू करता है और तबतक फल देता रहता है जबतक उसकी स्थिति पूरी न हो। किन्तु आयुकर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिपर निर्भर नही है। इसका खुलासा अन्य ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। इस प्रकार बँधनेके बाद कर्मके फल न देकर जीवके साथ मौजूद रहनेमात्रको सत्ता कहते हैं।

उदय—कर्मके फल देनेको उदय कहते है। यह उदय दो तरहका होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो वह फलोदय कहा जाता है। और जब कर्म विना फल दिये ही नष्ट होता है तो उसे प्रदेशोदय कहते है।

उदीरणा—जैसे, आमोके मौसममें आम बेचनेवाले आमोंको जल्दी पकानेके लिये पेडसे तोड़कर भूसे वगैरहमें दबा देते है, जिससे

वे आम वृक्षकी अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसी तरह कभी कभी नियत समयसे पहले कर्मका विपाक हो जाता है। इसे ही उदीरणा कहते हैं। उदीरणाके लिये पहले अपकर्षण करणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है, स्थितिके घट जाने पर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब कोई असमयमें ही मर जाता है तो उसकी अकालमृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुकर्मकी उदीरणा ही है। स्थितिका घात हुए बिना उदीरणा नही होती।

सक्रमण—एक कर्मका दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको सक्रमण करण कहते है। यह सक्रमण मूल भेदोंमें नही होता। अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप नही होता और न दर्शनावरण ज्ञानावरणरूप होता है। इसी तरह अन्य कर्मोंके बारेमे भी जानना। किन्तु एक कर्मका अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे, वेदनीय कर्मके दो भेदोंमेंसे सातवेदनीय असातवेदनीय रूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीयरूप हो सकता है। यद्यपि सक्रमण एक कर्मके अवान्तर भेदोंमे ही होता है, किन्तु उसमें अपवाद भी है। आयुकर्मके चार भेदोंमें परस्परमे सक्रमण नही होता। नरकगतिकी आयु बाँध लेनेपर जीवको नरकगतिमे ही जाना पडता है, अन्य गतिमे नही। इसी प्रकार बाकीकी तीन आयुओंके बारेमे भी जानना चाहिये।

उपशम—कर्मको उदयमें आ सकनेके अयोग्य कर देना उपशम करण है।

निधत्ति—कर्मका संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

निकाचना—उसमे उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा का न हो सकना निकाचना है।

कर्मकी इन अनेक दशाओंके सिवाय जैनसिद्धान्तमें कर्मका स्वामी, कर्मोंकी स्थिति, कब कौन कर्म बंधता है? किसका उदय होता है, किस कर्मकी सत्ता रहती है, किस कर्मका क्षय होता है आदि बातोंका विस्तारसे वर्णन है।

३. चारित्र

जैनधर्मके दार्शनिक मन्तव्योंका परिचय कराकर अब हम उस चरित्रकी ओर आते हैं, जो वस्तुत. धर्म कहा जाता है।

रत्नकरंडश्रावकाचार नामक प्राचीन जैन-ग्रन्थमें समर्थ जैनाचार्य श्री समन्तभद्र स्वामीने धर्मका वर्णन करते हुए लिखा है—

'देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदु:खत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥'

'मैं कर्मबन्धनका नाश करनेवाले उस सत्यधर्मका कथन करता हूं जो प्राणियोंको संसारके दु.खोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरता है।'

इससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) संसारमें दु:ख है।

(२) उस दु खका कारण प्राणियोंके अपने अपने कर्म है।

(३) धर्म प्राणिमात्रको दु खसे छुड़ाकर न केवल सुख किन्तु उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

अब विचारणीय यह है कि संसारमे दु:ख क्यों है और धर्म कैसे उससे छुडाकर उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

१ संसारमें दुःख क्यों है ?

संसारमे दु.ख है यह किसीसे छिपा नही। और सब लोग सुखके इच्छुक हैं और सुखके लिए ही रात दिन प्रयत्न करते हैं यह भी किसीसे छिपा नही। फिर भी सब दु.खी क्यों है ? जिन्हे पेट भरनेके लिये न मुट्ठी भर अन्न मिलता है और न तन ढांकनेके लिये वस्त्र, उनकी बात जाने दीजिये। जो सम्पत्तिशाली हैं उन्हे भी हम किसी न किसी दु.खसे पीड़ित पाते हैं। निर्धन धनके लिये छटपटाते हैं और धनवानोंको धनकी तृष्णा चैन नही लेने देती। नि.सन्तान सन्तानके लिये रोते है तो सन्तानवाले सन्तानके भरणपोषणके लिये चिन्तित हैं।

किसीका पुत्र मर जाता है तो किसीकी पुत्री विधवा हो जाती है। कोई पत्नीके बिना दु.खी है तो कोई कुलटा पत्नीके कारण दु खी है। साराश यह है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी दु खसे दु खी है। और अपनी अपनी समझके अनुसार उसे दूर करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु फिर भी दु खोंसे छुटकारा नही होता। सुखकी चाहको पूरा करनेके प्रयत्नमे जीवन बीत जाता है किन्तु किसीकी चाह पूरी नही होती। आइये! जरा इसके कारणोंपर विचार करे।

सुखके साधन तीन है—धर्म, अर्थ और काम। इनमें भी धर्म ही सुखका मुख्य साधन है और बाकीके दोनो गौण है, क्योंकि शुभाचरणरूप धर्मके बिना प्रथम तो अर्थ और कामकी प्राप्ति ही असंभव है। जरा देरके लिये उसे संभव भी मान लिया जाये तो अधर्मपूर्ण साधनोंसे उपार्जन किया हुआ अर्थ और काम कभी सुखका कारण हो नही सकता, बल्कि दु.खोंका ही कारण होता है। इसके दृष्टान्तके लिये चोरीसे धन कमानेवालों और परस्त्रीगामियोको उपस्थित किया जा सकता है। मोहवश इन कामोंमे बहुतसे लोग प्रवृत्त हुए देखे जाते है, पर उन कामोंको स्वयं वेही अच्छा नही बतलाते। और उस धन और कामभोगसे उन्हे कितना सुख मिलता है यह भी उनकी आत्मा ही जानती है। यथार्थमें अर्थ और कामसे तभी सुख हो सकता है जब उसमे सन्तोष हो। सन्तोषके बिना धन कमानेसे धनकी तृष्णा बढती जाती है और तृष्णाकी ज्वालासे जलते हुए मनुष्योको सुखका लेश भी नही मिल सकता। इसी प्रकार जो कामभोगकी तृष्णामें पडकर कामभोगके साधन शरीर, इन्द्रिय वगैरहको जर्जर कर लेते हें वे क्या कभी सुखी हो सकते है? फिर अर्थ और काम सदा ठहरनेवाले नही है, इनका स्वभाव ही नश्वरता है, किन्तु मनुष्योंने उन्हें ही सुखका साधन मान रखा है। अर्थ और काममे जो जितनी उन्नति कर लेता है, जितनी अधिक संपत्ति, भोग-उपभोगके साधन, ऊँची अट्टालिकाएँ, सुन्दर सुन्दर गाडियाँ आदि जिसके पास है वह

उतना ही अधिक सुखी माना जाता है, उसका उतना ही अधिक आदर होता है। और यह सब देखकर सबलोग, क्या मूर्ख और क्या विद्वान्, क्या ग्रामीण और क्या शहरी, बालकसे बूढ़ेतक अर्थ और कामके लिये ही शक्तिभर उद्योग करते है। यदि कोई धर्ममें लगता भी है तो अर्थ और कामके लिये ही लगता है। ऐसी स्थितिमें यदि मनुष्य दु खी न हों तो क्यों न हो? फिर मनुष्योंकी यह अर्थलालसा और कामलालसा केवल उन्हे ही दु खी नही करती बल्कि समाज और राष्ट्र भरको दु.खी बनाती है, क्योकि जो मनुष्य स्वार्थवश धन कमाता है और उचित अनुचितका विचार नही करता वह दूसरोंके कष्टका कारण अवश्य होता है, साथ ही साथ यदि वह दूसरोको कष्ट पहुँचाकर चोरी या छलसे अपनेको धनी बनाता है तो दूसरे चतुर मनुष्य उसका ही अनुकरण करके उसी रीतिसे धनवान बननेकी चेष्टा करते है और इस तरह परस्परमें ही एक दूसरेके द्वारा सताया जाकर समाजका समाज दु:खी हो उठता है। यही बात कामभोगके सम्बन्धमे भी है। अत यदि धर्मके द्वारा अर्थ और कामकी मर्यादा रखी जाय तो वे सुखके साधन हो सकते है, परन्तु धर्मकी मर्यादाके बिना वे सुखकी अपेक्षा दु ख ही अधिक उत्पन्न करते है। अत· सुखके साथ धर्मका ही घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है और सुखके साधनोमे धर्म ही प्रधान ठहरता है।

तथा शास्त्रोमें जो सुखका विचार किया गया है, उसपर दृष्टि डालने से तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। शास्त्रोंमें सुखको जीवका स्वभाव बतलाया है, क्योकि सुख जीवके भीतरसे ही प्रकट होता है, बाहर संसारमे कही भी सुखका स्थान नही है। यदि हम अपनेसे बाहर अन्य पदार्थोंमें सुखकी खोज करते रहें तो हमें कभी भी सुख नही मिल सकता। यह सत्य है कि इन्द्रियोके भोग हमसे बाहर इस संसारमें विद्यमान है, किन्तु उनमेंसे कोई भी स्वय सुख नही है। उदाहरणके लिये, एक व्यापारीको तार द्वारा यह

सूचना मिलती है कि उसे व्यापारमें बहुत लाभ हुआ है। सूचना पाते ही वह आनन्दमें निमग्न हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि तार द्वारा सूचना मिलते ही उसके हृदयमें जो आनन्द हुआ वह कहाँसे आया ? क्या वह उस तारके कागजसे उत्पन्न हुआ जिसपर सूचना लिखी थी ? नहीं, क्योंकि यदि उस कागजपर हानिकी सूचना लिखी होती तो वही कागज उसी व्यापारीके दु खका कारण बन जाता। शायद आप कहें कि उस तारके कागजपर जो वाक्य लिखे हुए थे उनमें सुख विद्यमान था। किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उन वाक्योंमें सुख है तो जो कोई उन वाक्योंको पढे या सुने उन सभीको उससे सुख होना चाहिये, मगर ऐसा नहीं देखा जाता। शायद कहा जाये कि उन वाक्यों का सम्बन्ध उसी व्यापारीसे है अत उनसे उसीको सुख होता है दूसरोंको नहीं। किन्तु यदि उस व्यापारीको उस तारकी सत्यतामें सन्देह हो तो उन वाक्योंसे उसे भी तब तक सुख नहीं होगा जब तक उसका सन्देह दूर न हो। इसके सिवा एक ही वस्तु किसीके सुखका साधन होती है और किसीके दु खका साधन होती है। तथा एक ही वस्तु कभी सुखका साधन होती है और कभी दु खका साधन होती है। जैसे, पुत्र जब तक माता-पिताका आज्ञाकारी रहता है तब तक उनके सुखका साधन होता है और जब वही उद्दण्ड हो जाता है तो दु खका कारण बन जाता है। अत यदि बाह्य वस्तु सुखस्वरूप होती तो उससे सबको सदा सुख ही होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अत यह मानना पड़ता है कि सुख जीवका ही स्वभाव है, इस लिये वह अन्दरसे ही उत्पन्न होता है। किन्तु बाहरमें जिस वस्तुका सहारा पाकर सुख उत्पन्न होता है, अज्ञानसे मनुष्य उसे ही सुख समझ बैठता है। परन्तु वास्तवमें बाहिरी वस्तु न स्वय सुख है और न सुखका साधन ही है। शरीरमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी क्षणिक शान्तिके उपायोंको मनुष्य भ्रमसे सुखका साधन मानता है, किन्तु वास्तवमें वे सुखके साधन नहीं है, बल्कि शारीरिक विकारोंके प्रतीकारमात्र है, जैसा कि भर्तृहरिने भी लिखा है—

"तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥'

अर्थात्—'जब प्याससे मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगन्धित स्वादु जल पीता है। भूखसे पीड़ित होनेपर शाक आदिके साथ भात खाता है। कामाग्निके प्रज्वलित होनेपर पत्नीका आलिंगन करता है। इस प्रकार रोगके प्रतीकारोंको मनुष्य भूलमें सुख मान रहा है।'

साराश यह है कि बाह्य वस्तुओंके सग्रहका उद्देश्य केवल शरीर और मनके अन्दर उत्पन्न होनेवाली दु खजनित चंचलताको मिटाना मात्र है। सच्चा सुख तो अपने अन्दरसे स्वत विकसित होता है, वह बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता। उसके लिये नगर और वन, स्वजन और परजन, महल और श्मशान तथा प्रियाकी गोद और शिला-तल सब समान हैं। अत न अर्थ सुख का साधन है और न काम, किन्तु इच्छाका निरोध ही सच्चे सुखका साधन है। जो इस सत्यको नहीं समझते वे इच्छाको न रोक कर इच्छाके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके सुखी होनेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु एक इच्छाके पूरी होनेपर दूसरी इच्छा उत्पन्न होती है और इस तरह इच्छाका स्रोत बहता रहता है। सब इच्छाएँ किसीकी पूरी नहीं होती, और यदि हो भी जाएँ तो आगे कोई इच्छा उत्पन्न न हो यह संभव नहीं है। अत. फिर इच्छा उत्पन्न होनेसे फिर दु खकी ही सभावना है। अत. प्रत्येक प्रकारकी इच्छाका नियमन करना ही सुखका सच्चा उपाय है, न कि उसके अनुकूल पदार्थ जुटाकर उसकी तृप्ति करना। तृप्ति करनेसे तो इच्छा बढ़ती है और वह तृष्णाका रूप धारण कर लेती है।

निष्कर्ष यह है कि सब सुख चाहते हैं, किन्तु दु खोंका अभाव हुए बिना सुखकी प्रतीति नहीं हो सकती। अर्थ और कामसे जो सुख होता है वह सुख सुख नहीं है, किन्तु शारीरिक और मानसिक रोगोंका प्रतीकारमात्र है। भ्रमसे लोगोंने उसे सुख समझ लिया है और सब

उसीकी प्राप्तिके उपायोंमे लगे रहते हैं, तथा न्याय और अन्यायक विचार नही करते। इसीसे ससारमें दु ख है। हमारी अर्थ और कामर्क अनियन्त्रित वाञ्छा ही स्वयं हमारे और दूसरोके दु खका कारण बर्न हुइ है। यदि हम उसे धर्मके अंकुशसे नियन्त्रित कर सके—धर्म अविरु अर्थ और कामके सेवन करनेका व्रत लेलें तो हम स्वय भी सुखी हो सकत हैं और दूसरे भी, जो कि हमारी अनियन्त्रित अर्थतृष्णा और कामतृष्णा के शिकार बने हुए हैं, सुखी हो सकते हैं। इसीलिये धर्म उपादेय है वह हमारी इच्छाओका नियमन करक हमे सुखी ही नही, किन्तु ' सुखी बनाता है; क्योकि जो सुख हमे इन्द्रियोके द्वारा प्राप्त होता है वह पराधीन है। जब तक हमे भोगनेके लिये रुचिकर पदार्थ नहं मिलते तब तक वह होता ही नही, तथा उनके भोगने पर तत्काल सुख मालूम होता है किन्तु बादमे जब भोगकर छोड देते है तो पुन उनके बिना विकलता होने लगती है। जैसे,भूख लगनेपर रुचिक भोजन मिलनेसे सुख होता है, न मिलनेसे दु ख होता है। तथा ए बार भर पेट भोजन कर लेनेपर दूसरी बार फिर क्षुधा सताने लगर्त है और हम भोजनके लिये विकल हो उठते है। अत इस प्रकारसे प्राप्त होनेवाला सुख सुख नही है किन्तु दु ख ही है। सच्चा सुख वह है जिसे एक बार प्राप्त कर लेनेपर फिर दु खका भय ही नहं रहता। इसीसे कहा है--'तत्सुखं यत्र नासुखम्'। सुख वही है जिसमें दु ख न हो। धर्मसे ऐसे ही स्थायी सुखकी प्राप्ति होती है।

२. मुक्तिका मार्ग

'ससारमे दु.ख क्यों है' यह हम जान चुके है। और यह भी जा चुके है कि सुखका साधन धर्म है वह हमें दु खोंसे छुडाकर सुख ही नहं किन्तु उत्तम सुख प्राप्त करा सकता है। अब प्रश्न यह है कि दु खोसे छूटने और सुखको प्राप्त करनेका वह मार्ग कौनसा है, जो धर्मके नामसे पुकारा जाता है। आचार्य समन्तभद्र लिखते है—

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥३॥" रत्नकरंड० ।

अर्थात्—'धर्मके प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्म कहते है । जिनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र संसारके मार्ग है ।'

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको ही, जो कि धर्मके नामसे कहे गये है, प्रसिद्ध सूत्रकार उमास्वामीने मुक्तिका मार्ग वतलाया है । असलमें जो मुक्तिका मार्ग है—दु.खों और उनके कारणोंसे छूटनेका उपाय है, वही तो धर्म है । उसीको हमे समझना है ।

दु.खोंसे स्थायी छुटकारा पानेके लिये सबसे प्रथम हमें यह दृढ श्रद्धान होना जरूरी है कि—

"एगो में सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥' नियमसार ।

'ज्ञानदर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है । शुभाशुभ कर्मोके सयोगसे उत्पन्न हुए वाकीके सभी पदार्थ वाह्य है—मुझसे भिन्न है मेरे नही है ।'

जब तक हम उन वस्तुओसे, जो हमे हमारे शुभाशुभ कर्मोके फलस्वरूप प्राप्त होती है, ममत्व नही त्यागेगे, तबतक हम अपने छुटकारेका प्रयत्न नही कर सकेगे । और करेगे भी तो वह हमारा प्रयत्न सफल नही होगा, क्योकि जबतक हमे यही मालूम नही है कि हम क्या है और जिनके बीचमे हम रहते है उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है तबतक हम किससे किसका छुटकारा करा सकेंगे ? जैसे, जिसे सोनेकी और उसमें मिले हुए खोटकी पहचान नही है कि यह सोना है और यह मैल है, वह खानसे निकले हुए पिण्डमेंसे सोनेको शोधकर नही निकाल सकता । सोनेको शोधकर निकालनेके लिये उसे सोने और मलका ज्ञान तथा यही सोना है और यही मल है ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिये, क्योंकि दृढ विश्वास न होनेपर वह किसी दूसरेके वहकावमे आकर मलको सोना और सोनेको मल समझकर

भ्रममें भी पड सकता है। वैसे ही आत्मशोधकका भी अपनी आत्मा, उसकी खराबियाँ, उन खराबियोंके कारण और उनसे छुटकारा पानेके उपायोंका भली भाँति ज्ञान होनेके साथ ही साथ अपने उस ज्ञानकी सत्यतापर दृढ आस्था भी अवश्य होनी चाहिये। यह आस्था ही सम्यग्दर्शन है। छुटकारेका प्रयत्न करनेसे पहले इसका होना नितान्त आवश्यक है। जो कुछ सन्देह वगैरह हो उसे पहले ही दूर कर लेना चाहिये। जब वह दूर हो जाये और पहले कहे गये सात तत्त्वोंकी दृढ प्रतीति हो जाये तब फिर मुक्तिके मार्गमे पैर बढाना चाहिये और फिर उससे पीछे पैर नही हटाना चाहिये, जैसा कि कहा है—

"विपरीताभिनिवेश निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ॥१५॥" पुरुषार्थ०।

'शरीरको ही आत्मा मान लेनेका जो मिथ्याभाव हो रहा है, उसे दूर करके आत्मतत्त्वको अच्छी तरह जानकर, उससे विचलित न होना ही परमपुरुषार्थ मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय है।'

अत. मुक्तिके लिये उक्त सात तत्त्वोपर दृढ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है और उनका ठीक ठीक ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। ये दोनो ही आगे बढनेकी भूमिका है, इनके बिना मुक्तिके लिये यत्न करना व्यर्थ है। जिस जीवको इस प्रकारका दृढ श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते है अर्थात् उसकी दृष्टि ठीक मानी जाती है। अब यदि वह आगे बढेगा तो धोखा नही खा सकेगा। जबतक मनुष्यकी दृष्टि ठीक नही होती—उसे अपने हिताहितका ज्ञान नही होता तबतक वह अपने हितकर मार्गपर आगे नही बढ सकता। अत. प्रारम्भमे ही उसकी दृष्टिका ठीक होना आवश्यक है। इसीलिये सम्यग्दर्शनको मोक्षके मार्गमे कर्णधार बतलाया है। जैसे नावको ठीक दिशामे ले जाना खेनेवालोके हाथमें नही होता, किन्तु नावके पीछे लगे हुए डाँडका सञ्चालन करनेवाले मनुष्यके हाथमे होता है। वह उसे जिधरको घुमाता है उधरको ही नावकी गति हो जाती है। यही

बात सम्यग्दर्शनके विषयमे भी जानना चाहिये। इसीसे जैनसिद्धान्तमें सम्यग्दर्शनका बहुत महत्त्व बतलाया है। इसके हुए विना न कोई ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और न कोई चारित्र सम्यक् चरित्र कहलाता है, अत मोक्षके उपासककी दृष्टिका सम्यक् होना बहुत जरूरी है, उसक रहते हुए मुमुक्षु लक्ष्यभ्रष्ट नही हो सकता।

इस सम्यग्दर्शनके आठ अंग है। जैसे शरीरमें आठ अंग होते है, उनके विना शरीर नही बनता, वैसे ही इन आठ अगोंके विना सम्यग्दर्शन भी नही बनता। सबसे प्रथम जिस सत्य मार्गका उसने अवलम्बन किया है उसके सम्बन्धमें उसे नि शंक होना चाहिये। जबतक उसे यह शंका लगी हुई है कि यह मार्ग ठीक है या गलत, उसकी आस्था दृढ कैसे कही जा सकती है? ऐसी अवस्थामे आगे बढनेपर भी उसका लक्ष्यतक पहुँचना सम्भव नही है। अत. उसे अपनेपर अपने गन्तव्य पथपर और अपने मार्गद्रष्टापर अविचल विश्वास होना चाहिये। दूसरे, उसे किसी भी प्रकारके लौकिक सुखोकी इच्छा नही करना चाहिये—विलकुल निष्काम होकर काम करना चाहिये, क्योंकि कामना और वह भी स्त्री, पुत्र, घन वगैरहकी, मनुष्यको लक्ष्यभ्रष्ट कर देती है। इच्छाका दास कभी आगे बढ ही नहीं सकता। जैसे कोई आदमी अपने देशको स्वतंत्र करनेके मार्गको अपनाता है और यह कामना रखकर अपनाता है कि इस मार्गको अपनानेसे मेरी ख्याति होगी, प्रतिष्ठा होगी, मुझे कौंसिलमें मेम्बरी मिलेगी। यदि ये चीजें उसे मिल जाती है तो वह फिर इनको ही अपना लक्ष्य मानकर उनमें ही रम जाता है और देशकी स्वतन्त्रताको भूल बैठता है। यदि ये चीजे नही मिलती और उल्टी यातना सहनी पड़ती है तो वह लोगोको भला-बुरा कहकर उस मार्गको ही छोड़ बैठता है। वैसे ही सांसारिक सुखकी कामना रखकर इस मार्गपर चलना भी लक्ष्य भ्रष्ट कर देता है। अत निरीह होकर रहना ही ठीक है। तीसरे, रोगी, दु खी और दरिद्रीको देखकर उससे ग्लानि नही करनी चाहिये, क्योकि ये सब जीवोके

अपने अपने किये हुए पुण्य पापका खेल है। आज जो अमीर है कल वह दरिद्र हो सकता है। आज जो नीरोग है कल वह रोगी हो सकता है। अत मनुष्यके वैभव और शरीरकी गन्दगीपर दृष्टि न देकर उसके गुणोपर दृष्टि देनी चाहिये। चौथे, उसे कुमार्गकी और कुमार्गपर चलनेवालोंकी कभी भी सराहना नहीं करनी चाहिये, क्योकि इससे कुमार्गको प्रोत्साहन मिलता है। तथा उसमे इतना विवेक और दृढताका होना जरूरी है कि यदि कोई उसे सन्मार्गसे च्युत करनेका प्रयत्न करे तो उसकी बातोमे न आ सके। पाँचवे, उसे अपनेमें गुणोंको बढाते रहनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये और दूसरोके दोषोंको ढाँकनेका प्रयत्न करना चाहिये। तथा अज्ञानी और असमर्थ जनोके द्वारा यदि सन्मार्गपर कोई अपवाद आता हो तो उसे भी दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे लोकमे सन्मार्गकी निन्दा न हो। छठे, स्वय या कोई दूसरा मनुष्य सन्मार्गसे डिगता हुआ हो, किसी कारणसे उसका त्याग कर देना चाहता हो तो अपना और उसका स्थितिकरण करना चाहिये। सातवें, अपने सहयोगियोंसे, और अहिंसामयी धर्मसे अत्यन्त स्नेह करना चाहिये। आठवे, जनतामे फैले हुए अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करके अहिंसामयी धर्मका सर्वत्र प्रसार करते रहना चाहिये। ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग है, जिनका होना जरूरी है।

इसके सिवा सम्यग्दृष्टिको अपने ज्ञान, तप, आदर-सत्कार वल, ऐश्वर्य, कुल, जाति और सौन्दर्यका मद नही करना चाहिये मद बहुत बुरा है। जो कोई मदमे आकर अपने किसी भी सहधर्मीका अपमान करता है, वह अपने धर्मका ही अपमान करता है, क्योकि धार्मिकोके विना धर्मकी स्थिति नही है।

इस प्रकार सम्यदृष्टि तथा सम्यग्ज्ञानी होकर जीवको आगे बढने का प्रयत्न करना चाहिये। इतनी भूमिका तैयार किये विना अहिंसा धर्मरूपी उस महावृक्षका अकुरारोपण नही हो सकता, जिसके शान्तरससे परिपूर्ण सुस्वादु मधुरफल मुक्तिके मार्गमे पाथेयका काम देते है।

और जिसकी शीतल सुखद छायामे यह सचराचर विश्व—युद्धोकी विभीषिकासे त्रस्त और आकुल यह संसार, शान्तिलाभ कर सकता है।

अब रहा सम्यक्चारित्र या आचार।

३. चारित्र या आचार

प्रारम्भमे जैनधर्मका आरम्भकाल वतलाते हुए यह बतलाया है कि जैनशास्त्रोंके अनुसार वर्तमान अवसर्पिणीकालके प्रारम्भमे जब यहाँ भोगभूमि थी, उस समय यहाँ कोई भी धर्म नही था। सब मनुष्य सुखी थे। सबको आवश्यकताके अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती थी। मनुष्य सतोषी और सरल होते थे। वैयक्तिक सम्पत्तिवादका तब जन्म नही हुआ था। अत विषमता भी नही थी। प्राकृतिक साम्यवाद था। न कोई छोटा था और न कोई बडा। न कोई अमीर था और न कोई गरीब। न कोई शासक था और न कोई शास्य। किन्तु पीछे प्रकृतिने पलटा खाया, आवश्यक वस्तुओका यथेष्ट परिमाणमें मिलना बन्द हो गया। मनुष्योंमें असन्तोष और घवराहट पैदा हुई। उनसे संचयवृत्तिका जन्म हुआ। फलत विषमता बढने लगी और उसके साथ साथ अपराधोंकी भी प्रवृत्ति हो चली। सुखका स्थान दु खने ले लिया। तब भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ। उन्होंने लोगोको असि, मषी, कृषि, शिल्प, सेवा और व्यापारके द्वारा आजीविका करनेका उपदेश दिया तथा अपने प्रत्येक कार्यमें अहिंसामूलक व्यवहार करनेका उपदेश देकर अहिंसाको ही धर्म बतलाया और उस अहिंसा धर्मकी रक्षाके लिये सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार अन्य धर्मोका पालन भी आवश्यक वतलाया। ये पाँच यमरूप धर्म ही जैनाचारका मूल है इसीको एकदेशसे गृहस्थ पालते है और सर्वदेशसे मुनि पालते है।

चारित्र या आचारका अर्थ होता है आचरण। मनुष्य जो कुछ सोचता है या बोलता है या करता है वह सब उसका आचरण कहलाता है। उस आचरणका सुधार ही मनुष्यका सुधार है और उसका बिगाड

ही मनुष्यका बिगाड़ है। मनुष्य प्रवृत्तिशील है और उसकी प्रवृत्तिके तीन द्वार हैं—मन, वचन और काय। इनके द्वारा ही मनुष्य अपना काम करता है और इनके द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके परिचयमें आता है। यही वे चीजे हैं, जो मनुष्यको मनुष्यका दुश्मन बनाती हैं और यही वे चीजे हैं जो मनुष्यको मनुष्यका मित्र बनाती हैं। यही वे चीज हैं जिनके सत्प्रयोगसे मनुष्य स्वयं सुखी हो सकता है और दूसरोंको सुखी कर सकता है और यही वे चीजें हैं, जिनके दुष्प्रयोगसे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है और दूसरोके दुःखका कारण बनता है। अतः इनका सत्प्रयोग करना और दुष्प्रयोग न करना शुभाचरण कहा जाता है।

यथार्थमें चारित्रके दो अंग हैं—एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। जितना प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बन्धका कारण है और जितना निवृत्तिमूलक अंश है वह सब अबन्धका कारण है।

यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमे थोडा सा प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। प्रवृत्तिका मतलब है इच्छा-पूर्वक किसी कार्यमें लगना और निवृत्तिका मतलब है प्रवृत्तिको रोकना। प्रवृत्ति अच्छी भी होती और बुरी भी भी। प्रवृत्तिके तीन द्वार हैं—मन, वचन और काय। किसीका बुरा विचारना, किसीसे ईर्षाभाव रखना आदि बुरी मानसिक प्रवृत्ति है। किसीका भला विचारना, किसीकी रक्षाका उपाय सोचना आदि अच्छी मानसिक प्रवृत्ति है। झूठ बोलना, गाली बकना आदि बुरी वाचनिक प्रवृत्ति है। हित मित वचन बोलना अच्छी वाचनिक प्रवृत्ति है। किसीकी हिंसा करना, चोरी करना व्यभिचार करना आदि बुरी कायिक प्रवृत्ति है और किसीकी रक्षा करना, सेवा करना आदि अच्छी कायिक प्रवृत्ति है। इस तरह प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। किन्तु प्रवृत्तिका अच्छापन या बुरापन कर्ताकी क्रिया या उसके फलपर निर्भर नहीं है किन्तु कर्ताके इरादेपर निर्भर है। कर्ता जो कार्य अच्छे इरादेसे करता है वह कार्य अच्छा कहलाता है और जो कार्य बुरे इरादेसे करता

है वह कार्य बुरा कहलाता है। जैसे, एक डाक्टर अच्छा करनेके भावसे रोगीको नश्तर देता है। रोगी चिल्लाता है और तड़फता है फिर भी डाक्टरका कार्य बुरा नही कहलाता, क्योंकि उसका इरादा बुरा नहीं है। तथा एक मनुष्य किसी धनी युवकसे मित्रता जोडकर उसका धन हथियानेके इरादेसे प्रतिदिन उसकी खुशामद करता है, उसे तरह तरहके सब्जबाग दिखाकर वेश्या और शराबसे उसकी खातिर करता है। उसका यह काम बुरा है क्योंकि उसका इरादा बुरा है। इसी तरह और भी अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते है। अत. प्रवृत्तिका अच्छा या बुरापन कर्ताके भावोपर निर्भर है, न कि कार्यपर। ऐसी स्थितिमे जो लोग लौकिक सुखकी इच्छासे प्रेरित होकर धर्माचरण करते है उनका वह धर्माचरण यद्यपि बुरे कार्योंमे लगनेकी अपेक्षा अच्छा ही है तथापि जिस दृष्टिसे धर्माचरणको कर्तव्य बतलाया है उस दृष्टिसे वह एक तरहसे निष्फल ही है, क्योकि लौकिक वैषयिक सुखकी लालसामें फँसकर हम उस चिरस्थायी आत्मिक सुखकी बातको भूल जाते है, जो धर्माचरणका अन्तिम लक्ष्य है, और ऐसे ऐसे कार्य कर बैठते है जिनसे बहुत कालके लिये उस चिरस्थायी सुखकी आशा नष्ट हो जाती है

यद्यपि सुखलाभकी प्रवृत्ति जीवका स्वभावसिद्ध धर्म है। वही प्रवृत्ति जीवोंको अच्छे या बुरे कार्योंमें लगाती है। किन्तु एक तो जीवोंको सच्चे सुखकी पहिचान नही है। वे समझते है कि इन्द्रियोके विषयोंमे ही सच्चा सुख है। इसलिये वे उन्हीकी प्राप्तिका प्रयत्न करते है और उसीके लोभसे धर्माचरण भी करते है। किन्तु ज्यों ज्यों उन्हे विषयोंकी प्राप्ति होती जाती है त्यों-त्यों उनकी विषयतृष्णा बढती जाती है। उस तृष्णाकी पूर्तिके लिये वे प्रतिदिन नये नये उपाय रचते है, अनर्थ करते है, बलात्कार करते है, दूसरोंको सताते है, उचित अनुचितका विचार किये विना जो कुछ कर सकते है करते है, किन्तु उनकी तृष्णा शान्त नही होती। अन्तमे तृष्णाको शान्त करनेकी धुनमें वे स्वयं ही शान्त हो जाते है और अपने पीछे पापोंकी पोटरी

बाँधकर दुनियासे चल बसते हैं। इसीलिये वैषयिक सुखकी खोज इतनी निन्दनीय है। दूसरे, प्रवृत्तिमे एक बडा भारी दोप यह है कि प्रवृत्ति मात्र ही सहजमे असंयत हो उठती है और उचित सीमाको लाँघकर कार्य करने लगती है। इसीसे प्रवृत्तिके दमनपर इतना जोर दिया गया है और प्रवृत्तिको विश्वस्त पथ-प्रदर्शक नही माना जाता। इसीलिये दूरदर्शी धर्मोपदेष्टाओने प्रवृत्ति-मूलक कार्यकी अपेक्षा निवृत्तिमूलक कार्यकी ही अधिक प्रशंसा की है। और निवृत्तिमार्गको ही ग्रहण करनेका उपदेश दिया है।

अनेक लोग सोच सकते है कि प्रवृत्ति मनुष्यको यथार्थकर्मा बनाकर जगतका हित करनेमे लगाती है और निवृत्ति मनुष्यको निष्कर्मा बनाकर जगतका हित करनेसे रोकती है। किन्तु यह बात ठीक न है। यह सच है कि निवृत्तिमार्गकी अपेक्षा प्रवृत्तिमार्ग आकर्षक है। पर उसका कारण यह है कि प्रवृत्तिमार्गसे जिस सुखकी खोज की जाती है वह क्षणिक होनेपर भी सहज-लभ्य और सहजभोग्य है। निवृत्तिमार्गसे जिस सुखको खोजा जाता है वह नित्य होनेपर भी अतिदूर है और सयतचित्त हुए विना कोई उसे भोग नही सकता। अत. निवृत्तिमार्ग यद्यपि आकर्षक नही है तथापि एक वार जो उसपर पग रख देता है वह बराबर चलता रहता है, क्योकि उस मार्गपर चलनेसे जो सुख प्राप्त होता है वह नित्य है और उसको भोगनेकी शक्तिका कभी ह्रास नही होता। इसके विपरीत प्रवृत्तिमार्गसे जो सुख प्राप्त होता है उस सुखके लिये जिन भोग्य सामग्रियोकी आवश्यकता है वे सब अस्थायी है और उस सुखको भोगनेके लिये हममे जो शक्ति है वह भी क्षय होनेवाली है। दूसरे, प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है उसके अन्त तक चालू रहनेमे बहुत कुछ शका रहती है, क्योकि कर्ता किसी लौकिक इच्छासे ही उसमें प्रवृत्त होता है। किन्तु निवृत्तिमार्गपर चलनेवालेके विषयमे यह शका नही रहती, क्योकि वह अपने सुख-लाभपर दृष्टि न रखकर कार्य करनेमे ही रत रहता है। शायद

कोई कहे कि प्रवृत्तिमार्गी लोगोने ही परिश्रम करके अनेक प्रकारके विषय-सुखके उपायोका आविष्कार करके मनुष्यजातिका महान् हित किया है और निवृत्तिमार्गियोने कुछ नही किया। तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उन सब सुखसाधनोके रहते हुए भी जब कोई आदमी दुस्सह शोकसागरमें निमग्न होता है, या निराशाके गर्तमें पड़ा होता है या असाध्य रोगसे पीडित होता है तो निवृत्तिमार्गियोंके जीवनके उज्ज्वल दृष्टान्त ही उसको धीरज बँधाते हैं, और उनके अनुभवपूर्ण उपदेशोंके द्वारा ही उसे सच्ची शान्तिका लाभ होता है। अत जो सच्चे सुख और शान्तिकी खोजमें है उन्हे कुछ-कुछ निवृत्तिमार्गी भी होना चाहिये और प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए भी अपनी दृष्टि निवृत्तिमार्गपर ही रखनी चाहिये।

कोई कह सकते है कि इस तरह यदि सभी निवृत्तिमार्गी हो जायेंगे तो दुनियाका काम कैसे चलेगा? किन्तु ऐसा सोचनेकी जरूरत नही है क्योकि हमारी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल है कि निवृत्तिके अभ्याससे उनकी जड़ उखड़नेकी संभावना नही है। उससे इतना ही हो सकता है कि वे कुछ शान्त हो जायें, किन्तु इससे हमे और जगतको लाभ ही पहुँचेगा, हानि नही। अत· चारित्रके दो रूप है एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। इन दोनों ही चारित्रोंका प्राण है अहिंसा, और उसके रक्षक है, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

४. अहिंसा

जैनचारका प्राण

अहिंसा ही परमधर्म है। अहिंसा ही परमब्रह्म है। अहिंसा ही सुख शान्ति देनेवाली है, अहिंसा ही संसारका त्राण करनेवाली है। यही मानवका सच्चा धर्म है, यही मानवका सच्चा कर्म है। यही वीरोका सच्चा बाना है, यही धीरोंकी प्रबल निशानी है। इसके बिना न मानवकी शोभा है न उसकी शान है। मानव और दानवमें केवल अहिंसा और हिंसाका ही तो अन्तर है। अहिंसा मानवी है और हिंसा दानवी है।

जबसे मानवने अहिंसाको भुला दिया तभीसे वह दानव होता जाता है और उसकी दानवताका अभिशाप इस विश्वको भोगना पड रहा है। फिर भी मानव इस सत्यको नही समझता। किन्तु वह दिन दूर नही है जब मानवससार उसे समझेगा, क्योंकि उसके कष्टोका दूसरा इलाज ही नही है।

ससार सुख शान्ति चाहता है, इसका मतलब है कि ससारमे निवास करनेवाला प्रत्येक प्राणी सुखशान्तिका इच्छुक है। कोई मरना नही चाहता। दु खीसे दु खी प्राणी भी जीवित रहनेकी चाह रखता है। सबको अपना जीवन प्रिय ही नही, बल्कि अतिप्रिय है। ऐसी अति प्यारी चीजको जो नष्ट कर डालता है वह हिंसक है, दानव है, पातकी है। और जो उसकी रक्षा करता है, अपने प्राणोका बलिदान करके भी त्रस्तोंको बचाता है, उन्हे जीवनदान देता है, वह अहिंसक है और वही सच्चा मानव है। इस मानवताका मूल्य वही आँक सकता है, जिसके प्राणोपर कभी सकट आया है। जो केवल मारना जानते है, सताना जानते है, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है ?

कहावत प्रसिद्ध है–'जाके पैर नहिं फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई ?' जिसके जीवनपर कभी दु खकी घटा नही घहराई, कभी किसी आततायीकी तलवार नही पडी, वह क्या जान सकता है कि दूसरोंको मारनेमे या सतानेमे क्या दु ख है ? काश यदि मानवने अपने जीवनपर बीती दु खद घटनाओसे शिक्षा ली होती तो आज मानव मानवके खूनका प्यासा न होता। किन्तु मानव इतना स्वार्थी है या उसकी स्वार्थपरक वृत्तियाँ इतनी प्रबल है, कि वह स्वयं तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोके जीवनकी कतई परवाह नही करता। उसकी दशा नशेमे मस्त उस मोटरचालककी सी है जो सरपट मोटर दौड़ाते हुए यह भूल जाता है कि जिस सडकपर मै मोटर चला रहा हूँ उसपर कुछ अन्य प्राणी भी चल रहे है, जो मेरी मोटरसे दबकर मर सकते है। उसे अपने जीवनकी व अपने सुख चैनकी तो चिन्ता है

किन्तु दूसरोकी नही। मुझे स्वादिष्टसे स्वादिष्ट पदार्थ खानेको मिलने चाहियें चाहे दूसरोको सूखा कौर भी न मिले। मेरे खजानेमे बेकार सोने-चाँदीका ढेर लगा रहना चाहिये चाहे दूसरोके तनपर फटा चीथडा भी न हो। मेरी साहूकारी सैकडोको गरीब बनाती है तो मुझे क्या ? मेरे भोगविलासके निमित्तसे दूसरोके प्राणोंपर बन आती है तो मुझे क्या ? हमारे साम्राज्यवादकी चक्कीमे देशका देश पिस रहा है तो हमें क्या ? व्यक्ति, समाज और राष्ट्रकी ये भावनाएँ ही दूसरे व्यक्तियो, समाजो और राष्ट्रोका निर्दलन कर रही है। इनके कारण किसीको भी सुखसाता नही है। परस्परमे अविश्वासकी तीव्र भावना रात दिन आकुल करती रहती है। सब अवसरकी प्रतीक्षामें रहते है कि कब दूसरेका गला दबोचा जाय। ये सब हिंसक मनोवृत्तिका ही दुष्परिणाम है जो विश्वको भोगना पड रहा है। इससे बचनेका एक ही उपाय है और वह है 'जिओ और जीने दो' का मंत्र। उसके बिना विश्वमे शान्ति नही हो सकती।

कुछ लोग अहिंसाको कायरताकी जननी समझते है और कुछ उसे अच्छी मानकर भी अशक्य समझते है। उनका ऐसा ख्याल है कि अहिंसा है तो अच्छी चीज मगर वह पाली नही जा सकती। ये दोनो ही ख्याल गलत है। न अहिंसा कायरताको पैदा करती है और न वह ऐसी ही है कि उसका पालन करना अशक्य हो। अहिंसापर गहरा विचार न करनेसे ही ऐसी धारणा बना ली गई है। हिंसा न करनेको अहिंसा कहते है। किन्तु अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दु खी हो जानेसे ही हिंसा नही होती। ससारमें सर्वत्र जीव पाये जाते है और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते है फिर भी जैनधर्मके अनुसार इसे तबतक हिंसा नही कहा जा सकता जबतक अपने हिंसारूप परिणाम न हो। वास्तवमें हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। अर्थात् जबतक हम प्रमादी और अयत्नाचारी न हो तबतक किसीका घात हो जाने मात्रसे हम हिंसक नही कहलाये जा सकते।

आशय यह है कि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कषायसे अर्थात् जानबूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानीसे। जब एक मनुष्य क्रोध, मान , माया या लोभके वश दूसरे मनुष्यपर वार करता है तो वह हिंसा कषायसे कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा अयत्नाचारसे कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख भालकर अपना कार्य कर रहा है और उस समय उसके चित्तमें किसीको कष्ट पहुँचाने का भी भाव नही है, फिर भी यदि उसके द्वारा किसीको कष्ट पहुँचता है या किसीका घात हो जाता है तो वह हिंसक नही कहा जा सकता। इसी बातको स्पष्ट करते हुए शास्त्रकारोने लिखा है—

"उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।"

—प्रवच० पृ० २९२।

अर्थात्—'जो मनुष्य आगे देख भालकर रास्ता चल रहा है उसके पैर उठानेपर अगर कोई जीव पैरके नीचे आ जावे और कुचलकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मरने का थोड़ा सा भी पाप आगममे नही कहा।'

किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है उसे इस बातकी बिल्कुल परवाह नही है कि उसके इस कार्यसे किसीको हानि पहुँच सकती है या किसीके प्राणोंपर बन आ सकती है, और उसके द्वारा उस समय किसीको कोई हानि पहुँच भी नही रही हो, फिर भी वह हिंसाके पापका भागी है—

'मरदु व जीवदु जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थिबंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥१७॥ —प्रवच० ३।

अर्थात्—'जीव चाहे जिये चाहे मरे, असावधानतासे काम करनेवालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो सावधानीसे काम कर रहा है उसे प्राणिवध हो जानेपर भी हिंसाका पाप नही लगता।'

अहिंसाकी इस व्याख्याके अनुसार अपनेसे किसी जीवका घात हो जाने या किसीके दुखी हो जानेपर भी तबतक हिंसा नहीं कहलाती जबतक अपने भाव उसे मारने या दुःखी करनेके न हों, अथवा हम अपना कार्य करते हुए असावधान न हों। किन्तु यदि हमारे भाव किसीको मारने या कष्ट पहुँचानेके हों, परन्तु प्रयत्न करनेपर भी हम उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकें, तब भी हम हिंसक ही समझे जायेंगे। क्योंकि जो दूसरोंका बुरा करना चाहता है वह सबसे पहले अपना बुरा करता है। जैसा कि कहा है—

'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात् स्याद्वा न वा वधः॥'—सर्वार्थ० पृ० २०६।

अर्थात्—'प्रमादी मनुष्य पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है, पीछे दूसरे प्राणियोंका घात हो या न हो।'

असलमें जैनधर्ममें हिंसाको दो भागोंमें बाँट दिया गया है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जब किसीको मारने या सताने अथवा असावधानताका भाव न होनेपर भी दूसरेका घात हो जाता है तब उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं और जब किसीको मारने या सताने अथवा असावधानताका भाव होता है तब उसे भावहिंसा कहते हैं। वास्तवमें भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाको तो केवल इसलिये हिंसा कहा है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। किन्तु द्रव्यहिंसाके होनेपर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है, अर्थात् जिस आदमीके द्वारा किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है उस आदमीका इरादा भी ऐसा करनेका था ऐसा एकान्तरूपसे नहीं कहा जा सकता। अतः जहाँ कर्ताके भावोंमें हिंसा है वहाँ हिंसा है, उसके द्वारा कोई मारा जाय या न मारा जाये। और जहाँ कर्ताके भावोंमें हिंसा नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है, भले ही उसके निमित्तसे किसीकी जान चली जाये। अगर द्रव्यहिंसा और भावहिंसाको इस प्रकार अलग न किया गया होता तो कोई भी अहिंसक न बन सकता और यह शंका बराबर खड़ी रहती—

'जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथ भिक्षुरहिंसक ॥'

'जलमे जतु है, स्थलमे जतु है और आकाशमे भी जतु है। इस तरह जब समस्त लोक जन्तुओसे भरा हुआ है तो कोई मुनि कैसे अहिंसक हो सकता है?'

इस शंका का उत्तर इस प्रकार दिया है—

'सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिन. स्थूलमूर्तय।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा सयतात्मन.॥'

'जीव दो प्रकारके है सूक्ष्म और वादर या स्थूल। जो जीव सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य होते है और न तो किसीसे रुकते है और न किसीको रोकते है, उन्हे तो कोई पीडा दी ही नही जा सकती। रहे स्थूल जीव, उनमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है। अत: जिसने अपनेको संयत कर लिया है उसे हिंसाका पाप कैसे लग सकता है?'

इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य जीवोकी हिंसा करनेके भाव नही रखता वल्कि उनके वचानेके भाव रखता है और अपना प्रत्येक काम ऐसी सावधानीसे करता है कि उससे किसीको भी कष्ट न पहुँच सके उसके द्वारा जो द्रव्यहिंसा हो जाती है उसका पाप उसे नही लगता। अत: जैनधर्मकी अहिंसा भावोके ऊपर निर्भर है और इसलिये कोई भी समझदार उसे अव्यवहार्य नही कह सकता। मनुष्यसे यह आशा की जाती है कि वह अपने स्वार्थके पीछे किसी भी अन्य जीवको सतानेके भाव चित्तमे न आने दे और अपना जीवननिर्वाह इस तरीकेसे करे कि उससे कमसे कम जीवोका कमसे कम अहित होता हो। जो मनुष्य इस तरहकी सावधानी रखता है वह अहिंसक है।

अहिंसाको व्यवहार्य वनानेके लिये जैसे हिंसाके द्रव्यहिंसा और भावहिंसा भेद किये गये है, वैसे ही अहिंसाके भी अनेक भेद किये गये है। सबसे प्रथम तो गृहस्थ और साधुकी अपेक्षासे अहिंसा दो भागोमे बाँट दी गई है। गृहस्थकी अहिंसाकी सीमा जुदी है और साधुकी अहिंसाकी सीमा जुदी है। जो एकके लिये व्यवहार्य है वही दूसरेके लिये

अव्यवहार्य है, क्योंकि दोनोंके पद और उत्तरदायित्व विभिन्न हैं। दूसरे, गृहस्थकी दृष्टिसे भी उसके अनेक प्रभेद किये गये है। यदि उन सीमाओ और भेद प्रभेदोको भी दृष्टिमे रखकर जैनी अहिंसाको देखा जाये तो हमे विश्वास है कि उसपर अव्यावहारिकताका दोषारोपण नही किया जा सकेगा।

गृहस्थकी अहिंसा

हिंसा चार प्रकारकी होती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। बिना अपराधके जान बूझकर किसी जीवका वध करनेको संकल्पी हिंसा कहते हैं। जैसे, कसाई पशुवध करता है। जीवन निर्वाहके लिये व्यापार खेती आदि करने, कल कारखाने चलाने तथा सेनामें नौकर होकर युद्ध करने आदिमे जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। सावधानी रखते हुए भी भोजन आदि बनानेमे जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। और अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिये जो हिंसा करनी पडती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

जैनधर्ममें सब संसारी जीवोको दो भेदोमे बाँटा गया है एक स्थावर और दूसरा त्रस। जैनधर्मके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडे, मकोडे आदिके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें भी जीव हैं। मिट्टीमे कीड़े आदि जीव तो है ही, परन्तु मिट्टीका ढेला स्वय पृथ्वीकायिक जीवके शरीरका पिण्ड है। इसी तरह जलविन्दुमें यन्त्रोंके द्वारा दिखाई देनेवाले अनेक जीवोके अतिरिक्त वह स्वय जलकायिक जीवके शरीरका पिण्ड है। ऐसे ही अग्नि आदिके सम्बन्धमे भी समझना चाहिये। इन जीवोको स्थावर जीव कहते हैं। और जो जीव चलते फिरते दिखाई देते है, जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडे, मकोडे वगैरह, वे सब त्रस कहे जाते है। इन दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे गृहस्थ स्थावर जीवोकी रक्षाका तो यथाशक्ति प्रयत्न करता है, और विना जरूरत न पृथ्वी खोदता है, न जलको खराब करता है, न आग जलाता है,

न हवा करता है और न हरी साग सब्जीको या वृक्षोंको काटता है। तथा त्रस जीवोंकी केवल सकल्पी हिंसाका त्याग करता है। इस हिंसाका त्याग कर देनेसे उसके सासारिक जीवनमें कोई कठिनाई उपस्थित नही होती, क्योकि सकल्पी हिंसा मनोविनोदके लिये या दूसरोंको मारकर उसके मांसका भक्षण करनेके लिये की जाती है। खेद है कि मनुष्य 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्तको भुलाकर दिलवहलावके लिये जंगलमे निर्द्वन्द विचरण करनेवाले पशु पक्षियोका शिकार खेलता है और उनके मांससे अपना पेट भरता है। यदि मनुष्य ऐसा करना छोड़ दे तो उससे उसकी जीवनयात्रामे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती। मनुष्यके दिलवहलावके साधनोकी कमी नही है और पेट भरनेके लिये पृथ्वीसे अन्न और हरी साग सब्जी उपजाई जा सकती है जिससे तरह तरहके स्वादिष्ट भोजन तैयार हो सकते है। आजके युगमे वैज्ञानिक साधनोसे सब जगह खाद्यान्न उपजाया जा सकता है और अनावश्यक जानवरोकी पैदायशको भी रोका जा सकता है। यदि मनुष्य यह सकल्प करले कि हम अपने लिये किसी जीवकी हत्या न करेगे तो वह दूसरी दिशामे और भी अधिक उन्नति कर सकता है।

फिर मांसाहार मनुष्यका प्राकृतिक भोजन भी नही है, उसके दांतो और आंतोकी वनावट इसका साक्षी है। न मांसाहारसे वह वल और शक्ति ही प्राप्त होती है जो घी, दूध और फलाहारसे प्राप्त होती है। इसके सिवा मांसाहार तामसिक है, उससे मनुष्यकी सात्विक वृत्तियोका घात होता है। इसके विषयमे काफी लिखा जा सकता है किन्तु यहाँ उसके लिये उतना स्थान नही है। इसी तरह शिकार खेलना भी मनुष्यकी नृशसता है। व्याघ्र वगैरह हिंसक पशु भी तभी दूसरे जानवरोंपर आक्रमण करते है जब उन्हे भूख सताती है। किन्तु मनुष्य उनसे भी गया बीता है, जो डरसे भागते हुए पशुओंके पीछे घोडा दौड़ाकर और बाण या वन्दूककी गोलीसे उनको भूनकर अपना दिल वहलाता है। कुछ लोगोंका कहना है कि शिकार खेलनेसे वीरता

आती है, इसलिये मृगया करना क्षत्रियका कर्तव्य है। उन्होंने शायद क्रूरता और निर्दयताको ही वीरता समझा है। किन्तु वीरता आन्तरिक शौर्य है जो तेजस्वी पुरुषोमे समय समयपर अन्याय व अत्याचारका दमन करनेके लिये प्रकट होती है। डरकर भागते हुए मूक पशुओंके जीवनके साथ होली खेलना शूरवीरता नही है, कायरता है। जो ऐसा करते है, वे प्राय कायर होते है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमने हिन्दू मुस्लिम दगेके समय वनारसमे देखा। हमारे मुहालमे अधिकतर बस्ती मल्लाहोंकी है। वे इतने क्रूर होते है कि वड़े वड़े घडियालोको पकड़कर साग सब्जीकी तरह काट डालते है, और खा जाते है। किन्तु हिन्दू मुस्लिम दगेके समय उनकी कायरता दयनीय थी। अपनी नावोंमें बैठ बैठकर सब उस पार भाग गये थे और जो शेष थे वे भी जैन विद्यार्थियोसे अपनी रक्षा करनेकी प्रार्थना किया करते थे। अत मांसाहार या शिकार खेलनेसे शूरवीरताका कोई सम्बन्ध नही है। इसलिये इनसे बचना चाहिये।

इसी तरह धर्म समझकर देवीके सामने बकरों, भैंसो और सूकरोंका वलिदान करना भी एक प्रकारकी मूढता और नृशसता है। इससे देवी प्रसन्न नही होती। धर्माराधनके स्थानोंको बूचडखाना बनाना शोभा नही देता। अत. सबसे पहले गृहस्थको धर्मके लिये, पेटके लिये और दिलबहलावके लिये किसी भी प्राणीका घात नही करना चाहिये।

कुछ लोग कहते है कि जब जैनधर्मके अनुसार जल तथा वनस्पति वगैरह भी जीवोंका कलेवर ही है, तब निरामिष भोजियोंको वनस्पति वगैरह भी नही खाना चाहिये। परन्तु जो सप्तधातु युक्त कलेवर होता है उसकी ही मांस सज्ञा है। वनस्पतिमे सप्तधातु नही पाई जाती। अत उसकी मांस संज्ञा नही है। इसी तरह कुछ लोग स्वय मरे हुए प्राणीके मांसके खानेमे दोप नही बतलाते। यह सत्य है कि जिस प्राणीका वह मांस है, उसे मारा नही गया। किन्तु एक तो मांसमें तत्काल अनेक सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे मांस भक्षणसे

जो बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, उनसे मनुष्य कभी भी नही बच सकता कहा भी है—

'मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिन प्रति ।
हन्तु प्रवर्तते बुद्धि शकुन्य इव दुर्धियः ॥२७॥ —योगशा० ।

अर्थात्—'जिसको मांस खानेका चसका पड जाता है, उस प्राणीकी बुद्धि दुष्ट पक्षियोंके समान दूसरे प्राणियोंको मारनेमे लगती है ।'

आज मांस भक्षणका बहुत प्रचार है उसका ही यह फल है कि अपने स्वार्थके पीछे मनुष्य मनुष्यका दुश्मन बना हुआ है । एकको दूसरेका वध करते हुए जरा भी सकोच नही होता । अत इससे बचना चाहिये ।

इस तरह गृहस्थको त्रस जीवोंकी सकल्पी हिंसाका त्याग जरूर करना चाहिये । अब रह जाती है, उद्योगी आरम्भी और विरोधी हिंसा । एक नीची श्रेणीके गृहस्थके लिये इनका त्याग करना शक्य नही है, क्योकि उसे अपने और अपने कुटुम्बियोंके भरण-पोषणके लिये कोई न कोई उद्योग और कुछ न कुछ आरम्भ अवश्य करना पड़ता है, उसके बिना उसका निर्वाह नही हो सकता । किन्तु उसे ऐसा ही उद्योग और आरम्भ करना चाहिये जिसमें दूसरे प्राणियोंको कमसे कम कष्ट पहुँचनेकी सभावना हो । इसी तरह विरोधी हिंसासे भी गृहस्थ नही बच सकता । यद्यपि वह स्वय किसीसे अकारण विरोध पैदा नही करता, किन्तु यदि कोइ उसपर आक्रमण करे तो उससे बचनेके लिये वह बराबर प्रयत्न करेगा । आक्रमणकारीका सामना न करके डरकर घरमें छिप जाना अहिंसाकी निशानी नही है इस मानसिक हिंसासे तो प्रत्यक्ष हिंसा कही अच्छी है । जैनशास्त्रमें तो स्पष्ट लिखा है—

'नापि स्पष्टः सुदृष्टिर्य. स सप्तभि भयर्मनाक् ।' —पञ्चाध्यायी ।

'जैनधर्मका जो सच्चा श्रद्धानी है वह सात प्रकारके भयोसे सर्वथा अछूता रहता है ।'

जैनधर्मके सभी तीर्थङ्कर क्षत्रियवशी थे। उन्होने अपने जीवनमे अनेक दिग्विजये की थी। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त, महामेघवाहन सम्राट् खारवेल, वीर सेनापति चामुण्डराय आदि जैन वीर योद्धा तो भारतीय इतिहासके उज्ज्वल रत्न है। वस्तुत जैनधर्म उन क्षत्रियोका धर्म था जो यद्धस्थलमें दुश्मनका सामना तलवारसे करना जानते थे और उसे क्षमा करना भी जानते थे। जैन क्षत्रियोके लिये आदेश है—

"य. शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्याद् य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा. क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाशयेषु॥"

—यशस्तिलक. पृ० ९६

'अस्त्र शस्त्रसे सुसज्जित होकर युद्धभूमिमे जो शत्रु बनकर आया हो, या अपने देशका दुश्मन हो उसीपर राजागण अस्त्रप्रहार करते है, कमजोर, निहत्थे कायरो और सदाशयी पुरुषो पर नही।'

यही जैनी राजनीति है। अत. जो लोग अहिंसा धर्मपर कायरताका लाञ्छन लगाते है, वे भ्रममे है। अहिंसामे तो कायरताके लिये स्थान ही नही है। अहिंसाका तो पहला पाठ ही निर्भयता है। निर्भयता और कायरता एक ही स्थानमे नही रह सकती। शौर्य आत्माका एक गुण है, जब वह आत्माके ही द्वारा प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा कहलाता है और जब वह शरीरके द्वारा प्रकट किया जाता है तब वीरता। जैनधर्मकी अहिंसा या तो वीरताका पाठ पढाती है या क्षमाका। आपत्तिकालमे गृहस्थका कर्तव्य बतलाते हुए एक जैनाचार्यने लिखा है—

"अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्पर स्यात्तदत्यये॥८१२॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।
तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधा सहते न स.८१३॥"—पञ्चाध्या०।

अर्थात्—'धर्मके आयतन जिन मन्दिर, जिन बिम्ब आदिमेंसे किसीपर भी आपत्ति आ जानेपर सच्चे जैनीको उसे दूर करनेके लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। अथवा जबतक उसके पास आत्मबल,

मंत्रवल, तलवारका वल और धनवल है, तवतक वह उस आपत्तिको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है।'

जो कुछ धर्मपर आई हुई आपत्तिके प्रतीकारके वारेमे कहा गया है वही देशपर आई हुई आपत्तिके वारेमे भी समझना चाहिये। अतः जो लोग ऐसा समझते है कि जैनधर्मका अनुयायी सेनामे भर्ती नही हो सकता या युद्ध नही कर सकता, वे भ्रममे है। आजकल जैनधर्मको माननेवाले अधिकांश वैश्य है। और सदियोंकी दासता और उत्पीड़नने उन्हे भी कायर और डरपोक वना दिया है। यह अहिंसाधर्मका दोष नही है। जवतक भारतपर अहिंसाधर्मी जैनोका राज्य रहा तवतक भारत गुलाम नही हो सका। वे मरना जानते थे और समयपर मारना भी जानते थे किन्तु रणसे विमुख होकर भागना नही जानते थे। प्राणोके मोहसे कर्तव्यच्युत होना तो सवसे वड़ी हिंसा है।

एक वार एक लेखकने गीतामे प्रतिपादित अर्जुन व्यामोहके सम्वन्धमें लिखा था—"अर्जुनका आदर्श अनार्योका—वौद्ध और जैनोका मार्ग है। वह आर्योका-हिन्दू जातिका आदर्श कदापि नही है। हिन्दू-जाति ऐसे झूठे अहिंसाके आदर्शको नही मानती।" हम नही समझते लेखकने इस आदर्शको जैनोका आदर्श कैसे समझ लिया? गीतासे स्पष्ट है कि अर्जुन हिंसाके भयसे युद्धसे विरत नही हो रहा था किन्तु अपने वन्धु वान्धवों और कुलका विनाश उसे कर्तव्यच्युत कर रहा था। अर्जुनके हृदयमें अहिंसाकी ज्योति नही झलकी थी, जिसके प्रकाशमे मनुष्य प्राणिमात्रको अपना वन्धु और संसारको अपना कुटुम्ब मानता है, उसके हृदयमें तो कुटुम्व मोहने अपना साम्राज्य जमा लिया था। अत वह अहिंसाका आदर्श नही था। अहिंसा कर्तव्यच्युत नही करती, किन्तु कर्तव्य और अकर्तव्यका वोध कराकर अकर्तव्यसे वचाती है और कर्तव्यपर दृढ करती है। अत. अहिंसा न अव्यवहार्य है और न कायरता और निवलताकी जननी है। उसकी मर्यादा, व्यास्य और शक्तिसे जो परिचित है वह ऐसा कहनेका साहस नही कर सकता।

हिंसा तो एक गृहस्थके लिये अपरिहार्य है, किन्तु गृहस्थको ऐसा उद्योग करना चाहिये जिसमें जीवघात कमसे कम हो, और उतना ही उद्योग करना चाहिये जितनेसे उसका निर्वाह बखूबी हो सकता हो, क्योंकि जो गृहस्थ थोड़े आरम्भ और थोड़ी परिग्रहमें सन्तुष्ट रहता है वही अहिंसा अणुव्रतको पाल सकता है। जिसे रातदिन धनकी चिन्ता सताती रहती है, जो रात दिन नये नये कल कारखाने खोलकर धनसंग्रह करनेमें तत्पर रहता है और अपने कर्मचारियों और नौकरोंको कमसे कम देकर उनसे अधिकसे अधिक काम कराता है, न्याय और अन्यायका कतई विचार नहीं करता, वह क्या खाक अहिंसाको पाल सकता है? अहिंसा सन्तोषीके लिये है, असन्तोषी कभी अहिंसक हो ही नहीं सकता। गृहस्थका यह कर्तव्य बतलाया है कि वह अपने आश्रितों और यथाशक्ति अनाश्रितोंको भी पहले भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करे। जो सन्तोषी होगा वही ऐसा कर सकता है। असन्तोषी तो पहले अपना पेट ही नहीं, किन्तु अपने भण्डारको भरनेकी चिन्ता करेगा, उसकी दृष्टिमें तो आश्रितोंकी चिन्ता करना ही बेकार है। वह समझता है कि मैंने मोलभाव करके उन्हें रखा है, हर महीने उन्हें उसके अनुसार वेतन दे दिया जाता है। उतनमें उनका और उनके बालबच्चोंका पेट भरे या न भरे। इतनेमें यदि वे काम नहीं करना चाहते हों तो न करें हम दूसरे आदमी रख लेंगे। बाजारमें आदमियोंकी कमी नहीं है। ऐसे विचारवाला मनुष्य कोरा व्यापारी है किन्तु अहिंसक व्यापारी नहीं है। अहिंसक व्यापारी तो वह है जो अपनी ही तरह अपने आश्रितोंकी भी चिन्ता करता है और उनके ऊपर जोर जुल्म न करके उन्हें समयपर भरपेट भोजन देता है और उतना ही काम लेता है जितना वे कर सकते हों। यह बात अपने आश्रित मनुष्यों और पशुओं दोनोंके सम्बन्धमें समानरूपसे लागू होती है। जैन शास्त्रकारोंने अहिंसा अणुव्रतके पाँच दोष बतलाये हैं और उनसे बचते रहनेको ताकीद की है। वे दोष इस प्रकार हैं—

१. बुरे इरादेसे मनुष्य और पशुओंको रस्सी वगैरहसे बाँधना।

नौकर चाकरोको तो गुस्सेमे आकर मालिक लोग बँधवा डालते है किन्तु पालतू पशु तो विना बाँधे रह नही सकते। इसलिये उनको इस तरहसे बाँधना चाहिये कि यदि कभी घरमे आग लग जाये तो वे बन्धन छुडाकर भाग सके।

२. क्रूरता पूर्वक डण्डे या कोडेसे पीटना।

३. निर्दय होकर हाथ, पैर, कान, नाक वगैरहका काट डालना, किन्तु यदि किसी पशु या मनुष्यके शरीरका कोई अवयव सड़ गया हो या शरीरमे फोडा हो गया हो तो उसके काटने या चीरनेमे कोई दोष नही है।

४. गुस्सेमे आकर या लोभसे मनुष्य या पशुके ऊपर उसकी शक्तिसे ज्यादा बोझा लादना या शक्तिसे अधिक काम लेना। श्रावकको चाहिये कि मनुष्य जितना बोझा स्वय उठाकर ले जा सके और उतार कर नीचे रख सके उतना ही बोझा उससे उठवाये और रखवाये। इसी तरह चौपाया जितना बोझा लादकर अच्छी तरह चल सके उतना ही उसपर लादे। उसमे भी समयका ध्यान अवश्य रखे। उचित समय तक ही उनसे काम लेना चाहिये। यदि श्रावक खेती करता हो तो हल और गाडी वगैरहमे बैलोको समयसे जोते और समयसे खोल दे। शक्तिसे अधिक काम लेना भी हिंसा ही है।

५. भूख प्याससे पीडित प्राणी मर भी जाता है इसलिये खाना किसीका भी न रोकना चाहिये। यदि किसीने अपराध किया हो तो उसे डाटनेके लिये मुँहसे यह चाहे कह दे कि आज तुझे भोजन नहीं मिलेगा, किन्तु भोजनका समय आनेपर तो नियमसे दूसरोको खिलाकर ही स्वयं खाना चाहिये। हाँ, यदि कोई अपना आश्रित बीमार हो या उसने स्वय ही उपवास किया हो तो बात दूसरी है। अत. श्रावकको इस बातका बराबर ध्यान रखना चाहिये कि अहिंसाव्रतमे दोष न आने पाये।

यदि अहिंसाव्रती श्रावक अपने आश्रितोंके साथ ऐसा प्रेमम व्यवहार रखे तो उसे इससे आर्थिक दृष्टिसे भी लाभ ही रहेगा, क्योंकि

ममय व्यवहारसे कर्मचारीगण उसके कामको अपना समझकर दिल लगाकर काम करेंगे और उसके हानि-लाभको अपना हानि-लाभ मानेंगे। इस तरहसे अहिंसामूलक व्यवहार स्वार्थ और परमार्थ दोनो दृष्टिसे लाभदायक है। यदि जमींदार और मिलमालिक अपने आश्रित किसानो और मजदूरोंके साथ ऐसा ही प्रेममय व्यवहार करते बनाते तो आज उन दोनोके बीचमे जो खींचातानी चलती रहती है वह इतना कटुरूप धारण न करती और न जमींदारी और कल कारखानोपर दमनकारी नियत्रणकी बात ही पैदा होती। अस्तु।

रात्रिभोजन और जलगालन

अहिंसाव्रती श्रावकको रातमे भोजन नही करना चाहिये और पानी भी कपड़ेसे छानकर काममे लेना चाहिये। रातमें भोजन करनेके परिणाम प्राय समाचारपत्रोमे प्रकट होते रहते हैं। कही चायकी टलीमें छिपकलीके चुर जानेके कारण चाय पीनेवाले मनुष्योंका मरण ननेमे आता है, कभी किसी दावतमे पकते हुए बरतनमे साँपके ध जानेके कारण मनुष्योंका मरण सुननेमें आता है। प्रतिवर्ष इस रहकी दो चार घटनाएं घटती रहती हैं, मगर फिर भी मनुष्योंकी आँखें ही खुलती। भोजन हमेशा दिनके प्रकाशमें ही देख भालकर करना ाहिये। रात्रिमे तेजसे तेज प्रकाशका प्रबन्ध होनेपर भी एक तो उतना ष्ट दिखलाई नही देता, जितना दिनमे दिखलाई देता है। दूसरे, र्यके प्रकाशमें जो जीव जन्तु इधर उधर जा छिपते हैं, रात्रि होते ही सब अपने अपने खाद्यकी खोजमे निकल पडते हैं, कृत्रिम प्रकाश न्हे रोक नही सकता, बल्कि अधिक तेज प्रकाशसे पतगे वगैरह और ी अधिक आते हैं। खानेवाला भोजन करता जाता है और पतगे गैरह टप टप गिरते रहते हैं। रात्रिको हलवाईकी दूकानपर जाकर वें। नीचे भट्टीपर दूधकी कड़ाही चढी होती है और ऊपर बिजलीके ल्वपर पतगे मंडराते रहते है और कड़ाहीमे गिर गिरकर पीनेवालोके लिये लाईका लच्छा बनानेका काम करते रहते है। पास ही छिपकली

उनके शिकारके लिये लपकती रहती है, जो कभी-कभी दूधमे भी जा पड़ती है। एक बार इसी तरहके दूधको जमा दिया गया। सुबहको जिसने उस दूधके दहीकी लस्सी पी उसीकी हालत खराब हो गई। पीछे दहीके कुंडमे नीचे छिपकली मरी हुई पाइ गई। यदि भोजनमें जूं खा ली जाये तो जलोदर रोग हो जाता है और मकडी खा ली जाये तो कुष्ठ हो जाता है। तथा वैद्यकशास्त्रके अनुसार भी भोजन करनेके तीन घटेके पश्चात् जब खाये हुए भोजनका परिपाक होने लगे तब शय्यापर सोनेका विधान है। जो लोग रात्रिमे भोजन करते है वे प्राय. भोजन करके पड़ रहते है और विषयभोगमे लग जाते हैं। इससे स्वास्थ्यकी बडी हानि होती है। अत. नीरोगताकी दृष्टिसे भी दिनमे ही भोजन करना हितकर है।

इसी तरह पानी भी हमेशा छानकर ही काममे लाना चाहिये। बिना छने पानीमे यदि कीडे हों तो वे पेटमे जाकर अनेक सक्रामक रोग पैदा करते है। जब हैजा वगैरह फैला होता है तब पानीको पकाकर पीनेकी सलाह दी जाती है। वास्तवमें पका हुआ पानी कभी भी विकार नही करता। जैन साधु पका पानी ही काममे लाते है। किन्तु जैन गृहस्थोंको पके पानीका तो नियम नही कराया जाता, किन्तु छने पानीका नियम कराया जाता है। अनछने पानीसे छना पानी साफ होता है और छने पानीसे पका पानी शुद्ध होता है। आजकल तो जगह जगह नल लगे हुए है। किन्तु नलोंका पानी भी छानकर ही काममे लेना चाहिये, क्योकि नलोंके पानीमे भी जग मिट्टी वगैरह मिली आती है, जो कपड़ेपर जम जाती है। एक बार तो एक सॉपका बच्चा कहीसे नलमे आ गया था। अत. चाहे नलका पानी हो या कुँएका हो या नदीका हो, सबको छानकर ही काममे लेना चाहिये। इससे हम अनेक रोगों और कष्टोंसे बच जाते है। एक बार समाचारपत्रमे मुरादाबाद जिलेकी एक घटना प्रकाशित हुई थी। एक लड़का रातको खाटके नीचे पानी रखकर सो गया। उसमे बिच्छु गिर गया। अचानक

डकेको रातमें प्यास लगी और उसने विना देखे ही गिलास उठाकर हुसे लगा लिया। विच्छु उसके मुंहमे चला गया और उसके हलकमे चपट कर डक मारने लगा। लडका तिलमिला उठा। वहुत उपचार कया गया मगर विच्छू छुडाया न जा सका। आखिर लडकेने तडफ तडफ कर जान दे दी। ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाओसे शिक्षा लेना चाहिये और रात्रिभोजन तथा विना छने पानीसे वचना चाहिये। धार्मिक विषयोमें केवल धर्मकी ही मर्यादा नही है, उनमें व्यक्ति और समाजका सामूहिक हित भी छिपा हुआ है।

२. सत्याणुव्रत

जो वस्तु जैसी देखी हो या सुनी हो, उसको वैसा ही न कहना लोकमें असत्य कहलाता है। परन्तु जैनधर्ममे सत्य स्वय कोई स्वतन्त्र व्रत नही है, किन्तु अहिंसाव्रतकी रक्षा करना ही उसका लक्ष्य है। इसलिये जैनधर्ममें जो वचन दूसरोको कष्ट पहुंचानेके उद्देश्यसे वोला जाता है वह सत्य होनेपर भी असत्य कहलाता है। जैसे, काने पुरुषको काना कहना यद्यपि सत्य है, किन्तु यदि उससे उस मनुष्यके दिलको चोट पहुँचती है, या यदि उसे चोट पहुँचानेके विचारसे काना कहा जाता है तो वह असत्यमें ही गिना जायेगा। इसी दृष्टिसे यदि सत्य वोलनेसे किसीके प्राणोपर सकट वन आता हो तो उस अवस्थामे सत्य वोलना भी वुरा कहा जायेगा। किन्तु ऐसे समयमें असत्य वोलकर किसीके प्राणोकी रक्षा करनेसे यदि उसके जुल्म और अत्याचारोसे दूसरोंके प्राणोंपर सकट आनेकी संभावना हो तो उक्त नियममे अपवाद भी हो सकता है, क्योकि यद्यपि व्यक्तिके जीवनकी रक्षा इष्ट है, किन्तु व्यक्तिके जुल्म और अत्याचारोकी रक्षा किसी भी अवस्थामें इष्ट नही है। और अत्याचारोंके परिशोधके लिये व्यक्ति या व्यक्तियोंकी जान ले लेनेकी अपेक्षा उनका सुधार कर देना अति उत्तम है, किन्तु यदि यह शक्य न हो तो अन्याय और अत्याचारको सहायता देना तो कभी भी उचित नही है। मगर व्यक्ति सुधर सकता है और इसलिये

उसे अवसर अवश्य देना चाहिये। प्राणरक्षाके लिये असत्य बोलनेके मूलमे यही भाव है।

असत्य वचनके अनेक भेद है, जैसे–१–मनुष्यके विषयमे झूठ बोलना। शादी विवाहके अवसरोंपर विरोधियोके द्वारा इस तरहके झूठ बोलनेका प्राय. चलन है। विरोधी लोग विवाह न होने देनेके लिये किसीकी कन्याको दूषण लगा देते है, किसीके लडकेमे बुराइयाँ बतला देते है। २–चौपायोंके विषयमे झूठ बोलना। जैसे, थोड़ा दूध देनेवाली गायको बहुत दूध दनेवाली बतलाना या बहुत दूध देनेवाली गायको थोड़ा दूध देनेवाली बतलाना। ३–अचेतन वस्तुओंके विषयमे झूठ बोलना। जैसे, दूसरेकी जमीनको अपनी बतलाना या टैक्स वगैरहसे बचनेके लिये अपनी जमीनको दूसरेकी बतलाना। ४–लाचके लोभसे या ईर्षा होनेसे किसी सच्ची घटनाके विरुद्ध गवाही देना। ५–अपने पास रखी हुई किसीकी धरोहरके सम्बन्धमे असत्य बोलना। ये और इस तरहके अन्य झूठ वचन गृहस्थको नही बोलना चाहिये। इनसे मनुष्यका विश्वास जाता रहता है और अनाचारको भी प्रोत्साहन मिलता है, तथा जिनके विषयमें झूठ बोला गया है उन्हे दु ख पहुँचता है और वे जीवनके वैरी बन जाते है। जो लोग कारबार रुजगारमे अधिक झूठ बोलते है और सच्चा व्यवहार नही रखते, बाजारमे । उनकी साख जाती रहती है। लोग उन्हे झूठा समझने लगते है और उनसे लेन देन तक बन्द कर देते है।

बहुतसे लोग झूठ बोलनेकी आदत न होनेपर भी कभी कभी क्रोधमें आकर झूठ बोल जाते है, कुछ लोग लोभमें फँसकर झूंठ बोल जाते है, कुछ लोग पुलिस वगैरहके डरसे झूंठ बोल जाते है और कुछ लोग हसी मजाकमे झूंठ बोल जाते है। अत. सत्यवादीको क्रोध, लालच और भयसे भी बचना चाहिये और हँसी मजाकके समय तो एकदम सावधान रहना चाहिये; क्योकि हँसी मजाकमें झूठ बोलनेसे लाभ तो कुछ भी नही होता, उल्टे झगड़ा टंटा बढ़ जानेका ही भय रहता है और आदत भी बिगड़ती है।

३. अचौर्याणुव्रत

जो मनुष्य चुरानके अभिप्रायसे दूसरेकी एक तृण मात्र वस्तुको भी ले लेता है या उठाकर दूसरेको दे देता है वह चोर है, और जो इस तरहकी चोरीका त्याग कर देता है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती कहा जाता है। किन्तु जो वस्तुएँ सर्वसाधारणके उपयोगके लिये हैं, जैसे, पानी मिट्टी वगैरह, उनको वह बिना किसीसे पूछे ले सकता है, इसी तरह जिस कुटुम्बीके धनका उत्तराधिकार उसे प्राप्त है, यदि वह मर जाये तो उसका धन भी ले सकता है। किन्तु उसकी जीवित अवस्थामे उसका धन छीन लेना चोरी ही कहा जायेगा। यदि कभी अपनी ही वस्तुमे यह संदेह हो जाये कि ये मेरी हैं या नही? तो जबतक वह सन्देह दूर न हो तब तक उस वस्तुको नहीं अपनाना चाहिये।

तथा चोरीको बुरा समझकर छोड़ देनेवालोंको नीचे लिखे कार्य भी नही करना चाहिये—

१—किसी चोरको स्वयं या दूसरेके द्वारा चोरी करनेकी प्रेरणा करना और कराना या उसकी प्रशंसा करना। तथा कैंची वगैरह चोरीके औजारोंको बेचना या चोरोको अपनी ओरसे देना। जैसे, 'तुम बेकार क्यो बैठे हो? यदि तुम्हारे पास खानेको नही है तो मै देता हूँ। यदि तुम्हारे चुराये हुए मालका कोई खरीदार नही है तो मै उसे बेच दूंगा। इस प्रकारके वचनोसे चोरोको चोरीमे लगाना भी एक तरहसे चोरी ही है।

२—चोरीका माल खरीदना। जो लोग ऐसा काम करते है वे समझते है कि हम तो व्यापार करते हैं, चोरी नही करते। किन्तु चोरीका माल खरीदनेवाला भी चोर ही समझा जाता है, तभी तो ऐसा देन-लेन छिपकर होता है।

३—बाट तराजू गज वगैरह कमती या बढती रखना। कमतीसे तोलकर दूसरोको देना और बढतीसे तोलकर स्वय लेना।

४—किसी वस्तुमें कम कीमतकी समान वस्तु मिलाकर बेचना।

जैसे, धान्यमें मरा हुआ धान्य, घीमे चर्बी, हीगमें खैर, तेलमे मूत्र, खरे सोने चांदीमे मिलावटी सोना चादी आदि मिलाकर बेचना। व्यापारी समझता है कि ऐसा करके मै चोरी नही कर रहा हूँ यह तो व्यापारकी एक कला है, किन्तु उसका ऐसा समझना ठीक नही है, क्योकि इस तरहके व्यवहारसे वह दूसरोंको ठगता है और ऐसा करना निन्दनीय है।

५--राज्यमे गडबड उत्पन्न होनेपर वस्तुओंका मूल्य दढ़ा देना, जैसा युद्धके जमानेमे किया गया था। या एक राज्यके निवासीका छिपकर दूसरे राज्यमे प्रवेश करना और यहाँका माल वहाँ ले जाना या वहाँका माल यहाँ लाना। इसी तरह वेटिकिट यात्रा करना, चुंगी महसूल आयकर वगैरह छिपाना, इस तरहके कार्य चोरी ही समझे जाते है। अत इनसे बचना चाहिये।

ऊपर जो बाते बतलाई गई है यद्यपि वे व्यापारको लेकर ही बतलाई गई है, किन्तु इसका यह मतलब नही है कि चोरीके काम व्यापारी ही करते है और राजा या उसके कर्मचारी नही करते। यदि वे भी राज्यमे चोरी करवाएँ, चोरीका माल खरीदे, चोरोसे लाँच घूस वसूल करें, राजाकी ओरसे वस्तुओकी खरीद होनेपर कमती बढती दे ल, और अपने राज्य या देशके विरुद्ध काम करे तो वे भी चोरीके दोषके भागीदार कहे जायेंगे।

वास्तवमें धन मनुष्यका प्राण है, अत. जो किसीका धन हरता है वह उसके प्राण हरता है। यह समझ कर किसीको किसीकी चोरी नही करनी चाहिये।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत

कामवासना एक रोग है और उसका प्रतिकार भोग नही है। भोगसे तो यह रोग और भी अधिक बढता है। किन्तु जिनके चित्तमे यह बात नही जमती, या जमनेपर भी जो अपनी कामवासनाको रोकनेमें असमर्थ है उन्हे चाहिये कि वे अपनी विवाहिता पत्नीमे ही

सन्तोष रक्खे । इसीका नाम ब्रह्मचर्याणुव्रत है । ब्रह्मचर्याणुव्रती अपनी पत्नीके सिवा जितनी भी स्त्रियाँ हैं, चाहे वे विवाहिता हो, अविवाहिता हो अथवा वेश्या हों, उनसे रमण नही करता है और न दूसरोसे ही ऐसा कराता है। ऐसा न करनेका कारण इज्जत आवरूका सवाल नही है, किन्तु इस कामको वह अन्त.करणसे पाप समझता है। जो केवल अपनी मान प्रतिष्ठाके भयसे ऐसे कार्योसे वचता है, वह ऐसे कार्योको बुरा नही समझता और इसलिये जहाँ उसे अपनी मान प्रतिष्ठा जानेका भय नही रहता, वहाँ वह ऐस अनाचार कर बैठता है। और कर बैठनेपर कभी कभी धोखेमे मानप्रतिष्ठा भी गवाँ देता है। किन्तु जो ऐसे कार्योको पाप समझता है वह सदा उनसे बचा रहता है। इसलिये पाप समझकर ही उनसे बचे रहनेमें हित है। परस्त्रीगमन और वेश्यागमनकी वुराइयाँ सब कोई जानते है, मगर फिर भी मनुष्य अपनी वासनापर काबू न रख सकनेके कारण अनाचार कर बैठते है। अनेक युवक छोटे लड़कोंके साथ कुत्सित काम कर वैठते है और अपने तथा दूसरोंके जीवनको धूलमे मिला देते हैं। कुछ हस्तमैथुनके द्वारा अपनी कामवासनाको तृप्त करते है। ये काम तो परस्त्रीगमन और वेश्यागमनसे भी अधिक निन्दनीय है। किन्तु आजकलकी शिक्षाका लक्ष इस तरहके अनाचारोंको रोकनेकी ओर कतई नही रहा है। शिक्षार्थी अपना जीवन कैसे विताता है कोई शिक्षक या प्रवन्धक इधर ध्यान नही देता। सब जगह शिक्षाकी भी खानापूर्ति की जाने लगी है। जो ऐसे अनाचारोमे पड़ जाते है वे अपने और दूसरोके आत्मा और शरीर दोनोंका ही घात करते है और इसलिये वे किसी भी हिंसकसे कम नही हैं। अत. जो अपनी आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति करना चाहते हैं और चाहते है कि समाजमें इस तरहका अनाचार न फैले, उन्हें कामवासनाका केन्द्र केवल अपनी पत्नीको ही बनाना चाहिये और उसके सिवा ससारकी समस्त स्त्रियोंको अपनी माता बहिन या पुत्री समझना चाहिये तथा छोटे लडकोंको अपना भाई या पुत्र समझकर उन्नत वनाना चाहिये।

पत्नीको कामवासनाका केन्द्र बनानेसे कोई यह न समझे कि एकपत्नीव्रत या विवाह अनियन्त्रित कामाचारका सर्टिफिकेट है वह तो कामरोगको शान्त करनेकी औषधि है। स्तम्भक और उत्तेजक औषधियोंके द्वारा रोगको बढाकर स्त्रीरूपी औषधिका अधिक सेवन करना तो औषधिके साथ अत्याचार करना है। ऐसे अत्याचारके फल स्वरूप ही आजकल विवाहित लडके और लड़कियाँ क्षय रोगसे ग्रस्त होकर अकालमें ही कालके गालमे चले जाते हैं। अत अनियंत्रित कामाचार भी आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यको चौपट कर देता है, इसलिये उससे भी बचना ही चाहिये।

प्रत्येक सद्गृहस्थको नीचे लिखी बातोसे बचनेकी सलाह दी गई है १—दुराचारिणी स्त्रियोसे बचते रहो। २—मुँहसे अश्लील बातें मत बको। ३—शक्ति से अधिक काम सेवन मत करो। ४—अप्राकृतिक मैथुनसे बचो। ५—और दूसरोंके वैवाहिक सम्बन्धोके झगड़ेमें मत पड़ो। जो बाते पुरुषोंके लिए कही गई है वे ही स्त्रियोंके लिये भी है। स्त्रियोंको भी पर-पुरुष और अधिक कामाचारसे बचना चाहिये, और अपनेको संयत रखनेकी चेष्टा करना चाहिये।

५. परिग्रह परिमाणव्रत

स्त्री, पुत्र, घर, सोना आदि वस्तुओंमें 'ये मेरी हैं' इस तरहका जो ममत्व रहता है, उस ममत्व परिणामको परिग्रह कहते हैं। और ममत्वको घटाकर उन वस्तुओके घटानेको परिग्रह परिमाणव्रत कहते हैं। लोकमें तो रुपया पैसा जमीन जायदाद ही परिग्रह कहलाता है। किन्तु वास्तवमे तो मनुष्यका ममत्वभाव परिग्रह है। इन बाहिरी चीजोंको तो उस ममत्वका कारण होनेसे परिग्रह कहा जाता है। यदि बाहिरी चीजोंको ही परिग्रह माना जायेगा तो जिन असंख्य लोगोंके पास कुछ भी नही, किन्तु उनके चित्तमें बड़ी-बडी आकांक्षाएँ हैं वे सब अपरिग्रही कहलायेंगे। किन्तु बात ऐसी नही है। सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ भी नही है और न जिसके चित्तमे किसी

चीजकी चाह ही है, क्योंकि चाह होनपर मनुष्य परिग्रहका संचय किये विना नही रह सकता। और सचयकी वृत्ति आनेपर न्याय अन्याय और युक्त अयुक्तका विचार नही रहता। फिर तो मनुष्य धनका कीडा वन जाता है, वह धनका स्वामी न रहकर उसका दास हो जाता है। द्रव्य दान करके भी उससे उसका ममत्व नही छूटता। उस वह अपने पास ही रखना चाहता है। उसे भय रहता है कि उसके दिये हुये द्रव्यको कोई हडप न जाये। वह चाहता है कि उससे उसकी खूव कीर्ति हो, लोग उसका गुणगान करे, उसके दोषोपर परदा डाल दिया जाये, अखवारोंमे उसकी खूव वडाई छापी जाये। यह सव ममत्वभावका ही फल है। उससे छुटकारा मिले विना परिग्रहसे छुटकारा नही मिल सकता। देखा जाता है कि जव तक हम किसी वस्तुको अपनी नही समझते तब तक उसके भले वुरेसे न हमे प्रसन्नता होती है और न रंज। किन्तु ज्योंही किसी वस्तुमें 'यह हमारी है' ऐसी भावना हो जाती है त्योही मनुष्य उसकी चिन्तामें पड़ जाता ह। इसलिये ममत्व ही परिग्रह है। उसके कम किये विना परिग्रहरूपी पापसे छुटकारा नही मिल सकता।

जैसे रुपया वगैरह वाह्य परिग्रह है वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि भाव अभ्यन्तर परिग्रह है। वाह्य परिग्रहके समान ही इन आन्तर परिग्रहोको भी घटाना चाहिये। परिग्रहको घटानेका एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको ध्यानमे रखकर रुपया पैसा जमीन जायदाद वगैरह सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा नियत कर ले कि इससे ज्यादा मैं अपने पास नही रखूंगा। ऐसा करनेसे उसके पास अनावश्यक द्रव्यका संग्रह भी नही हो सकेगा, और आवश्यकताके अनुसार द्रव्य उसके पास होनेसे स्वयं उसे भी कोई कष्ट न होगा। साथ ही साथ वह वहुत सी व्यर्थकी हाय हायसे भी वच जायेगा और अपना जीवन सुख और सन्तोषके साथ व्यतीत कर सकेगा। आज दुनियामें जो आर्थिक विषमता फैली हुई है उसका कारण मनुष्यकी

अनावश्यक सचयवृत्ति ही है। यदि सभी मनुष्य अपनी अपनी आवश्यकताके अनुसार ही वस्तुओंका सचय करें और अनावश्यक संग्रहको समाजके उन दूसरे व्यक्तियोंको सौंप दे जिनको उसकी आवश्यकता है तो आज दुनियामें जितनी अशान्ति मची हुई है उतनी न रहे और सम्पत्तिके बँटवारेका जो प्रश्न आज दुनियाके सामने उपस्थित है, वह बिना किसी कानूनके स्वय ही बहुत कुछ अशोमे हल हो जाये।

दुनियाकी अनियन्त्रित इच्छाको लक्ष्य करके जैनाचार्य श्री गुणभद्र स्वामीने संसारके प्राणियोको सम्बोधन करते हुए कहा है—

"आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥" आत्मानु०।

'प्रत्येक प्राणीमे आशाका इतना बडा गढा है जिसमे यह विश्व अणुके बराबर है। ऐसी स्थितिमे यदि इस विश्वका बँटवारा किया जाये तो किसके हिस्सेमे कितना आयेगा? अत ससारके तृष्णालु प्राणियो! तुम्हारी विषयोकी चाह व्यर्थ ही है।'

अत प्रत्येक श्रावकको विश्वकी सम्पत्ति और उसकी चाहमें तडपनेवाले असंख्य प्राणियोंका विचार करके धनकी तृष्णासे विरत ही रहना चाहिये, क्योकि न्यायकी कमाईसे मनुष्य जीवन निर्वाह कर सकता है किन्तु धनका अटूट भण्डार एकत्र नही कर सकता। अटूट भण्डार तो पापकी कमाईसे ही भरता है, जैसा कि उन्ही गुणभद्राचार्यने कहा है—

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभि पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धव. ॥४५॥" आत्मानु०।

'सज्जनोंकी भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धनसे नही बढती। क्या कभी नदियोंको स्वच्छ जलसे परिपूर्ण देखा गया है।'

नदियाँ जब भी भरती है तो वर्षाके गदे पानीसे ही भरती है, उसी तरह धनकी वृद्धि भी न्यायकी कमाईसे नही होती। अत. आवश्यक धनका परिमाण करके मनुष्यको अन्यायकी कमाईसे बचना।

चाहिये। इससे वह स्वयं सुखी रहेगा और दूसरे लोग भी उसके दुःखके कारण नही बनेंगे।

इस व्रतके भी पाँच दोष हैं, जिनसे बचना चाहिये। १—लोभमें आकर मनुष्य और पशुओंसे शक्तिसे अधिक काम लेना। २—धान्य वगैरह आगे खूब मुनाफा देगा इस लोभसे धान्यादिकका अधिक संग्रह करना, जैसा युद्धकालमे किया गया था। ३—इस तरहके धान्य-सग्रहको थोड़े लाभसे बेंच देनेपर या धान्यका संग्रह ही न करनेपर या दूसरोंको धान्य-सग्रहसे अधिक लोभ होता हुआ देखकर खेदखिन्न होना। ४—पर्याप्त लाभ उठानेपर भी उससे अधिक लाभकी इच्छा करना। ५—और अधिक लाभ होता हुआ देखकर धनादिककी की हुई मर्यादाको बढा लेना।

श्रावकके भेद

श्रावकके तीन भेद हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जो एक देशसे हिंसाका त्याग करके श्रावक धर्मको स्वीकार करता है उसे पाक्षिक श्रावक कहते हैं। जो निरतिचार श्रावक धर्मका पालन करता है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। और जो देशचारित्रको पूर्ण करके अपनी आत्माकी साधनामें लीन हो जाता है, उसे साधक श्रावक कहते हैं। अर्थात् प्रारम्भिक दशाका नाम पाक्षिक है, मध्यदशाका नाम नैष्ठिक है और पूर्णदशाका नाम साधक है। इस तरह अवस्था भेदसे श्रावकके तीन भेद किये गये है। इनका विशेष परिचय नीचे दिया जाता है।

पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक श्रावक पहले कहे गये आठ मूल गुणोका पालन करता है। उत्तरकालमें आठ मूल गुणोमें पाँच अणुव्रतोंके स्थानमे पाँच क्षीरिफलोको लिया गया है। जिस वृक्षमेसे दूध निकलता है उसे क्षीरिवृक्ष व उदुम्बर कहते हैं। उदुम्बर फलोंमें जन्तु पाये जाते हैं। इसीसे अमर-

कोषमें उदुम्बरका एक नाम जन्तुफल भी है और एक नाम 'हेमदुग्धक' है, क्योंकि उसमेंसे निकलनेवाले दूधका रग पीलेपनको लिये हुए होता है। पीपल, वट, पिलखन, गूलर और काक उदुम्बरी इन पाँच प्रकारके वृक्षोंके फलोंको नही खाना चाहिये, क्योंकि इनमें साक्षात् जन्तु पाए जाते है। पेड़से गिरते ही गूलरके फूट जानेपर उसमेंसे उडते हुए जन्तुओको हमने स्वय देखा है। अत ऐसे फलोको नही खाना चाहिये तथा मद्य, माँस और मधुसे बचना चाहिये। प्रत्येक पाक्षिकको इतना तो कमसे कम करना ही चाहिये। लिखा है—

'पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्व रागयोगत ॥ १३ ॥—सागारधर्मा०

'पीपल, गूलर, पिलखन, वट और काक उदुम्बरीके हरे फलोंको जो खाता है वह त्रस अर्थात् चलते फिरते हुए जन्तुओंका घात करता है क्योंकि उन फलोंके अन्दर ऐसे जन्तु पाये जाते हैं। और जो उन्हें सुखाकर खाता है, वह उनमें अति आसक्ति होनेके कारण अपनी आत्माका घात करता है।'

अत प्राथमिक श्रावकको इस तरहके फल नही खाना चाहिये तथा रातको भोजन नहीं करना चाहिये और सदा पानीको छानकर काममे लाना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहको छोडनेका यथाशक्ति अभ्यास करना चाहिये। तथा जुआ, वेश्या, शिकार, परस्त्री वगैरह व्यसनोंसे भी बचते रहनेका ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिन जिन मन्दिरमें जाकर अर्हन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये, गुरुओंकी सेवा करनी चाहिये, सुपात्रोको दान देना चाहिये तथा अन्य भी जो धार्मिक कृत्य है, तथा लोकमे ख्याति करानेवाले कार्य है, उन्हे करते रहना चाहिये। जैसे, दीन और अनाथोंके लिये भोजनशाला और औषधालयोंकी व्यवस्था करना चाहिये, अपने पुत्र और पुत्रीको योग्य बनाकर सुपात्रके साथ उनका सम्बन्ध करना चाहिये। आदि,

नैष्ठिक श्रावक

नैष्ठिक श्रावकके ११ दर्जे है। ये दर्जे इस क्रमसे रखे गये है कि नपर धीरे-धीरे चढ करके कोई भी श्रावक अपनी आध्यात्मिक उन्नति रता हुआ अपने जीवनके अन्तिम लक्ष तक पहुँच सकता है। इन १ दर्जोका, जिन्हें जैनसिद्धान्तमे ११ प्रतिमाएँ कहते है, सक्षिप्त ववेचन इस प्रकार है—

१ दर्शनिक—पाक्षिक श्रावकका जो आचार पहले बतलाया , उसके पालन करनेसे जिसका श्रद्धान दृढ और विशुद्ध हो गया है, सारके कारण भोगोसे जो विरक्त हो चला है अर्थात् इष्ट विषयोका वन करते हुए भी उनमे जिसकी आसक्ति नही है, जिसका चित्त ा पाँच परमेष्ठियोके चरणोमे लीन रहता है,जो आठ मूल गुणोमे कोई ो दोष नही लगाता और आगेके गुणोको प्राप्त करनेके लिये उत्सुक हता है तथा भरण पोषणके लिये न्याय्य तरीकोसे आजीविका करता उस श्रावकको दर्शनिक कहते है। दर्शनिक श्रावक मद्य, माँस गैरहका न केवल सेवन नही करता, किन्तु न उनका व्यापार वगैरह ाय करता है न दूसरोसे कराता है और न ऐसे कामोमें किसीको अपनी म्मति ही देता है। जो स्त्री पुरुष शराब वगैरह पीते है उनके साथ ान पान आदि व्यवहार भी नही रखता, क्योकि ऐसा करनेसे मद्य ैरहके सेवनका प्रसग उपस्थित हो सकता है। चमड़ेके पात्रमे रखा भा घी, तेल या पानी काममें नही लाता। जिस भोजनपर फुई आ ाती है, या स्वाद विगड़ जाता है उसे नही खाता। जिस फल या साग ब्जीसे वह परिचित नही है उसे नही खाता। सूर्योदय होनेके एक हूर्त बादसे सूर्यास्त होनेके एक मुहूर्त पहले तक ही अपना खान पान रता है। पानीको शुद्ध साफ वस्त्रसे छानकर ही काममें लाता है। ुआ नही खेलता और न सट्टेबाजी ही करता है। वेश्याका सेवन तो ूर रहा, उससे किसी भी तरहका सम्बन्ध नही रखता, न वेश्यावाटों- मे सैर ही करता है। मुकदमा वगैरह लडाकर किसीका द्रव्य या जाय-

दाद हड़प करनेकी कोशिश नही करता । शिकार खेलना तो दू रहा, चित्र वगैरहमे अंकित जीव जन्तुओका भी छेदन भेदन नहं करता । परस्त्रीसे रमण करना तो दूर रहा, कन्याके माता पिताकं आज्ञाके बिना किसी कन्यासे विवाह भी नही करता । जिस कामक बुरा समझ कर स्वयं छोड़ देता है, दूसरोंसे भी उसे नही कराता संकल्पी हिंसाका त्याग कर देता है । और उतना ही आरम्भ-कृि वगैरह करता है जितना स्वयं कर सकता है । क्योकि दूसरोसे करानें व्यवहारमे वह अहिंसकपना नही रह सकता, जिसका उसने व्रत लि है । अपनी पत्नीसे भी उतना ही भोग करता है, जितना करना शरी और मनके संतापकी शान्तिके लिये आवश्यक है, तथा उसका उद्दे कवल सन्तानोत्पादन ही होता है । सन्तान होनेपर उसे योग्य औ सदाचारी बनानेका पूरा प्रयत्न करता है, क्योकि योग्य सन्तान होने पर ही अपनी वृद्धावस्थामे उस पर घरबारका भार सौपक गृहस्थ आत्मोन्नतिके मार्गमे लग सकता है । ये सब दर्शनिक श्रावकं कर्तव्य है ।

२ व्रतिक—जिसका सम्यग्दर्शन और पहले कहे गये आठ मूलगुण परिपूर्ण होते है तथा जो मायाचारसे या आगामी काल विषय सुखके और भी अधिक प्राप्त होनेकी अभिलाषासे व्रतोंका पाल नही करता, बल्कि राग और द्वेषपर विजय पाकर साम्यभाव प्राप् करनेकी इच्छासे व्रतोका पालन करता है उसे व्रतिक श्रावक कहते है, व्रतिक श्रावक पहले बतलाये पाँच अणुव्रतोंका निर्दोष पालन करत है और उन्हे बढानेके लिये नीचे लिखे सात शीलोंका भी पालन करत है । वे सात शील इस प्रकार है—१-दिग्व्रत, २-देशव्रत, ३-अनर्थ दण्डविरति, ४-सामयिक, ५-प्रोषधोपवास, ६-परिभोग ... परिमाण और ७-अतिथिसंविभाग ।

१—उसे जीवन भरके लिये अपने आने जाने और लेन दे करनेके क्षेत्रकी मर्यादा कर लेनी चाहिये कि इस स्थान तक ही

पना सम्बन्ध रखूंगा, उसके बाहरसे खूब लाभ होनेपर भी कभी ोई व्यापार नही करूँगा। ऐसा नियम कर लेनेसे मनुष्यकी तृष्णाका त्र सीमित हो जाता है और विदेशी व्यापारका नियमन होनेसे देशकी पत्तिका विदेश जाना भी रुक जाता है।

२—जीवन भरके लिये ली हुई मर्यादाके भीतर भी अपनी ावश्यकता और यातायातको दृष्टिमें रखकर कुछ समयके लिये भी क्त क्षेत्रकी मर्यादा लेते रहना चाहिये, कि मै इतने समय तक अमुक मुक स्थान तक ही अपना आना जाना रखूँगा व लेन-देन आदि करूँगा।

३—विना प्रयोजनके दूसरे प्राणियोको पीड़ा देनेवला कोई भी ाम नही करना चाहिये। ऐसे काम सक्षेपमे पाँच भागोंमे बाँटे गये है—पोपदेश, हिंसादान, दु श्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या। जो लोग ा वगैरहसे आजीविका करते हो उन्हे हिंसा वगैरहका उपदेश नही ा चाहिये। जैसे, व्याधको यह नही बतलाना चाहिये कि अमुक ानपर मृग वगैरह बसते है। ठग और चोरको यह नही बतलाना ाहिये कि अमुक जगह ठगाई और चोरीका अच्छा अवसर है। तथा हाँ चार जने बैठकर गपशप करते हों वहाँ भी इस तरहकी चर्चा नहीं लाना चाहिये १। जिन चीजोसे दूसरोकी जान ली जा सकती है, से विष, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसाके साधन दूसरोको नही देना चाहिये २। न पुस्तकों या शास्त्रोके सुनने या पढनेसे मन कलुषित हो, जिनके नते ही चित्तमे कामवासना जाग्रत हो, दूसरोंको मार डालनेके ाव पैदा हो, घमंड और अहंकारका भाव हृदयमें उत्पन्न हो, ऐसे ास्त्रों और पुस्तकोंको न स्वयं सुनना चाहिये और न दूसरोको सुनाना ाहिये ३। अमुकका मरण हो जाय, अमुकको जेलखाना हो जाय, मुकके घर चोरी हो जाये, अमुककी स्त्री हर ली जाये, अमुककी ीन जायदाद बिक जाये, इत्यादि विचार मनमें नही लाना चाहिये ४। ना जरूरतके पृथ्वीका खोदना, पानीका बहाना, आगका जलाना, ाका करना तथा वनस्पतिका काटना आदि काम नही करना चाहिये

५। इन कामोंके करनेसे अपना कुछ लाभ नही होता, बल्कि उल्ट हानि ही होती है और दूसरोंको व्यर्थमे कष्ट उठाना पडता है। अश्ली चर्चाएँ करना, शरीरसे कुत्सित चेष्टाएँ करना, व्यर्थकी बकवा करना, बिना सोचे समझे ऐसे काम कर डालना जिससे अपना कोई ला न हो और दूसरोंको व्यर्थमे कष्ट उठाना पडे, तथा भोग और उपभो के साधनोंको आवश्यकतासे अधिक संचय कर लेना, ये सब काम ए सद्गृहस्थको कभी भी नही करने चाहिये।

४—प्रात. और सन्ध्याको एकान्त स्थानमे कुछ समयके लि हिंसा वगैरह समस्त पापोसे विरत होकर आत्मध्यान करनेका अभ्या करना चाहिये। उसमें मन वचन और कायको स्थिर करके आत्म और उसके अन्तिम लक्ष्य मोक्षके बारेमे चिन्तन करना चाहिये। यद्य मन वचन और कायको एकाग्र करना बडा कठिन है, किन्तु अभ्यास सब साध्य है। प्रारम्भमें कुछ कष्ट अनुभव होता है, शरीर निश्च रहना नही चाहता, मन-विद्रोह करता है और मत्र पाठको जल्दी-जल बोलकर समाप्त कर देना चाहता है, फिर भी इनको रोकना चाहिये जब ये सध जाते है तो मनुष्यको बड़ी आध्यात्मिक शान्ति मिलती है

५—प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीके दिन मन, वचन अ कायकी स्थिरताको दृढ करनेके लिये चारों प्रकारके आहारको त्या कर उपवास करना चाहिये। उस दिन न कुछ खाना चाहिये और कुछ पीना चाहिये। किन्तु जो ऐसा करनेमे असमर्थ हों वे केवल ज ले सकते है। और जो केवल जलपर भी न रह सकते हों, उन्हे के एकबार हल्का सात्विक भोजन करना चाहिये। जो व्यक्ति उपवा करना चाहें, उन्हे चाहिये कि वे अष्टमी और चतुर्दशीके पहले दिन द हरका भोजन करके उपवासकी प्रतिज्ञा ले ले। और घर-गृहस्थी काम धामसे अवकाश लेकर एकान्त स्थानमे चले जाये और अपना सम आत्मचिन्तन और स्वाध्यायमें वितावें। सन्ध्याको दैनिक कृत्य निबटकर पुन अपने उसी काममें लग जाये। रात्रिको विश्राम व

और दिनको इसी तरह बितावें। इस तरह अष्टमी और चतुर्दशीका दिन तथा रात बिताकर दूसरे दिन दोपहरको अभ्यागत अतिथियोंको भोजन कराकर एक बार अनासक्त होकर भोजन करे। उपवाससे मतलब केवल पेटके ही उपवाससे नही है, किन्तु पाँचो इंन्द्रियोंके उपवाससे है। आहार वगैरहका त्याग करके भी यदि मनुष्यका चित्त पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमे रमता है, अच्छे अच्छे स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर कामिनी, सुगन्धित द्रव्य और सुन्दर संगीतकी कल्पनामें मस्त रहता ह तो वह उपवास निष्फल है।

६—भोग और उपभोगके साधनोंका कुछ समय या यावज्जीवनके लिये परिमाण कर लेना चाहिये कि मै अमुक वस्तु इतने समयतक इतने परिमाणमें भोगूंगा। ऐसा परिमाण करके उससे अधिक वस्तुकी चाह नही करना चाहिये। जो वस्तु एकबार ही भोगी जा सकती है उसे भोग कहते है जैसे फूलोंकी माला या भोजन। और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है उसे उपभोग कहते है, जैसे वस्त्र। इन दोनो ही प्रकारकी वस्तुओंका नियम कर लेना चाहिये। नियम कर लेनेसे एक तो गृहस्थकी चित्तवृत्तिका नियमन होता है, दूसरे इससे वस्तुओंका अनावश्यक संचय और अनावश्यक उपयोग रुक जाता है, और वस्तुओंकी यदि कमी हो तो दूसरोंको भी उनकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

जो मनुष्य भोग और उपभोगके साधनोको कम करके अपनी आवश्यकताओंको घटा लेता है, आवश्यकताओंके घट जानेसे उस मनुष्यका खर्च भी कम हो जाता है। और खर्च कम हो जानेसे उसकी धनकी आवश्यकता भी कम हो जाती है। तथा धनकी आवश्यकता कम हो जानेसे उसे न्याय और अन्यायका विचार किये विना धन कमानेकी तृष्णा नही सताती। इसीलिये लिखा है—

'भोगोपभोगकृशनात् कृशीकृतधनस्पृहः।
धनाय कोट्टपालादि क्रिया: क्रूरा: करोति कः॥' सागारधर्मा०।

रोककर अपने निमित्त बनाये हुए भोजनमेंसे भक्तिपूर्वक भोजन कराना चाहिये। पीछे स्वय भोजन करना चाहिये।

इस तरह श्रावकके ये सात शील व्रत कहलाते हैं। इनमेंसे पहलेके तीन गुणव्रत कहे जाते है, क्योकि उनके पालन करनेसे पहले कहे गये पाँच अणुव्रतोमे विशेषता आती है, और पीछेके चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योंकि उनके करनेसे मुनिधर्म ग्रहण करनेकी शिक्षा मिलती है। शिक्षा अर्थात् अभ्यासके लिये जो व्रत किये जाते है वे शिक्षाव्रत कहे जाते हैं।

३ सामायिकी—व्रत प्रतिमाका अभ्यासी जो श्रावक तीनो सन्ध्याओंमे सामायिक करता है और कठिन से कठिन कष्ट आ पड़नेपर भी अपने ध्यानसे विचलित नही होता–मन, वचन और कायकी एकाग्रताको स्थिर रखता है उसे सामायिकी या सामायिक प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं। यद्यपि श्रावकके लिये ऐसी एकाग्रता अति कष्टसाध्य है किन्तु अभ्याससे सब संभव होता है। इसका उद्देश्य आत्माकी शक्तिको केन्द्रीभूत करना है। यद्यपि पहले व्रतोंमें भी सामायिक करना बतलाया है किन्तु वह अभ्यासरूप है और यह व्रतरूप हैं।

४ प्रोषधोपवासी—पहले प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करनेकी विधि बतलाई है, वही यहाँ भी जानना चाहिये। अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ अभ्यासरूपसे उपवासका विधान है और यहाँ व्रतरूपसे।

५ सचित्तविरत—पहलेकी चार प्रतिमाओंका पालन करनेवाला जो दयालु श्रावक हरे साग, सब्जी, फल-फूल वगैरहको नहीं खाता है उसे सचित्तविरत कहते हैं। असलमे त्यागका उद्देश्य सयमका पालन करना है। और संयमके दो रूप है—एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रिय-संयम। प्राणियोंकी रक्षा करनेको प्राणिसयम कहते है और इन्द्रियोंको वशमें करनेको इन्द्रियसयम कहते है। उत्तम तो यही है कि प्रत्येक त्यागमें दोनों सयमोंका पालन हो, किन्तु यदि दोनोंका

पालन न हो सकता हो तो एकका पालन होना भी अच्छा ही है। जैन-सिद्धान्तमे हरी वनस्पतिकी दो दशाये बतलाई है एक सप्रतिष्ठित और दूसरी अप्रतिष्ठित । सप्रतिष्ठित दशामे प्रत्येक वनस्पतिमे अगणित जीवोका वास रहता है और इसलिये उसे अनन्तकाय कहते है और अप्रतिष्ठित दशामें उसमे एक ही जीवका वास रहता है। अत जब-तक कोई वनस्पति सप्रतिष्ठित या अनन्तकाय है तबतक उसका भक्षण नही करना चाहिये, क्योकि उसके भक्षण करनेसे अनन्त जीवोका घात होता है। किन्तु जब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित हो जाती है—अर्थात् उसमे अनन्तकाय जीवोका वास नही रहता तब उसे अचित्त करके खाना चाहिये। सचित्तको अचित्त करनेके कई प्रकार है—उसे सुखा लिया जाये, आगपर पका लिया जाये या चाकू वगैरहसे काट लिया जाये। ऐसा करनेसे सचित्त वनस्पति अचित्त हो जाती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि सचित्तको अचित्त करके खानेसे क्या लाभ है ? जीव-रक्षा तो उसमे भी नही होती ? इसका समाधान यह है कि सचित्तको अचित्त करके खानेसे यद्यपि जीवरक्षा नही होती और इसलिये प्राणि-संयम नही पलता तथापि इन्द्रियसयम पलता है, क्योकि सचित्त वनस्पति पौष्टिक अतएव मादक होती है। उसे पका लेने, सुखा लेने, या चाकूसे काटनेसे उसका पोषकतत्त्व नष्ट हो जाता है और इसलिये उसकी मादकता चली जाती है। अत. खानेके बाद वह इन्द्रियोमे विकार पैदा नही करती, किन्तु शरीरकी स्थितिको बनाये रखती है। धार्मिक दृष्टिसे जो भोजन शरीरकी स्थितिको बनाये रखकर इन्द्रियोंमें विकार पैदा नही करता वही भोजन श्रेष्ठ समझा जाता है। इसी दृष्टिसे पाँचवें दर्जेका जैन श्रावक इन्द्रिय मदकारक सचित्त वनस्पतिके भक्षणका त्याग करता है।

जैनशास्त्रोमे सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पतिकी अनेक पहचानें बतलाई हं। जैसे, जो वनस्पति—चाहे वह जड़ हो, छाल हो, कोपल हो, शाखा हो, पत्ता हो, फूल हो या फल हो—तोड़नेपर

मटसे समानरूपसे दो टुकडोमें टूट जाती है वह सप्रतिष्ठित है और जो तोडो कहींसे और टूटती है कहींसे, वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पतिको छीलनेपर मोटा छिलका उतरता है वह सप्रतिष्ठित है और जिसका छिलका पतला उतरता है वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पतिके ऊपरकी धारियां, या शिराएं स्पष्टरूपसे नही निकली है, या अन्दर फांकें अलग अलग नही हुई है वह सप्रतिष्ठित है और जिसमें फांके अलग-अलग पड गई है या शिरायें और धारियाँ स्पष्ट उभर आई है उसे अप्रतिष्ठित कहते है।

६ दिवामैथुनविरत—पहलेकी पाँच प्रतिमाओका पालन करनेवाला श्रावक जब दिनमे मन, वचन और कायसे स्त्रीमात्रके सेवन करनेका त्याग कर देता है तब वह दिवामैथुन विरत कहाता है। पहले पाँचवी प्रतिमामे इन्द्रिय मदकारक वस्तुओके खान-पानका त्याग करके इन्द्रियोको संयत करनेकी चेष्टा की गई है। और छठी प्रतिमामें दिनमें कामभोगका त्याग कराकर मनुष्यकी कामभोगकी लालसाको रात्रिके ही लिये सीमित कर दिया गया है। कहा जा सकता है कि दिनमें मैथुन तो बहुत ही कम लोग करते है, अत इसका त्याग करानेमें क्या विशेषता है ? किन्तु मैथुनका मतलब केवल कायिक भोगसे ही नही है, परन्तु उस तरहकी बातें करना और मनमें उस तरहके विचारोका होना भी मैथुनमें सम्मिलित है। तथा दिनमे मनुष्य बहुतसे स्त्री पुरुषोके दृष्टिसपर्कमें आता है जिन्हें देखकर उसकी कामवासना जाग्रत होनेकी सभावना रहती है। अत दिनमें इस तरहकी प्रवृत्तियोसे बचाकर मनुष्यको पूर्ण ब्रह्मचर्यकी ओर ले जाना ही इसका लक्ष्य है।

७ ब्रह्मचारी—ऊपर कहे गये संयमके अभ्याससे अपने मनको वशमें करके जो मन, वचन और कायसे कभी भी किसी स्त्रीका सेवन नही करता उसे ब्रह्मचारी कहते है। पहले छठे दर्जेमें दिनमें मैथुनका त्याग कराया है, सातवें दर्जेमें रात्रिमें भी सदाके लिये मैथुनका त्याग

करके ब्रह्मचारी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके लाभ बतलाना सूर्यको दीप दिखाना है। आत्मिक शक्तिको केन्द्रित करनेके लिये ब्रह्मचर्य अपूर्व वस्तु है। किन्तु होना चाहिये वह ऐच्छिक। बिना इच्छा जबरदस्ती ब्रह्मचर्य पालनेसे न शारीरिक लाभ होता है और न मानसिक क्योंकि ब्रह्मचर्यका मतलब केवल शारीरिक कामभोगसे निवृत्ति नही है, बल्कि पाँचों इन्द्रियोके विषयोसे निवृत्तिका नाम ही ब्रह्मचर्य है। यदि केवल कामेन्द्रियका ही नियन्त्रण किया गया और अन्य इन्द्रियों को काबूमें न रखा गया तो कामेन्द्रियका नियन्त्रण भी टूट जायेगा।

८ आरम्भविरत—पहलेकी सात प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब जीविकाके साधन कृषि, नौकरी या व्यापार वगैरहके कर और करानेका त्याग कर देता है तो वह आरम्भविरत कहा जाता है ब्रह्मचर्य धारण करके अपने कौटुम्बिक जीवनको वह पहले ही मर्यादित कर देता है। और जब देखता है कि अब मेरे लडके कमाने लायक हो गये है तो उनको अपना काम धन्धा सौंपकर आप उससे विरत हो जाता है, किन्तु उन्हे सम्मति वगैरह देता रहता है।

९ परिग्रहविरत—पहलेकी आठ प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब अपनी जमीन जायदाद वगैरहसे अपना स्वत्व छोड देता है तो वह परिग्रहविरत कहा जाता है। आठवी प्रतिमामें वह अपना उद्योग धन्धा पुत्रोंके सुपुर्द कर देता है मगर सम्पत्ति अपने ही अधिकारमें रखता है। जब वह देख लेता है कि लडकेने उद्योग धन्धेको भली भाँति समझ लिया है, अब यदि सम्पत्ति भी उसके सुपुर्द कर दी जाये तो वह उसका रक्षण कर सकता है, तब वह पञ्चोंके सामने अपने पुत्र या दत्तक पुत्रको बुलाकर कहता है कि 'हे पुत्र! आजतक हमने इस गृहस्थाश्रमका पालन किया। अब विरक्त होकर हम इसे छोडना चाहते है। इसलिये तुम हमारा स्थान स्वीकार करो। अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिये इच्छुक पिताका भार सम्हालकर जो उसकी सहायता करता है वही पुत्र है, और जो ऐसा नही करता, वह पुत्र नहीं है, शत्रु है। इसलिये

रा यह धन, धार्मिक स्थान तथा कुटुम्बीजनका भार सम्हाल कर मुझे
स भारसे मुक्त करो; क्योकि इससे मुक्त हुए बिना कोई भी कल्या-
ार्थी अपना कल्याण नही कर सकता। मुमुक्षुजनोके लिये सर्वस्व
ाग ही पथ्य है।'

इस प्रकार सब कुछ पुत्रको सौंपकर वह गार्हस्थिक उत्तरदायित्वसे
क्त हो जाता है। किन्तु मुक्त होनेपर भी वह सहसा घर नही छोडता,
ौर उदासीन होकर कुछ काल तक घरमें ही रहता है। लड़का यदि
सी कार्यमे उससे सलाह माँगता है तो उचित सम्मति दे देता है।

१० अनुमतिविरत—पहलेकी नौ प्रतिमाओमे अभ्यस्त हुआ
ावक जब देख लेता है कि अब लडका बिना मेरी सलाहके भी सब
ाम सम्हाल सकता है तो लेन देन, खेती, वनिज और विवाह आदि
ौकिक कार्योमे अनुमति देना बन्द कर देता है, तब वह अनुमतिविरत
हा जाता है। अब वह घरमे न रहकर मन्दिर वगैरहमे रहने लगता
और अपना समय स्वाध्यायमे बिताता है। तथा मध्याह्नकालकी
ामायिक करनेके बाद आमन्त्रण मिलनेपर अपने या दूसरोके घर भोजन
र आता है। भोजनमे वह अपनी कोई रुचि नही रखता। अपने
त नियमके अनुसार जो मिलता है खा लेता है और यही विचारता
कि शरीरकी स्थितिके लिये भोजनकी आवश्यकता है, और शरीरको
नाये रखना धर्मसेवनके लिये आवश्यक है।

कुछ दिन इसी तरह बिताकर जब वह देख लेता है कि अब मै
र छोड़ सकता हूँ तो अपने गुरुजनों, बन्धु-बाँधवो और पुत्र वगैरहसे
छकर घर छोड़ देता है।

११ उद्दिष्टविरत—यह अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक अपने उद्देश्यसे
नाये गये आहारको ग्रहण नही करता, इसलिये इसे उद्दिष्टविरत
हते हैं। इसके दो भेद होते है। पहला भेदवाला उत्कृष्ट श्रावक
फेद लगोटी लगाता है और एक सफेद चादर मात्र अपने पास रखता
, तथा कैंची या छुरेसे अपने केशोंको बनवाता है। और जब किसी

स्थानपर बैठता है या लेटता है तो अत्यन्त कोमल वस्त्र वगैरहसे स्थानको साफ कर लेता है, जिससे उसके बैठने या लेटनेसे न जन्तुको कोई पीड़ा न पहुँच सके।

इस पहले भेदवाले उत्कृष्ट श्रावकके भी दो विभाग हैं। एक जो अनेक घरोंसे भिक्षा लेता है और दूसरा वह जो एक घरसे ही ि लेता है। जो अनेक घरोंसे भिक्षा लेता है वह भोजनके समय श्राव घर जाकर उसके आँगनमें खडा होकर 'धर्मलाभ हो' ऐसा कह भिक्षाकी प्रार्थना करता है, अथवा मौनपूर्वक केवल अपनेको दख चला आता है। यदि श्रावक कुछ देता है तो उसे अपने पात्रमें ले ले है। किन्तु वहाँ देर नही लगाता और वहाँसे निकलकर दूसरे श्राव घर जाकर ऐसा ही करता है। यदि कोई श्रावक अपने घरपर भोजन करनेकी प्रार्थना करता है तो अन्य घरोंसे जो भोजन मिल पहले उसे खाकर पीछे आवश्यकताके अनुसार भोजन उस श्र वन ले लेता है। यदि कोई ऐसी प्रार्थना नही करता तो कई घरोंमे जा अपने उदर भरने लायक भोजन माँगता है और जहाँ प्रासुक न मिलता है वहाँ उसे देख भालकर खा लेता है। खाते समय स्वाद ध्यान नही देता और न गृहस्थके घरसे कुछ मिलने या न मिलने अथ मिलनेवाले द्रव्यकी सरसता और विरसतापर ही ध्यान देता है भोजन करनेके पश्चात् अपना जूठा बर्तन स्वय ही माँजता और धो है। यदि वह मानमें आकर दूसरेसे ऐसा काम कराता है तो यह मह असयम समझा जाता है। भोजन करनेके पश्चात् अपने गुरुके ।। जाकर दूसरे दिन तकके लिये वह आहार न करनेका नियम ले है और गुरुके पाससे जानेके बादसे लेकर लौटने तक जो कुछ भी करता है वह सब सरलतापूर्वक गुरुसे निवेदन कर देता है। जो उत्कृ श्रावक एक घरसे ही भिक्षा ग्रहण करता है वह किसी मुनिके पीछे प श्रावकके घर जाकर भोजन कर आता है। और यदि भोजन नह मिलता तो उपवास कर लेता है।

यह ११ वी प्रतिमावाला उत्कृष्ट श्रावक सदा मुनियोके साथ
ता है, उनकी सेवा सुश्रुषा करता है और अन्तरंग और वहिरग
करता है। उन तपोमेसे भी वैयावृत्य तप खास तौरसे करता है।
नजनोको कोई कष्ट होनेपर उसका प्रतीकार करनेको वैयावृत्य
ते है, जैसे रोगियोकी परिचर्या करना, असमर्थोकी सहायता करना,
जनोके पैर वगैरह दवाना आदि। श्रावकके लिये वैयावृत्य करनेका
ा महत्व वतलाया गया है। इससे घृणाका भाव दूर होता है सेवाभाव-
प्रोत्साहन मिलता है और वात्सल्यभावकी वृद्धि होती है। तथा
नकी परिचर्या की जाती है वे सनायता अनुभव करते है, उनके
तमें यह भाव नही होता कि कोई हमारी देखरेख करनेवाला नहीं है।

दूसरे भेदवाले उत्कृष्ट श्रावककी भी सभी क्रियाएँ पहलेके ही
ान होती है। केवल इतना अन्तर है कि यह सिर और दाढीके
ोंको अपने हाथसे पकड़कर उखाड डालता है। इस क्रियाको
लोच कहते है। केवल लगोटी लगाता है और मुनियोके समान
थमें मोरके पंखोकी एक पीछी रखता है। उसीसे वह अपने बैठने
लेटनेके स्थानको साफ करके जन्तुरहित कर लेता है। तथा गृहस्थके
जाकर उसके प्रार्थना करने पर, उसीके घरमे अपने हाथमे ही भोजन
ता है, पासमे बरतन नही रखता। दोनो हाथोको जोड़कर वाएँ
थकी कनअगुलियें दाहने हाथकी कनअंगुलिको फँसा कर पात्र
वना लेता है। गृहस्थ वाएँ हाथकी हथेलीपर भोजन रखता जाता
और यह दाहिने हाथकी शेष चार अगुलियोसे उठाकर कौरको
मे रखता जाता है। यह उत्कृप्ट श्रावक उत्तम उत्तम ग्रन्थोका स्वा-
य करता है और खाली समयमें ससार, शरीर और उसके साथ
ने सम्वन्धके विषयमें चिन्तन करता है।

इस प्रकार नैष्टिक श्रावकके ये ११ दर्जे है। इनको क्रमवार ही
ा जाता है। ऐसा नही है कि कोई प्रारम्भकी क्रियाएँ न करके
ोके दर्जेमें पहुँच जाये। यदि कोई ऐसा करता है तो आगे वढ जाने-

पर भी उसे उस दर्जेवाला नही कहा जा सकता। जैनधर्ममें शा॰त अनुसार किये गये कार्यका ही महत्त्व है। 'आगेको दौड और पी छोड' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ नही होती। जो लोग उत्तरदा॰ से वचनेके लिये त्यागी वनना चाहते है, उनके लिये भी यहाँ स्थान न है। किन्तु जो अपने गार्हस्थिक उत्तरदायित्वका यथोचित प्रवन्ध कर केवल आत्मकल्याणकी भावनासे इस मार्गका अवलम्वन लेते है वे इस पथके योग्य समझे जाते हैं।

साधक श्रावक

श्रावकका तीसरा भेद साधक है। मरणकाल उपस्थित हो॰ प शरीरसे ममत्व हटाकर, भोजन वगैरहका त्याग करके, ॰ पूर्वक ध्यानके द्वारा जो आत्माका शोधन करता है उसे साधक कहते है सावककी इस क्रियाको समाधिमरण व्रत या सल्लेखना व्रत कहते है जव कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वुढापा और रोग ऐसी हालतमे पहुँच जा॰ जिसका प्रतीकार कर सकना शक्य न हो तो धर्मके लिये शरीर छो देना सल्लेखना या समाधिमरण कहाता है। समाधिमरण करने विधि वतलाते हुए लिखा है कि शरीर धर्मका साधन है इसलिये य॰ वह धर्मसाधनमें सहायक होता हो तो उसे नष्ट नही करना चाहि और यदि वह विनष्ट होता हो तो उसका शोक नही करना चाहिये तथा धर्मका साधन समझ कर ही शरीरको स्वस्थ रखना चाहिये यदि कोई रोग हो जाये तो उसका प्रतीकार भी करना चाहिये। ॰क जव शरीर धर्मका वाधक वन जाये तो शरीरको छोडकर धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योकि शरीर नष्ट होनेपर पुन मिल जाये॰ किन्तु धर्मकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

कोई कोई भाई समाधिमरण व्रतके स्वरूप और महत्त्वको न सम कर इसे आत्मघात वतलाते है। किन्तु धर्मपर आपत्ति आनेपर ॰ रक्षाके लिये शरीरकी उपेक्षा कर देनेका नाम आत्मघात नही परन्तु क्रोधमे आकर विप आदिके द्वारा प्राणोके घात करनेका नाम ॰

६-श्रावकधर्म और विश्वकी समस्याएँ

आज सभी धर्मोंके सामने यह प्रश्न रखा जाता है कि वे वर्तमान विश्वकी समस्याओंको हल करनेमे कहाँतक आगे आते है ? यह प्रश्न न भी रखा जावे तो भी धर्मोंके सामने यह प्रश्न तो है ही कि केवल व्यक्तिके अभ्युदय और निश्रेयस प्राप्तिके लिये ही धर्मोंकी सृष्टि की गई है या उनसे समाज और राष्ट्रका भी अभ्युदय हो सकता है ? यहाँ हम ऊपर वतलाये गये जैन श्रावकके धर्मके प्रकाशमें उक्त प्रश्न को सुलझानेका प्रयत्न करते है।

यह सत्य है कि धर्मकी सृष्टि व्यक्तिके अभ्युदयके लिये हुई किन्तु व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्वसे कोई पृथक् वस्तु नही है। व्यक्तियोंका समूह ही समाज, राष्ट्र और विश्वके नामसे पुकारा जाता है। आज जिन्हें विश्वकी समस्याएँ कहा जाता है वस्तुत. वे उस विश्वमे वसनेवाले व्यक्तियोंकी ही समस्याएँ है। माना, व्यक्ति एक इकाई है, किन्तु अनेक इकाईयाँ मिलकर ही दहाई, सैकडा आदि सख्याएँ वनती है, अत. व्यक्तिके अभ्युदयके लिये जन्मा हुआ धर्म जब किसी एक खास व्यक्तिके अभ्युदयका कारण न होकर व्यक्तिमात्रके अभ्युदयका कारण है तो चूंकि व्यक्तिमात्रमे विश्वके सभी व्यक्ति आ जाते है अत वह विश्वके भी अभ्युदयका कारण हो सकता है। किन्तु विश्वको उसे अपनाना चाहिये। अस्तु, पहले हमें यह देखना चाहिये कि आजके युगकी वे कौनसी समस्याएं है, जिन्हें हमे हल करना है, और उनका मूल कारण क्या है ?

पिछले दो सौ वर्षोमें विज्ञानने वड़ी उन्नति की है। उसने ऐसे ऐसे यंत्र प्रदान किये है, जिनसे विश्वका संरक्षण और संहार दोनों ही संभव है; क्योंकि किसी वस्तुका अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है और वुरा उपयोग भी किया जा सकता है। उपयोग करना तो मनुष्यके हाथकी वात है, उसमे वेचारी वस्तुका क्या अपराध ? विद्या जैसीउत्तम वस्तु भी दुर्जनके हाथमें पडकर ज्ञानके स्थानमें विवादको जन्म देती

है। धनको पाकर दुर्जनको मद होता है किन्तु सज्जन उससे परोपकार करता है। शक्ति पाकर एक दूसरोको सताता है तो दूसरा उसे ही पाकर आततााइयोंके हाथोसे पीडितोंकी रक्षा करता है। विज्ञानने दूरीका अन्त कर दिया है और विश्वकी विभिन्न जातियो और राष्ट्रोको इतने निकट ला दिया है कि वे यदि परस्परमे सम्बद्ध होकर रहना चाहे तो एक सूत्रमें वद्ध होकर रह सकते हैं; क्योकि विज्ञानने सगठनके अनेक नये साधन प्रस्तुत कर दिये है। तथा उत्पादनके भी ऐसे ऐसे साधन दिये है जिनसे संसारके सभी स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकते है। किन्तु उन साधनोपर आज अमुक वर्गो और राष्ट्रोंका अधिकार है और वे उनका उपयोग दूसरोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और स्थापित किये हुए प्रभुत्वको बनाये रखनेमे करते है। जंगलमे शिकार-की खोजमे भटकनेवाला व्याघ्र अपने नुकीले पजों और पैने दाँतोंका जैसा उपयोग अपने शिकारके साथ करता है, वैज्ञानिक साधनोंसे सम्पन्न राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रोकी छातीपर आज अपने वैज्ञानिक साधनो-का वैसा ही उपयोग करते दिखलाई देते है। फलत. युद्धोकी सृष्टि होती है और राष्ट्रोंका धन और जन उनकी भेट चढा दिया जाता है। मानो, उनका इससे अच्छा कोई दूसरा उपयोग हो ही नही सकता। एक ओर नये साधनोंके द्वारा खेतोंसे खूब अन्न उपजाया जाता है, मिलें रात दिन कपडे तैयार करनेमें लगी रहती है, दूसरी ओर असंख्य मनुष्य विना अन्न और वस्त्रके जीवन विता देते है। एक ओर जिन्हे अन्न और वस्त्रकी आवश्यकता है वे दाने दानेके लिये तरसते है और दूसरी ओर जिन्हे उनकी आवश्यकता नही है वे अनावश्यक सचयके भारसे दबे रहते है। शान्ति और सुरक्षाके लिये कानूनोंकी सृष्टि की जाती है और उन्हे जबरदस्ती पलवानेके लिये पुलिस, सेना और जेल-खानोकी सृष्टि की जाती है। अन्यायके लिये न्यायका ढोंग रचा जाता है और सत्यको छिपानेके लिये असत्य प्रोपगण्डा किया जाता है।

ये समस्याएँ सारे ससारके सामने उपस्थित है। युद्धके महा

विनाशने युद्ध लड़नेवालोको भी भयभीत कर दिया है। सब चाहते हैं युद्ध न हो, किन्तु युद्धके जो कारण है उन्हे छोडना नही चाहते। सर्वत्र राजनीतिक और आर्थिक सघटनोंमे पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसाकी भावना छिपी हुई है। दूसरोको बेवकूफ बनाकर अपना कार्य साधना ही सबका मूलमत्र बना हुआ है, फिर शान्ति हो तो कैसे हो और युद्ध रुके तो कैसे रुके?

आधुनिक समस्याके इस विहंगावलोकनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न राष्ट्रों और जातियोके बीचमें हिंसामूलक व्यवहारका प्राधान्य है। स्वार्थपरता, बेईमानी, धोखेबाजी ये सब हिंसाके ही प्रतिरूप है। इनके रहते हुए जैसे दो व्यक्तियोंमें प्रीति और मैत्री नही हो सकती वैसे ही राष्ट्रो और जातियोंमे भी मैत्री नही हो सकती। 'जिओ और जीने दो' का जो सिद्धान्त व्यक्तियोंके लिये है वही जातियों और राष्ट्रोके लिये भी है। जब तक विभिन्न राष्ट्र और जातियाँ इस सिद्धान्तको नही अपनाते तब तक विश्वकी समस्याएँ नहीं सुलझ सकती, बल्कि और उलझती ही जायेंगी, जैसा कि प्रत्यक्षमे दिखलाई पड़ता है। अत विश्वकी समस्याओको सुलझानेके लिये राष्ट्रोंकी शासनप्रणालीमें आमूल परिवर्तन होना चाहिये और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओमे सशोधन होना चाहिये। तथा वह परिवर्तन और संशोधन अहिंसाके सिद्धान्तको जीवनपथके रूपमें स्वीकार करके किया जाना चाहिये।

यह नही भूल जाना चाहिये कि बलप्रयोगके आधारपर मानवीय सम्बन्धोंकी भित्ति कभी खडी नही की जा सकती। कौटुम्बिक और सामाजिक जीवनके निर्माणमें बहुत अंशोंमें सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सौहार्दका ही स्थान रहता है। एक बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि व्यक्तिगत आचरणका और सामाजिक वातावरण-का निकट सम्बन्ध है। व्यक्तिगत आचरणसे सामाजिक वातावरण बनता है और सामाजिक वातावरणसे व्यक्तित्वका निर्माण होता है।

किसी समाजके अन्तर्गत व्यक्तियोका आचरण यदि दूषित हो तो सामाजिक वातावरण कभी शुद्ध हो ही नही सकता, और सामाजिक वातावरणके शुद्ध हुए बिना व्यक्तियोके आचरणमे सुधार होना शक्य नही। इसलिये व्यक्तिगत आचरणके सुधारके साथ साथ सामाजिक वातावरणको भी स्वच्छ बनानेकी चेष्टा होनी चाहिये। इसीसे जैनधर्म प्रत्येक व्यक्तिके आचरण निर्माणपर जोर देते हुए उसके जीवनसे हिंसामूलक व्यवहारको निकालकर पारस्परिक व्यवहारमे मैत्री, प्रमोद और कारुण्यकी भावनासे बरतनेकी सलाह देता है। इतना ही नही, बल्कि वह तो यह भी चाहता है कि राजा भी ऐसा ही धार्मिक हो, क्योकि राजनीतिमे अधार्मिकताके घुस जानेसे राष्ट्रभरका नैतिक जीवन गिर जाता है और फिर व्यक्ति यदि अनैतिकतासे बचना भी चाहे तो बच नही पाता, अनेक बाहिरी प्रलोभनो और आवश्यकताओसे दबकर वह भी अनर्थ करनेके लिए तत्पर हो जाता है, जिसका उदाहरण युद्धकालमें प्रचलित चोरबाजार है। अत राजनीति, समाजनीति और व्यक्तिगत जीवनका आधार यदि अहिसाको बनाया जाये तो राजा और प्रजा दोनो सुख शान्तिसे रह सकते है।

आज जिन देशोमे प्रजातन्त्र है, उन देशोमे यद्यपि अपनी अपनी जनताके सुख दु खका ध्यान पूरा पूरा रखा जाता है, किन्तु दूसरे देशोकी जनताके साथ वैसा ही व्यवहार नही किया जाता। बातें अच्छी अच्छी कही जाती है किन्तु व्यवहार उनसे बिल्कुल विपरीत किया जाता है। दूसरे देशोपर अपना स्वत्व बनाये रखनेके लिए राजनैतिक गुटबन्दियाँ की जाती है। उनके विरुद्ध झूठा प्रचार करनेके लिए लाखों रुपया व्यय किया जाता है और यह कहा जाता है कि हम उनकी भलाईके लिए ही उनपर शासन कर रहे है। शासनतंत्रके द्वारा अपना अधिकार जमाकर उन देशोके धन और जनका मनमाना उपयोग किया जाता है। यह सब हिंसा, असत्य और चोरी नही है तो क्या है? यदि राष्ट्रोंका निर्माण अहिंसाके आधारपर किया जाये और असत्य व्यवहार-

को स्थान न दिया जाये तो राष्ट्रोंमें पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसाकी भावना देखनेको भी न मिले। समस्त राष्ट्रोंका एक विश्वसंघ हो, जिसमें सब राष्ट्र समान भ्रातृभावके आधारपर एक कुटुम्बके रूपमे सम्मिलित हों, न कोई किसीका शासक हो न शास्य हो। सब सबके दु ख और संकटका ध्यान रखे। सबके साथ सबका मैत्री-भाव हो। यदि सब राष्ट्र अपनी अपनी नियतोंकी सफाई करके इस तरहसे एक सूत्रमे बँधे तो न तो युद्ध हों और न युद्धके अभिशापोंसे जनताको असीम कष्ट ही भोगना पड़े।

आज उत्पादनके ऊपर एक राष्ट्र या जातिका एकाधिकार होनेसे उसे अपने लिए दूर दूरसे कच्चा माल मँगाना पड़ता है और तैयार हुए मालको खपानेके लिए बाजारोंकी भी खोज करनी पड़ती है और उनपर अपना काबू रखना पड़ता है। फिर भले ही वे बाजार दुनियाके किसी भी भागमें क्यो न हो। आज इसी पद्धतिके कारण दुनिया कराह रही है। दुनियाको इससे मुक्त करनेके लिये भी हमे अहिंसाका ही मार्ग अपनाना होगा। राष्ट्रों और जातियोंकी भलाईका स्थान विश्वकी भलाईको देना होगा। हमारा जीवन भौतिक दुनियाकी आवश्यकताओंके अनुसार नही चलाया जा सकता। हमें बनावटी तौरपर पहले अपनी जरूरतोको बढाने और फिर उनको पूरा करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये। जीवनका आनन्द इसपर निर्भर नही करता कि हमारे पास कितनी ज्यादा चीजें है? जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जीवनकी बनावटी आवश्यकताओंको बढाकर उसीकी पूर्तिके लिए प्रयत्न करता रहता है और बिना जरूरतके चीजोका संग्रह करता है, वह दु खो और पापोका सग्रह करता है। इसीसे जैनधर्मने परिग्रहको पाप बतलाया है और प्रत्येक गृहस्थके लिए यह नियम रखा है कि वह अपनी इच्छाओको सीमित करके अपनी आवश्यकताके अनुसार सभी आवश्यक वस्तुओंकी एक सीमा निर्धारित कर ले और उससे अधिकका त्याग कर दे। आज उत्पादन और वितरणके प्रश्नने दुनियामें विराट

रूप धारण कर लिया है, जिसके कारण दुनियाकी आर्थिक विषमताका संतुलन करना कठिन हो रहा है। जैनधर्मके प्रवर्तक श्रीऋषभदेवने युगके आदिमे मनुष्योकी इसी सचयवृत्तिको लक्ष्यकर प्रत्येक गृहस्थके लिए परिग्रह परिमाण व्रतका निर्देश किया था। उस व्यवस्थामे भोग विलास जीवनका ध्येय न था। भोगपर जोर देनेसे ही व्यवस्थाका आधार मौज, मजा और अधिकार हो गया है। जिसका आखिरी नतीजा सघर्ष और यद्धोंका ताँता है। इसके विरुद्ध यदि हम अनावश्यक इच्छाओके नियमनपर जोर दे तो जीवनपर नियंत्रण कायम होता है और हमारी जरूरतें सीमित हो जाती है। जरूरतोको सीमित किये बिना यदि कानूनोंके आधारपर उत्पादन और वितरणका प्रवन्ध किया भी गया तो उसमे सफलता नही मिल सकती। यह स्मरण रखना चाहिये कि कानूनकी भाषा और उसका पालन करानेके आधार इतने लचर होते है कि मनुष्य अपनी वुद्धिके उपयोगके द्वारा कानूनोंको भङ्ग करके भी वचा रहता है।

वास्तवमें नैतिक आचरणका पालन बलपूर्वक नही कराया जा सकता। वह भीतरीकी प्रेरणासे ही हो सकता है। अत कानूनसे अधिक शक्तिशाली और लाभदायक मार्ग आत्मसयम है। जब मनुष्य अपना और समाजका लाभ समझ कर उसका अनुसरण करने लगता है तो वह स्वयं संयमी बननेकी कोशिश करने लगता है। इस तरह जब सयमी पुरुष ऊँचे स्तरपर पहुँच जाता है तो वह स्वय उदाहरण बनकर दूसरोको भी संयमी बननेकी सतत प्रेरणा देता है और इस तरह समाजके नैतिक जीवनको उन्नत बनानेमे निरन्तर योगदान करता रहता है।

संयमकी इसी शिक्षाका परिणाम ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहव्रत है। यदि मनुष्यसमाजकी वासनाओ और लालसाओका नियत्रण न किया जायेगा तो उसका शारीरिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य नष्ट हो जायेगा और उसका विकास रुक जायेगा।

इस विवेचनसे हम इस नतीजेपर पहुँचते है कि जैनधर्ममें प्रत्येक

गृहस्थके लिए जिन पाँच अणुव्रतोंका पालन करना आवश्यक बतलाया है, यदि उन्हे सामाजिक और राजनीतिक जीवनका भी आधार बनाकर चला जाये तो विश्वकी अनेक मौलिक समस्याएँ सरलतासे सुलझ सकती है।

अब रह जाता है मद्य, मांस और मधुका त्याग तथा गृहस्थके अन्य व्रत नियम। सबसे यह आशा नही की जा सकती कि सब उनका पालन करेंगे। फिर भी जो उनका पालन करेगा उसे शारीरिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे लाभ ही होगा। मद्य और मांस ऐसी चीजें हैं जिन्हे मनुष्यके आम भोजनमें स्थान देना आवश्यक नही है। दोनो ही तामसिक हैं और तामसिक आहार विहारके होते हुए सात्त्विक भावोंका विकास नही हो सकता। और सात्त्विक भावोका विकास हुए विना अहिंसक वातावरण नही बन सकता। और अहिंसक वातावरण बनाये विना दुनियाको सुख शान्ति नसीब नही हो सकती। अत उनकी ओरसे मनुष्योका मन यदि हट सके तो उससे उन मनुष्योका तथा संसारका लाभ ही होगा। मनुष्य स्वभाव न तो अच्छा होता और न बुरा। वह तो कच्ची गीली मिट्टीके समान है। चाहे जिस रूपमे उसका निर्माण किया जा सकता है। जिन घरानोमें मद्य माससे परहेज किया जाता है उनमें जन्म लेनेवाले बच्चे उन चीजोसे परहेज करते है और जिन घरानोमे उनका चलन है उनमे जन्म लेनेवाले बच्चे उसके अभ्यस्त हो जाते है। इससे सिद्ध है कि इस प्रकारकी वस्तुओसे मनुष्योंको बचाया जा सकता है वह उनका प्राकृतिक आहार नही है।

किन्तु जिन देशोमे अन्नकी कमी या जलवायुके प्रभावके कारण मद्य और माससे एकदम परहेज करना शक्य नही है, उन देशोमे भी उनपर अमुक प्रकारके प्रतिबन्ध लगाकर कमसे कम यह भाव तो पैदा किया जा सकता है कि ये चीजे मनुष्यके लिये ग्राह्य नही है किन्तु परिस्थितिवश उन्हे खाना पड़ता है। अपनी शक्ति, परिस्थिति और व्यवसायके अनुसार हिंसाका त्याग करके भी मनुष्य अहिंसकोंके

श्रेणीमें सम्मिलित हो सकता है। उदाहरणके लिए कोई कसाई अपनी अजीविकाका साधन होनेसे यदि पशुहत्याका त्याग नही कर सकता तो उसके लिए सप्ताहमें एक दिन उसका त्याग कर देना या अमुक प्रकारके पशुओंकी अमुक संख्यामें ही हत्या करनेका नियम ले लेना भी अहिंसाणुव्रतकी जघन्य श्रेणीमे गिना जाता है। जैन पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। यथा—एक मुनिने एक मासाहारी भीलसे कौवेका मांस खाना छुड़वा दिया था। इसी प्रकार एक मछुवेको यह नियम दिला दिया था कि उसके जालमे जो पहली मछली आयेगी उसे वह नही मारेगा। एक चाण्डालको, जो फाँसी लगानेका काम करता था, यह नियम दिला दिया था कि वह चतुर्दशीके दिन किसीको फाँसी नही देगा। इन छोटी प्रतिज्ञाओने ही उन्हें कुछसे कुछ वना दिया।

अत. थोडा सा भी प्रतिवन्ध लगाकर यदि मांस और मद्य सेवनपर अंकुश रखा जाये तो उनका सेवन करनेके अभ्यस्त मनुष्य भी उनकी बुराइयोंसे वच सकते है। और उससे समाजमे फैलनेवाली बहुतसी वुराइयोंसे समाजका छुटकारा हो सकता है।

जैनधर्मके नियम यद्यपि कड़े दिखायी देते है किन्तु उनके पालनमें मनुष्यकी शक्ति और परिस्थितिका ध्यान रखा जाता है इसलिए उनकी कठोरता खलती नही। उसका तो एक ही ध्येय है कि मनुष्य स्वयं अपनी अनियन्त्रित स्वेच्छाचारिता पर 'ब्रेक' लगाना सीखे और वुराईको करते हुए भी कमसे कम इतना तो न भूले कि मै वुरा करता हूँ। यह ऐसी चीज है जिसे हर कोई कर सकता है।

इसी तरह वृद्धावस्थामें अपने सांसारिक उत्तरदायित्वोंसे अवकाश लेकर और उनका भार अपने उत्तराधिकारीको सौपकर यदि मनुष्य आत्म साधनाका मार्ग स्वीकार कर लिया करें तो उससे एक ओर तो कार्यक्षेत्रमें आनेके लिए उत्सुक नये व्यक्तियोंको स्थान मिलनेमे सहूलियत होगी, दूसरी ओर कौटुम्बिक कटुता घटेगी। साथ ही साथ आध्यात्मिक विकासका मार्ग भी चालू रहेगा और उससे संसारको बहुत लाभ पहुँचेगा।

७–मुनिका चारित्र

मुनि या साधुके २८ मूलगुण होते हैं। १–५ पाँच महाव्रत-अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन पाँच व्रतोंका एक देशसे पालन करता है साधु उन्हें ही पूरी तरहसे पालते हैं। अर्थात वे छहों कायके जीवोंका घात नही करते और राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भावोंको उत्पन्न नही होने देते। अपने प्राणोंपर संकट आनेपर भी कभी झूठ नहीं बोलते। विना दी हुई कोई भी वस्तु नही लेते। पूर्ण शीलका पालन करते हैं और अन्तरंग तथा वहिरंग, सभी प्रकारके परिग्रहके त्यागी होते हैं। केवल शौच आदिके लिए पानी आवश्यक होनेसे एक कमण्डलु और जीवरक्षाके लिये मोरके स्वयं गिरे हुए पंखोंकी एक पीछी अपने पास रखते हैं।

६–१० पाँच समिति–दिनमें सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित जमीनको अच्छी तरहसे देखकर चलते हैं। जब बोलते हैं तो हित और मित वचन बोलते हैं। दिनमें एक बार श्रावकके घर जाकर, यदि वह श्रद्धा और भक्तिके साथ भोजनके लिए निवेदन करे तो छियालीस दोष टालकर भोजन करते हैं। अपने कमंडलु और पीछी वगैरहको देख-भालकर हाथमें लेते हैं और देखभालकर रखते हैं। मलमूत्र वगैरह ऐसे स्थानपर करते हैं जहाँ किसीको भी उससे कष्ट पहुँचनेकी संभावना न हो।

११–१५ पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं—जो विषय इन्द्रियोंको अच्छे लगते हैं उनसे राग नही करते और जो विषय इन्द्रियोंको बुरे लगते हैं उनसे द्वेष नही करते।

१६–२१ छ आवश्यक–प्रतिदिन सामायिक करते हैं, तीर्थङ्करोंकी स्तुति करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, प्रमादसे लगे हुए दोषोंका शोधन करते हैं, भविष्यमें लग सकनेवाले दोषोसे वचनेके लिए अयोग्य वस्तुओंका मन, वचन और कायसे त्याग करते हैं और लगे हुए दोषोंका शोधन करनेके लिए अथवा तपकी वृद्धिके लिए, अथवा कर्मोंकी निर्जरा-

के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। खड़े होकर, दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटकाकर, पैरके दोनो पजोंको एक सीधमें चार अगुलके अन्तरसे रखकर साधुके निश्चल आत्मध्यानमें लीन होनेको कायोत्सर्ग कहते हैं।

२२–स्नान नही करते। गृहस्थके घर जब आहारके लिए जाते है तो गृहस्थ ही उनका शरीर पोंछ देते है।

२३–दन्तधावन नही करते। भोजन करनेके समय गृहस्थके घरपर ही मुखशुद्धि कर लेते है।

२४–पृथ्वीपर सोते है।

२५–खड़े होकर भोजन करते है।

२६–दिनमें एक बार ही भोजन करते है।

२७–नग्न रहते हैं।

२८–केशलोंच करते है।

इन २८ मूलगुणोंका पालन प्रत्येक जैन साधु करता है। उसके ऊपर यदि कोई कष्ट आता है तो वह उससे विचलित नही होता। भूख प्यासकी वेदनासे पीडित होनेपर भी किसीके आगे हाथ नही पसारता और न मुखपर दीनताके भाव ही लाता है। जैसे विदेशी सरकारसे असहयोग करनेवाले सत्याग्रही देशकी आजादीके लिए जेलमें डाल दिय जानेपर भी न किसीसे फर्याद करते थे और न कष्टोंसे ऊबकर माफी माँगते थे किन्तु अपने लक्ष्यकी पूर्तिमें ही तत्पर रहते थे उसी प्रकार जैन साधु सांसारिक बन्धनोके कारणोसे असहयोग करके कष्टोंसे न घबरा कर आत्माकी मुक्तिके लिए सदा उद्योगशील रहता है। जो लोग उसे सताते है, दु ख देते है, अपशब्द कहते है, उनपर वह क्रोध नही करता। उसे किसीसे लडाई झगडा करनेका कोई प्रयोजन नही है वह तो अपने कर्तव्यमें मस्त रहता है। उसके लिए शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, कंचन-काँच, निन्दा-स्तुति, सब समान है। यदि कोई उसकी पूजा करता ह तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवारसे वार करता है तो उसकी भी हितकामना करता है। उसे

न किसीसे राग होता है और न किसीपर द्वेष। राग और द्वेषको दूर करनेके लिए ही तो वह साधुका आचरण पालता है। जैसा कि लिखा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ज्ञान.।
रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥४७॥
रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ॥
अनपेक्षितार्थवृत्ति क पुरुष. सेवते नृपतीन् ॥४८॥"—रत्नकर० श्रा०

अर्थात्—'मोहरूपी अन्धकारके दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेके साथ ही साथ जिसे सच्चा ज्ञान भी प्राप्त हो गया है, वह साधु राग और द्वेषको दूर करनेके लिए चारित्रका पालन करता है। (इस पर यह शंका होती है कि चारित्र तो हिंसा वगैरह पापोंसे बचनेके लिए पाला जाता है न कि रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए; क्योकि जैनधर्ममे अहिंसा ही आराध्य है। तो उसका समाधान करते है) राग और द्वेषके दूर हो जानेपर हिंसा वगैरह पाप तो स्वय ही दूर हो जाते हैं। क्योकि जिस मनुष्यको आजीविकाकी चिन्ता नही है वह राजाओंकी सेवा करने क्यो जायेगा ? अत. जिसे किसीसे राग और द्वेष ही नही रहा वह हिंसा वगैरहके कार्य करेगा ही क्यों ?'

अत साधु वाहिरी समस्त वातोसे इतना उदासीन हो जाता है कि वह किसीकी ओर अपेक्षावृत्तिसे ध्यान ही नही देता। जैनधर्ममे साधुको अत्यन्त निरीह वृत्तिवाला और अत्यन्त संयत वतलाया है, तथा इसीलिए उसकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित रखी गयी है। साधु होनेके लिए उसे सव वस्त्र उतारकर नग्न होना पडता है इससे एक ओर तो उसकी निर्विकारता स्पष्ट हो जाती है दूसरी ओर उसे अपनी नग्नताको ढाँकनेके लिए किसीसे याचना नही करना पडती जो निर्विकार नही है वह कभी वुद्धिपूर्वक नग्न हो नही सकता। विकारको छिपानेके लिए ही मनुष्य लँगोटी लगाता है। और यदि लँगोटी फट जाये या खोई जाये तो उसे चलना फिरना कठिन हो जाता है

किन्तु बचपनमें वही मनुष्य नंगा घूमता है, उसे देखकर किसीको लज्जा नही होती, क्योकि वह स्वय निर्विकार है। जब उसमें विकार आने लगता है तभी वह नग्नतासे सकुचाने लगता है और उसे छिपानेके लिए आवरण लगाता है। प्रकृति तो सबको दिगम्बर ही पैदा करती है पीछेसे मनुष्य कृत्रिमताके आडम्बरमें फँस जाता है। अत. जो साधु होता है वह कृत्रिमताको हटाकर प्राकृतिक स्थितिमे आ जाता है। उसे फिर कृत्रिम उपकरणोंकी आवश्यकता नही रहती। इसीलिए सिर और दाढ़ी मूछोके केशोंको दूसरे, चौथे अथवा छठे महीनेमें वह अपने हाथसे उपार डालता है। साधुत्वकी दीक्षा लेते समय भी उसे केशोंका लुञ्चन करना होता है। ऐसा करनेके कई कारण है—प्रथम तो ऐसा करनेसे जो सुखशील व्यक्ति है और किसी घरेलू कठिनाई या अन्य किसी कारणसे साधु बनना चाहते है वे जल्दी इस ओर अग्रसर नही होते और इस तरह पाखण्डियोंसे साधुसघका बचाव हो जाता है। दूसरे, साधु होनेपर यदि केश रखते है तो उनमें जूं वगैरह पड़नेसे वे हिंसाके कारण वन जाते है और यदि क्षौरकर्म कराते है तो उसके लिए दूसरोंसे पैसा वगैरह माँगना पड़ता है। अत· वैराग्य वगैरहकी वृद्धिके लिए यतिजनोंको केशलोच करना आवश्यक बतलाया है।

लिंग चिह्नको कहते है। जिन लिंग या चिह्नोसे मुनिकी पहचान होती है वे मुनिके लिंग कहलाते है। लिंग दो प्रकारके होते है द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्यचिह्न और भावलिंग अर्थात् आभ्यन्तर चिह्न। जैनमुनिके ये दोनों चिह्न इस प्रकार बतलाये है—

"जवजादरुवजाद उप्पाडिदकेसमंसुग सुद्ध।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंग ॥५॥
मुच्छारम्भविमुक्क जुत्त उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह ॥ ६ ॥ —प्रवचनसा० ३।

'मनुष्य जैसा उत्पन्न होता है वैसा ही उसका रूप हो अर्थात् नग्न हो, सिर और दाढी मूछोंके वाल उखाड़े हुए हों, समस्त बुरे कामोंसे बचा हुआ हो, हिंसा आदि पापोसे रहित हो और अपने शरीरका संस्कार

वगैरह न करता हो। यह सब तो जैन साधुके बाह्य चिह्न है। तथा ममत्व और आरम्भसे मुक्त हो, उपयोग और मन वचन कायकी शुद्धिसे युक्त हो, दूसरोकी रचमात्र भी अपेक्षा न रखता हो। ये सब आभ्यन्तर चिह्न है जो मोक्षके कारण है।'

इस युगमे यह प्रश्न किया जाता है कि बाहिरी चिह्नकी क्या आवश्यकता है ? मगर बाहिरी चिह्नोसे ही आभ्यन्तरकी पहचान होती है। आँखोंसे तो बाहिरी चिह्न ही देखे जाते हैं उन्हीको देखकर लोग उनके अभ्यन्तरको पहचाननेका प्रयत्न करते है। तथा लोकमें भी मुद्राकी ही मान्यता है। राजमुद्राके होनेसे ही जरा सा कागज हजारो रुपयोमे बिक जाता ह। अत. द्रव्यलिंग भी आवश्यक है।

इस तरह जैनधर्ममें साधुको बिल्कुल निरपेक्ष रखनेका ही प्रयत्न किया गया है। फिर भी उसे शरीरको बनाये रखनेके लिए भोजनकी आवश्यकता होती है और उसके लिए उसे गृहस्थोके घर जाना पडता है। वहाँ जाकर भी वह किसीके घरमे नही जाता और न किसीसे कुछ मांगता ही ह। केवल भोजनके समय वह गृहस्थोके द्वारपरसे निकल जाता है। गृहस्थोके लिए यह आवश्यक होता है कि वे भोजन तैयार होनेपर अपने अपने द्वारपर खडे होकर साधुकी प्रतीक्षा करे। यदि कोई साधु उधरसे निकलता है तो उसे देखते ही वे कहते हैं— 'स्वामिन् ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये।' यदि साधु ठहर जाते है तो वह उन्हे अपने घरमें ले जाकर ऊँचे आसनपर बैठा देता है। फिर उनके पैर धोता है। फिर उनकी पूजा करता है। फिर उन्हें नमस्कार करता है। फिर कहता है—मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध और अन्न शुद्ध।' इन सब कार्योंको नवधा भक्ति कहते हैं। नवधा भक्तिके करनेपर ही साधु भोजनशालामें पधारते हैं। इस नवधा भक्तिसे एक तो साधुको सद्गृहस्थकी पहचान हो जाती है—वे जान जाते है कि यह गृहस्थ प्रमादी है या अप्रमादी ? इसके यहाँ भोजन सावधानीसे बनाया गया है या असावधानीसे ? दूसरे, इससे गृहस्थके मनमें अवज्ञाका भाव

नहीं रहता और इसलिए वह जो कुछ देता है वह भार समझकर नही देता किन्तु अपना कर्तव्य समझकर प्रसन्नतासे देता है। जहाँ साधु माँगते हैं और गृहस्थ उन्हें दुरदुराते हैं वहाँ साधु न आत्मकल्याण कर पाता है और न परकल्याण ही कर पाता है। इसलिए जैन साधु विधिपूर्वक दिये जानेपर ही भोजन ग्रहण करते हैं। अन्यथा लौट जाते हैं।

भोजनशालामे जाकर वे खड़े हो जाते हैं और दोनो हाथोको धोकर अंजुलि बना लेते हैं। गृहस्थ उनकी बाएँ हाथकी हथेलीपर ग्रास बना बनाकर रखता जाता है और वे उसे अच्छी तरहसे देख भालकर दायें हाथकी अँगुलियोसे उठा उठाकर मुंहमे रखते जाते है। यदि ग्रासमें कोइ जीव जन्तु या बाल दिखायी दे जाता है, तो भोजन छोड़ देते है। भोजनके बहुतसे अन्तराय जैन शास्त्रोंमे बतलाये गये है।

पहले लिख आये है कि भोजन केवल जीवनके लिए किया जाता है और जीवन रक्षणका उद्देश्य केवल धर्मसाधन है। अत. जहाँ थोड़ी सी भी धर्मंमे बाधा आती है भोजनको तुरन्त छोड़ देते है। हाथमें भोजन करना भी इसीलिये बतलाया है कि यदि अन्तराय हो जाये तो बहुतसा झूठा अन्न छोड़ना न पड़े, क्योंकि थालीमे भोजन करनेसे अन्तराय हो जानेपर भरी हुई थाली भी छोडनी पड़ सकती है। दूसरे, पात्र हाथमे लेकर भोजनके लिए निकलनेसे दीनता भी मालूम होती है। गृहस्थके पात्रमे खानेसे पात्रको माँजने धोनेका झगड़ा रहता है, तथा पात्रमे खानसे बैठकर खाना होगा, जो साधुके लिए उचित नही है, क्योंकि बैठकर खानेसे साधु आरामसे अमर्यादित आहार कर सकता है तथा सुखशील बन सकता है। अत. खड़े होकर आहार करना ही उसके लिए विधेय रखा गया है।

साधुको अपना अधिकांश समय स्वाध्यायमें ही बिताना होता है. स्वाध्यायके चार काल बतलाये है—प्रात दो घड़ी दिन बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और मध्याह्न होनेसे दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिय। फिर मध्याह्नके बाद दो घड़ी बीतनेप

स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और जब दिन अस्त होनेमें दो घडी काल बाकी रहे तो समाप्त कर देना चाहिये। फिर दो घडी रात बीत जानेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये। और आधी रात होनेसे दो घडी पहले समाप्त कर देना चाहिये। फिर आधी रात होनेके दो घडी बादसे स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और रातका अन्त होनेमें दो घड़ी बाकी रहनेपर समाप्त कर देना चाहिये।

साधुकी दिनचर्या

साधुको चाहिये कि मध्य रात्रिमें ४ घड़ीतक निद्रा लेकर, थकान दूर करके, स्वाध्याय प्रारम्भ करे और जब रात बीतनेमें दो घडी काल शेष रह जाय तो स्वाध्याय समाप्त करके प्रतिक्रमण करे। खूब अभ्यस्त योगी भी क्षणभरके प्रमादसे समाधिच्युत हो जाता है। अत साधुको सदा अप्रमादी रहना चाहिये। तीनों संध्याओमे जिनदेवकी वन्दना करनी चाहिये और चित्तको स्थिर करनेके लिए उनके गुणोका चिन्तन करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय हृदयकमलमे प्राणवायुके साथ मनका नियमन करके 'णमो अरहंताण णमोसिद्धाण' का ध्यान करना चाहिये। फिर धीरे धीरे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर प्राण-वायुको अन्दर ले जाकर 'णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाण' का ध्यान करना चाहिये और वायुको धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिये। फिर प्राणवायुको अन्दर ले जाकर 'णमो लोए सव्वसाहूण' का ध्यान करना चाहिये और वायुको धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार नौ बार करनेसे चिरसचित पाप नष्ट होते हैं। जो साधु प्राण-वायुको नियमन कर सकनेमें समर्थ न हो वे वचनके द्वारा ही ऊपर लिखे गये पाँच नमस्कार मन्त्रोका जप कर सकते है। यह पंच नमस्कार मंत्र समस्त विघ्नोको नष्ट करनेवाला और सब मङ्गलोंमें मुख्य मंगल माना गया है। कायोत्सर्गके पश्चात् स्तुति वन्दना आदि करके आत्माका ध्यान करना चाहिये, क्योकि आत्मध्यानके विना मुमुक्षु साधुकी कोई भी क्रिया मोक्षसाधक नही होती।

इस प्रकार प्रात कालीन देवबन्दनाको करके फिर सिद्धोकी, शास्त्र की और अपने गुरु आचार्य वगैरहकी भक्ति करनी चाहिये। इस प्रका प्रभातमे दो घडीतक प्रात.कालीन कृत्य करके फिर साधुको स्वाध्या करना चाहिये। उसके वाद भोजन करनेकी इच्छा होनेपर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिये। और भोजन होने पर अगले दिनतकके लिए भोजनका त्याग कर देना चाहिये फिर लगे हुए दोषोंका शोधन करके मध्याह्नके बाद दो घड़ी वीते पर स्वाध्याय करना चाहिये। जब दिन दो घडी बाकी रहे तो स्वाध्या समाप्त.करके और दिन भरके दोषोंका परिमार्जन करके सायंकाल वन्दना करनी चाहिये। फिर देवबन्दना करके दो घड़ी रात जानेप स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और आधी रात होनेमें दो घड़ी बाकी रह जानेपर समाप्त कर देना चहिये। फिर चार घड़ीतक एक करवटसे शयन करना चाहिये। यह साधुका नित्य कृत्य है नैमित्तिक कृत्य मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

साधुके सम्वन्धमें और जो बाते जैन शास्त्रोमे लिखी हैं उनमे कुछ इस प्रकार हैं—

साधु जब घूपसे छायामे या छायासे घूपमे जाते हैं तो मोरपंखी पीछीसे अपने शरीरको साफ करके जाते हैं। इसी तरह जब बैठ हैं तो उस स्थानको पीछीसे साफ करके बैठते हैं जिससे कोई जीव ज उनके नीचे दबकर मर न जाये। जिस घरमे पशु बँधे हों या कोई बुरा कार्य होता हो उस घरमें साधुको भोजनके लिए नही जाना चाहिये तथा घरके अन्दर जाकर बार बार दाताकी ओर नही देखना चाहिये यदि संघमे कोई साधु बीमार हो जाये तो उसकी कभी भी उपेक्षा नह करना चाहिये। अकेले साधुको कही नही जाना चाहिये, जब कहीं जाये तो दूसरे साधुके साथ ही जाना चाहिये। गुरुको देखते ही उठ खड़े होना चाहिये और उन्हे नमस्कार करना चाहिये। गुरु जो वस्त

दे उसे अत्यन्त आदरके साथ दोनों हाथोंसे लेना चाहिये और लेकर पुन. नमस्कार करना चाहिये। जिन्होने दीक्षा दी हो, जो पढ़ाते हों, प्रायश्चित देते हो और समाधि मरण कराते हों वे सब गुरु होते हैं।

प्राण चले जानेपर भी साधुको दीनता नही दिखलाना चाहिये। भूखसे शरीरका कृश और मलिन होना साधुके लिए भूषण है, पवित्र मनवाला साधु उससे लजाता नही है। जिसका मन शुद्ध है उसे ही शुद्ध कहा जाता है। मन शुद्धिके विना स्नान करनेपर भी शुद्धि नही होती। साधुको चित्रमें अंकित भी स्त्रीका स्पर्श नही करना चाहिये। जिनका स्मरण भी खतरनाक है उनको स्पर्श करना तो दूरकी बात है। साधुको रात्रिमे ऐसे स्थानपर नही सोना चाहिये जहाँ स्त्रियाँ रहती हों। न साध्वियोंके साथ मार्गमें चलना ही चाहिये। तथा एकाकी साधुको किसी एकाकी स्त्रीके साथ न गपशप करनी चाहिये, न भोजन करना चाहिये और न बैठना ही चाहिये। जहाँ वास करनेसे साधुका मन चचल हो उस देशको छोड़ देना चाहिये। जो पाँचो प्रकारके वस्त्रसे रहित हैं वे ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं, अन्यथा सोना-चाँदी वगैरह कौन साधु रखता है?

परिग्रहकी बुराइयाँ बतलाते हुए एक जैनाचार्यने ठीक ही लिखा है—

"परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृती।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता
कुतोहि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥" पात्रके० स्तो०।

'परिग्रहवालोंको चोर आदिका भय अवश्य सताता है। चोरी हो जानेपर गुस्सा और मार डालनेके भाव होते हैं, कठोर और असत्य वचन बोलता है। ममत्व होनेसे मन भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें कलुषित आत्मावाले साधुओंको उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान कैसे हो सकता है।'

अत. साधुको बिल्कुल अपरिग्रही होना चाहिये।

ऊपर साधुकी जो चर्या बतलायी है उससे स्पष्ट है कि जैनधर्ममें

साधु जीवन बड़ा कठोर है। जो ससार, शरीर और भोगोकी असारता को हृदयगम कर चुक है, वे ही उसे अपना सकते है। सुखशील मनुष्योक गुजर उसमें नही हो सकती। जैन साधुका जीवन बिताना सचमुच 'तल वारकी धारपै धावनो' है। आजकलके सुखशील लोगोंको साधु जीवन की यह कठोरता सम्भवत. सह्य न हो और वे इसे व्यर्थ समझें। किन्त उन्हे यह न भूल जाना चाहिये कि आजादी प्राप्त करना कितना कठि है ? जिस देशपर विदेशी शक्ति प्रभुता जमा बैठती है, वहाँसे उस निकालना कितना कठिन होता है यह हम भुक्तभोगी भारतीयों छिपा नही। फिर अगणित भवोंसे जो कर्मबन्धन आत्मासे बँधे हु है उनसे मुक्ति सरलतासे कैसे हो सकती है ? शरीर और इन्द्रिय आत्माके साथी नही है किन्तु उसको परतंत्र बनाये रखनेवाले कर्मोंव साथी है । जो उन्हें अपना समझकर उनके लालन-पालनकी चिन्त करता है वह कर्मोकी जंजीरोंको और दृढ़ करता है । इनक उपमा अंग्रेजी शासनके उन प्रबन्धकोंसे की जा सकती है जिन् जनताकी जान-मालका रक्षक कहा जाता था किन्तु जो अवस मिलते ही आँखे बदलकर भक्षक बन जाते थे। अत: अपना का निकालने भरके लिए ही इनकी अपेक्षा करनी चाहिये और काम निक जानेपर उन्हे मुँह नही लगाना चाहिये। यही दृष्टिकोण साधुकी चर्या रखा गया है। जैन सिद्धान्तका यह भी आशय नहीं है कि दु ख उठान ही मुक्ति मिलती है। गुस्सेमे आकर स्वयं कष्ट उठाना या दूसरोंक कष्ट देना बुरा है। किन्तु संसारकी वास्तविक स्थितिको जानकर उस अपनेको मुक्त करनेके लिए मुक्तिके मार्गमे पैर रखनेपर दु खोकी ।२५। नही की जाती। जैसा कि लिखा है—

'न दुःख न सुख यद्वद् हेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥
न दुःख न सुखं तद्वद् हेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥' सवार्थ० ॥

अर्थात्—'जैसे रोगसे छुटकारा पानेमे न दु ख ही कार

और न सुख ही कारण है, किन्तु चिकित्सामें लगनेपर दुःख हो अथवा सुख हो। उसी तरह मोक्षका साधन करनेमें न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है। किन्तु मुक्तिका उपाय करनेपर चाहे दुःख हो या सुख हो, उसकी परवाह नही की जाती।'

अतः साधुकी चर्याकी कठोरता साधुको जान बूझकर दुःखी करनेके उद्देश्यसे निर्धारित नही की गयी है किन्तु उसे सावधान, कष्टसहिष्णु और सदा जागरूक रखनेके लिए की गयी है।

कुछ लोग साधुके स्नान और दन्तधावन न करनेको बुरी निगाहसे देखते हैं, किन्तु उनके न करनेपर भी जैन साधुकी शारीरिक स्वच्छता स्पर्शनीय होती है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन साधुओंके दाँतोपर मल जमा रहता है और उसपर यदि पैसा चिपक जाये तो उसे उत्कृष्ट साधु माना जाता है। किन्तु यह सब दन्तकथा मात्र है, दाँतोंपर मैल तभी जमता है जब आँतोंमे मल भरा रहता है। जैन साधु एक बारमें परिमित और हल्का आहार लेते है अतः न आँतोमें मल रहता है और न दाँतोपर मैल जमता है। एकबार किसीने लिखा था कि जैन साधु अपने पास एक झाड़ू रखते हैं उससे वे चलते समय आगे झाड़कर चलते है। यह भी कोरी गप्प ही है। मोर पंखकी पीछी शरीर और बैठनेका स्थान वगैरह शोधनेमें काम आती है, वह झाड़ू नही है। ये सब द्वेषी अथवा नासमझ लोगोंकी कल्पनाएँ है। जैन साधुका शरीर अस्वच्छ हो सकता है, किन्तु उसकी आत्मा अतिस्वच्छ होती है।

८—गुणस्थान

जैन सिद्धान्तमें संसारके सब जीवोको चौदह स्थानोंमे विभाजित किया है। उन स्थानोको गुणस्थान कहते है। गुण या स्वभाव पाँच प्रकारके होते हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। जो गुण कर्मोके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक कहते हैं। जो गुण कर्मोंके उपशम-अनुदयसे होता है उसे औपशमिक कहते है। जो गुण कर्मोके क्षय-विनाशसे प्रकट होता है उसे

क्षायिक कहते है। जो गुण कर्मोके क्षय और उपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते है और जो गुण कर्मोके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना स्वभावसे ही होता है उसे पारिणामिक कहते है चूँकि जीव इन गुणवाला होता है इसलिए आत्माको भी गुणनामसे कहा जाता है और उसके स्थान गुणस्थान कहे जाते है। वे चौदह है मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यङमिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति वादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोग केवली और अयोग केवली। चूंकि ये गुणस्थान आत्माके गुणोके विकासको लेकर माने गये है इसलिए एकदृष्टिसे ये आध्यात्मिक उत्थान और पतनके चार्ट जैसे है। इन्हे हम आत्माकी भूमिकाएँ भी कह सकते है।

पहले कहे गये आठ कर्मोंमें से सबसे प्रवल मोहनीयकर्म है। यह कर्म ही आत्माकी समस्त शक्तियोको विकृत करके न तो उसे सच्चे मार्गका-आत्मस्वरूपका भान होने देता है और न उस मार्गपर चलने देता है। किन्तु ज्यो ही आत्माके ऊपरसे मोहका पर्दा हटने लगता है त्यो ही उसके गुण विकसित होने लगते है। अत इन गुणस्थानोकी रचनामे मोहके चढाव और उतारका ही ज्यादा हाथ है। इनका स्वरूप संक्षेपमे क्रमश. इस प्रकार है—

१ मिथ्यादृष्टि—मोहनीय कर्मके एक भेद मिथ्यात्वके उदयसे जो जीव अपने हिताहितका विचार नही कर सकते, अथवा विचार कर सकनेपर भी ठीक विचार नही कर सकते वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते है। जैसे ज्वरवालेको मधुर रस भी अच्छा मालूम नही होता वैसे ही उन्हे भी धर्म अच्छा नही मालूम होता। संसारके अधिकतर जीव इसी श्रेणीके होते है।

२ सासादनसम्यग्दृष्टि—जो जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयको हटाकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है वह जब सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्व

ने जाता है तो दोनोंके बीचका यह दर्जा होता है। जैसे पहाड़की चोटीसे दे कोई आदमी लुडके तो जबतक वह जमीनमें नहीं आ जाता तबतक से न पहाडकी चोटीपर ही कहा जा सकता है और न जमीनपर ही, से ही इसे भी जानना चाहिये। सम्यक्त्व चोटीके समान है, मिथ्यात्व मीनके समान है और यह गुणस्थान बीचके ढालू मार्गके समान है। त जब कोई जीव आगे कहे जानेवाले चौथे गुणस्थानसे गिरता है भी यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानमें आनेके बाद जीव नियमसे हले गुणस्थानमें पहुँच जाता है।

३ सम्य मिथ्यादृष्टि—जैसे दही और गुडको मिला देनेपर नोंका मिला हुआ स्वाद होता है उसी प्रकार एक ही कालमें सम्य-त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको सम्यङ्मिथ्यादृष्टि हते हैं।

४ असंयतसम्यग्दृष्टि—जिस जीवकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन ती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। और जो जीव सम्यग्दृष्टि तो होता किन्तु संयम नही पालता वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। हा भी है—

'णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा वि।
जो सद्दहदि जिणुत्त सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥' —गो० जीव०

'जो न तो इन्द्रियोके विषयोंसे विरक्त है और न त्रस और स्थावर वोंकी हिंसाका ही त्यागी है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये मार्गका द्धान करता है—तथा जिसे उसपर दृढ़ आस्था है, वह जीव असंयत म्यग्दृष्टि है।'

आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

५ संयतासयत—जो संयत भी हो और असंयत भी हो उसे यतासंयत कहते हैं। अर्थात् जो त्रस जीवोकी हिंसाका त्यागी है और याशक्ति अपनी इन्द्रियोपर भी नियंत्रण रखता है उसे संयतासंयत कहते हैं। पहले जो गृहस्थका चारित्र बतलाया है वह संयतासयतका

ही चारित्र है। व्रती गृहस्थोंको ही सयतासयत कहते है। इस गुण-स्थानसे आगेके जितने गुणस्थान है वे सब सयमकी ही मुख्यतासे होते है।

६ प्रमत्त संयत—जो पूर्ण सयमको पालते हुए भी प्रमादके कारण उसमे कभी कभी कुछ असावधान हो जाते है उन मुनियोंको प्रमत्त सयत कहते है।

७ अप्रमत्तसंयत—जो प्रमादके न होनेसे अस्खलित सयमका पालन करते है, ध्यानमे मग्न उन मुनियोको अप्रमत्त सयत कहते है।

सातवें गुणस्थानसे आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है एक उपशम श्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि। श्रेणि का मतलब है पंक्ति या कतार। जिस श्रेणिपर यह जीव कर्मोंका उपशम करता हुआ—उन्हें दबाता हुआ चढता है उसे उपशम श्रेणि कहते है और जिस श्रेणिपर कर्मोको नष्ट करता हुआ चढता है उसे क्षपक श्रेणि कहते है। प्रत्येक श्रेणीमे चार चार गुणस्थान होते हैं। आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान उपशम श्रेणिमे भी शामिल है और क्षपक श्रेणिमें भी शामिल है। ग्यारहवाँ गुणस्थान केवल उपशम श्रेणिका ही है और बारहवाँ गुणस्थान केवल क्षपक श्रेणिका ही है। ये सभी गुणस्थान क्रमश होते है और ध्यानमें मग्न मुनियोंके ही होते है।

८ अपूर्व करण—करण शब्दका अर्थ परिणाम है। और जो पहल नही हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। ध्यानमे मग्न जिन मुनियोके प्रत्येक समयमे अपूर्व अपूर्व परिणाम यानी भाव होते है उन्हे अपूर्वकरण गुणस्थानवाला कहा जाता है। इस गुणस्थानमे न तो किसी कर्मका उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु उसके लिए तैयारी होती है, जीवके भाव प्रति समय उन्नत, उन्नत होते चले जाते है।

९ अनिवृत्ति बादर साम्पराय—समान समयवर्ती जीवोंके परि-णामोमे कोई भेद न होनेको अनिवृत्ति कहते है। अपूर्वकारण की तरह यद्यपि यहाँ भी प्रति समय अपूर्व अपूर्व परिणाम ही होते है किन्तु अपूर्व-करणमें तो एक समयमे अनेक परिणाम होनेसे समान समयवर्ती जीवोंके

परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते है। परन्तु इस गुणस्थानमें एक समयमे एक ही परिणाम होनेके कारण समान समयमे रहनेवाले सभी जीवोके परिणाम समान ही होते है। उन परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। और वादर साम्परायका अर्थ 'स्थूलकषाय' होता है। इस अनिवृत्तिकरणके होनेपर ध्यानस्थ मुनि या तो कर्मोंको दवा देता है या उन्हे नष्ट कर डालता है। यहाँ तकके सब गुणस्थानोमे स्थूलकषाय पायी जाती है, यह वतलानेके लिए इस गुणस्थानके नामके साथ 'वादर साम्पराय' पद जोडा गया है। कहा भी है—

'होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥५७॥'

'वे जीव अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहलाते है, जिनके प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है, और जो अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्निकी शिखाओंसे कर्मरूपी वनको जला डालते हैं।'

१० सूक्ष्म साम्पराय—उक्त प्रकारके परिणामोके द्वारा जो ध्यानस्थ मुनि कषायको सूक्ष्म कर डालते हैं उन्हे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवाला कहा जाता है।

११ उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ—उपशम श्रेणिपर चढनेवाले ध्यानस्थ मुनि जव उस सूक्ष्मकषायको भी दवा देते है तो उन्हे उपशान्तकषाय कहते है। पहले लिख आये है कि आगे वढनेवाले ध्यानी-मुनि आठवे गुणस्थानसे दो श्रेणियोमें वँट जाते है। उनमेंसे उपशम श्रेणिवाले मोहको धीरे धीरे सर्वथा दवा देते हैं पर उसे निर्मूल नही कर पाते। अत. जैसे किसी वर्तनमे भरी हुई भाप अपने वेगसे ढक्कनको नीचे गिरा देती है, वैसे ही इस गुणस्थानमें आनेपर दवा हुआ मोह उपशम श्रेणिवाले आत्माओको अपने वेगसे नीचेकी ओर गिरा देता है। इसमें कषायको विल्कुल दवा दिया जाता है। अतएव कषायका उदय न होनेसे इसका नाम उपशान्तकषाय वीतराग है। किन्तु इसमें पूर्ण ज्ञान और दर्शनको रोकनेवाले कर्म मौजूद रहते हैं इसलिये इन्हे छद्मस्थ भी कह

१२ क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ—क्षपक श्रेणिपर चढनेवाले मुनि मोहको धीरे धीरे नष्ट करते करते जब सर्वथा निर्मूल कर डालते है तो उन्हे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते है।

इस प्रकार सातवे गुणस्थानसे आगे वढनेवाले ध्यानी साधु चाहे पहली श्रेणिपर चढे, चाहे दूसरी श्रेणिपर चढे वे सब आठवाँ नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही है। दोनो श्रेणि चढनेवालोमें इतना ही अन्तर होता है कि प्रथम श्रेणिवालोसे दूसरी श्रेणिवालोमे आत्म-विशुद्धि और आत्मवल विशिष्ट प्रकारका होता है। जिसके कारण पहली श्रेणिवाले मुनि तो दसवेसे ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुँचकर दवे हुए मोहके उद्भूत हो जानेसे नीचे गिर जाते है। और दूसरी श्रेणिवाले मोहको सर्वथा नष्ट करके दसवेसे वारहवे गुणस्थानमे पहुँच जाते है। यह सव जीवके भावोका खेल है। उसीके कारण ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुँचनेवाले साधुका अवश्य पतन होता है और वारहवें गुणस्थानमे पहुँच जानेवाला कभी नही गिरता, वल्कि ऊपरको ही चढता है।

१३ सयोगकेवली—समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर वारहवाँ गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्मके चले जानेसे शेष कर्मोकी शक्ति क्षीण हो जाती है अत वारहवेंके अन्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घातिया कर्मोका नाश करके क्षीणकषाय मुनि सयोगकेवली हो जाता है। ज्ञानावरण कर्मके नष्ट हो जानेसे उसके केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। वह ज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इन्द्रिय, प्रकाश और मन वगैरहकी सहायता नही लेता इसीलिए उसे केवलज्ञान कहते है और उसके होनेके कारण इस गुणस्थानवाले केवली कहलाते है। ये केवली आत्माके शत्रु घाति कर्मोको जीत लेनेके कारण जिन, परमात्मा, जीवन्मुक्त, अरहत आदि नामोसे पुकारे जाते है। जैन तीर्थङ्कर इसी अवस्थाको प्राप्त करके जैन धर्मका प्रवर्तन करते है—जगह जगह घूमकर प्राणिमात्रको उसके हितका मार्ग वतलाते है और इसी कार्यमें अपने जीवनके शेष दिन विताते है। जव आयु अन्तर्मुहूर्त—

क मुहूर्तसे कम रह जाती है तो सब व्यापार बन्द करके ध्यानस्थ ो जाते हैं। जबतक केवलीके मन, वचन और कायका व्यापार रहता तबतक वे सयोगकेवली कहलाते हैं।

१४ अयोगकेवली—जब केवली ध्यानस्थ होकर मन, वचन ौर कायका सब व्यापार बन्द कर देते हैं तब उन्हे अयोग केवली कहते । ये अयोगकेवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मोको भी ध्यानपी अग्निके द्वारा भस्म करके समस्त कर्म और शरीरके बन्धनसे ूटकर मोक्ष लाभ करते हैं।

इस तरह संसारके सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासके ारतम्यके कारण गुणस्थानोमे बँटे हुए हैं। इनमेसे शुरूके चार णस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाँचवाँ णस्थान केवल समझदार पशु पक्षियों और मनुष्योंके होते हैं। ाँचवेंसे आगेके सब गुणस्थान साधुजनोके ही होते हैं। उनमें भी सातवें- बारहवें तकके गुणस्थान आत्मध्यानमे लीन साधुके ही होते हैं। ौर उनमें प्रत्येक गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्तसे कम ोता है।

९—मोक्ष या सिद्धि

मुक्ति या मोक्ष शब्दका अर्थ छुटकारा होता है। अत आत्माके मस्त कर्मबन्धनोसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। मोक्षका दूसरा ाम सिद्धि भी है। सिद्धि शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' होता है। जैसे धातुको लाने तपाने वगैरहसे उसमेंसे मल आदि दूर होकर शुद्ध सोना प्राप्त ो जाता है वैसे ही आत्माके गुणोको कलुषित करनेवाले दोषोको दूर रके शुद्ध आत्माकी प्राप्तिको सिद्धि या मोक्ष कहते हैं। कर्ममलसे ुटकारा पाये बिना आत्मा शुद्ध नही होता अत मुक्ति और सिद्धि दोनो एक ही अवस्था के दो नाम हैं जो दो बातोंको सूचित करते हैं। ुक्ति नाम कर्मबन्धनसे छुटकारेको बतलाता है और सिद्धि नाम उस ुटकारेके होनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिको बतलाता है। अत: जैनधर्ममें

न तो आत्माके अभावको ही मोक्ष कहा जाता है जैसा बौद्ध लोग मानते है और न आत्माके गुणोके विनाशको ही मोक्ष कहा जाता है जैसा वैशेषिक दर्शन मानता है। जैनधर्ममे आत्मा एक स्वतत्र द्रव्य है जो ज्ञाता और दृष्टा है, किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बँधा हुआ होनेके कारण अपने किये हुए कर्मोका फल भोगता रहता है। जब वह उस कर्मबन्धनका क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्त अवस्थामे उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख अनन्त वीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते है। जैसे स्वर्णमेसे मलके निकल जानेपर उसके स्वाभाविक गुण पीतता वगैरह ज्यादा विकसित हो जाते है इसीसे शुद्ध सोना ज्यादा चमकदार और पीला होता है, वैसे ही आत्मामेसे कर्म मलके निकल जानेसे आत्माके स्वाभाविक गुण निखर उठते है। मुक्त होनेके बाद यह जीव ऊपरको जाता है चूँकि जीवका स्वभाव ऊपरको जानेका है जैसा कि आगकी लपटें स्वभावसे ऊपरको ही जाती है। अत अपने उस स्वभावके कारण ही मुक्त जीव ऊपरको जाता है। लोकके ऊपर अग्रभागमे मोक्ष स्थान है जिसे जैन सिद्धातमे सिद्धशिला भी कहते है। सब मुक्त जीव मुक्त होनेके वाद ऊर्ध्वगमन करके इस मोक्षस्थानमे विराजमान हो जाते है। जैन सिद्धान्तमें मोक्षस्थानकी मान्यता भी अन्य सब दर्शनोसे निराली है। इसका कारण यह है कि वैदिक दर्शनोमें आत्माको व्यापक माना गया है अत उन्हे मोक्षस्थानके सम्बन्धमे विचार करनेकी आवश्यकता नही थी। बौद्धदर्शनमे आत्मा कोई स्वतत्र तत्त्व नही है, अत उनके लिए मोक्षस्थानकी चिन्ता ही व्यर्थ थी। किन्तु जैनदर्शन आत्माको एक स्वतंत्र तत्त्व माननेके साथ ही साथ व्यापक न मानकर ।।. शरीरके बराबर मानता है। इसलिए उसे मोक्षस्थानके सम्बन्धमे विचार करना पडा। वह कहता है कि मुक्त जीव बन्धनसे छूटकर ऊर्ध्वगमन करता है और लोकके अग्रभागमें पहुँचकर स्थिर हो जाता है फिर वहाँसे लौटकर नही आता।

जैन शास्त्रोमे एक मण्डली मतका उल्लेख पाया जाता है, ज

त्त जीवोका उर्ध्वगमन मानता है। किन्तु उसने मोक्षस्थानके
म्बन्धमे कोई विचार प्रकट नही किया। वह कहता है कि मुक्त जीव
नन्त काल तक ऊपरको चला जाता है, उसका कभी भी अवस्थान
ही होता। ऊर्ध्वगमन माननेपर भी क्या मण्डलीको मोक्षस्थानकी
न्ता न हुई होगी? किन्तु जब उसके तार्किक मस्तिष्कमें यह तर्क
पन्न हुआ होगा कि मुक्त जीव ऊपरको जाकरके भी एक निश्चित
ानपर ही क्यो रुक जाता है, आगे क्यो नही जाता? तो सम्भवत
से इसका कोई समुचित उत्तर न सूझा होगा और फलत उसने सदा
र्ध्वगमन मान लिया होगा। किन्तु जैनधर्ममें गति और स्थितिमें सहा-
क धर्म और अधर्म नामके द्रव्योको स्वीकार करके इस शकाका ही
ोच्छेद कर दिया गया। यह दोनो द्रव्य समस्त लोकमे व्याप्त है
ौर लोकके ऊपर उसके अग्र भागमे ही मोक्षस्थान है। गतिमे
हायक धर्मद्रव्य वही तक व्याप्त है, आगे नही। अत मुक्त जीव
हीपर रुक जाता है, आगे नही जाता।

मुक्त अवस्थामें बिना शरीरके केवल शुद्ध आत्मा मात्र रहता है,
पका आकार उसी शरीरके समान होता है जिससे आत्माने मुक्तिलाभ
या है। जैसे धूपमे खड़े होनेपर शरीरकी छाया पड़ जाती है
े ही शरीराकार आत्मा मुक्तावस्थामें होता है जो अमूर्त होनेके
रण दिखायी नही देता। मुक्त हो जानेके बाद यह आत्मा जीना,
रना, बुढ़ापा, रोग, शोक, दु ख, भय वगैरहसे रहित हो जाता है,
ोकि ये चीजें शरीरके साथ सम्बन्ध रखती है और शरीर वहाँ होता
ही है। तथा मुक्तपना आत्माकी शुद्ध अवस्थाका ही नामान्तर है,
ा जबतक आत्मा शुद्ध है तबतक वहाँसे च्युत नही हो सकता। और
ा अशुद्ध होनेका कोई कारण वहाँ मौजूद नही रहता अत वहाँसे
भी नही लौटता, सदा निराकुलतारूप आत्मसुखमें मग्न रहता है।

१०—क्या जैनधर्म नास्तिक है?

जो धर्म ईश्वरको सृष्टिका कर्ता और वेदोको ही प्रमाण मानते
वे जैनधर्मकी गणना नास्तिक धर्मोंमे करते है, क्योकि जैनधर्म न

तो ईश्वरको सृष्टिका कर्ता मानता है और न वेदोके प्रामाण्यको ह स्वीकार करता है। किन्तु 'जो ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नही मानत और न वेदोको प्रमाण मानता है वह नास्तिक है' नास्तिक शब्दका यह अर्थ किसी भी विचारशील शास्त्रज्ञने नही किया। बल्कि जो परलोक नही मानता, पुण्य पाप नही मानता, नरक स्वर्ग नही मानता परमात्माको नही मानता वह नास्तिक है यही अर्थ नास्तिक शब्दका पाया जाता है। इस अर्थकी दृष्टिसे जैनधर्म घोर आस्तिक ही ठहरत है, क्योकि वह परलोक मानता है, आत्माको स्वतन्त्र द्रव्य मानत है, पुण्य पाप और नरक स्वर्ग मानता है, तथा प्रत्येक आत्मामें पर मात्मा होनेकी शक्ति मानता है। इन सब बातोका विवेचन पहले किया गया है। इन सब मान्यताओके होते हुए जैनधर्मको नास्ति नही कहा जा सकता। जो वैदिक धर्मवाले जैनधर्मको नास्तिक कहते है वे वैदिक धर्मको न माननेके कारण ही ऐसा कहते हैं। किन्तु ऐसी स्थितिमें तो सभी धर्म परस्परमे एक दूसरेकी दृष्टिसे नास्तिक ठहरेंगे। अत शास्त्रीय दृष्टिसे जैनधर्म परम आस्तिक ठहरता है।

---

४. जैन साहित्य

जैन साहित्य बड़ा विशाल है, भारतीय साहित्यमें उसका एक शिष्ट स्थान है। लोकोपकारी, अनेक जैनाचार्योंने अपने जीवनका ुभाग उसकी रचनामे व्यतीत किया है। जैनधर्ममे बड़े-बड़े प्रकाण्ड नाचार्य हो गये हैं जो प्रबल तार्किक, वैयाकरण, कवि और र्शनिक थे। उन्होने जैनधर्मके साथ-साथ भारतीय साहित्यके इतर त्रोमें भी अपनी लेखनीके जौहर दिखलाये है। दर्शन, न्याय, व्याकरण, ाव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मन्त्र-तन्त्र, वास्तु, वैद्यक आदि अनेक षयोपर प्रचुर जैनसाहित्य आज उपलब्ध है और बहुत-सा धार्मिक ष, लापरवाही तथा अज्ञानताके कारण नष्ट हो चुका।

भारतकी अनेक भाषाओंमे जैन साहित्य लिखा हुआ है, जिनमें ाकृत संस्कृत और द्रवेडियन भाषाओंका नाम उल्लेखनीय है। जैनधर्म- प्रारम्भसे ही अपने प्रचारके लिए लोक भाषाओको अपनाया अत पने अपने समयकी लोकभाषामे भी जैन साहित्य की रचनाएँ पायी ाती हैं। इसीसे जर्मन विद्वान् डाक्टर विंटरनीट्ज ने अपने भारतीय ाहित्यके इतिहासमे लिखा[1] है—'भारतीय भाषाओके इतिहासकी ष्टिसे भी जैन साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जैन सदा इस ातकी विशेष परवाह रखते थे कि उनका साहित्य अधिकसे अधिक नताके परिचयमें आये। इसीसे आगमिक साहित्य तथा प्राचीनतम ीकाएँ प्राकृतमे लिखी गयी। श्वेताम्बरोने ८वीं शती से और दिगम्बरो ो उससे कुछ पहले संस्कृतमें रचनाएँ करना आरम्भ किया। बादको १०वी से १२वीं शती तक अपभ्रंश भाषामे, जो उस समयकी जन भाषा थी, रचनाएँ की गयी। और आजकलके जैन बहुत सी आधुनिक भारतीय

1. 'A History of Indian Literature' Vol II, P. 427-428.

भाषाओंका उपयोग करते हैं तथा उन्होने हिन्दी और गुजराती साहि
को तथा दक्षिणमें तमिल और कन्नड साहित्यको विशेषरूपसे समृ
किया है।'

आज जो जैन साहित्य उपलब्ध है वह सब भगवान् महावीरके
उपदेश परम्परासे सम्बद्ध है। भगवान महावीरके प्रधान गणधर
गौतम इन्द्रभूति थे। उन्होने भगवान महावीरके उपदेशोको अवधारण
करके बारह अग और चौदह पूर्वके रूपमे निबद्ध किया। जो इन अगो
और पूर्वोका पारगामी होता था उसे श्रुतकेवली कहा जाता था। जैन
परम्परामे ज्ञानियोंमे दो ही पद सबसे महान गिने जाते है—प्रत्यक्ष
ज्ञानियोमें केवलज्ञानीका और परोक्ष ज्ञानियोमे श्रुतकेवलीका।
जसे केवलज्ञानी समस्त चराचर जगतको प्रत्यक्ष जानते और देखते
है वैसे ही श्रुतकेवली शास्त्रमे वर्णित प्रत्येक विषयको स्पष्ट जानते है।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् तीन केवलज्ञानी हुए
और उनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमेसे अन्तिम श्रुतकेवली
भद्रबाहु थे। इनके समयमें मगधमे बारह वर्षका भयकर दुर्भिक्ष पडा
तब ये अपने सघके साथ दक्षिणकी ओर चले गये और फिर लौटकर
नही आये। अत दुर्भिक्षके पश्चात् पाटलीपुत्रमे भद्रबाहु स्वामीकी
अनुपस्थितिमे जो अग साहित्य सकलित किया गया वह एक पक्षका
कहलाया, दूसरे पक्षने उसे स्वीकार नही किया, क्योकि दुर्भिक्षके समय
जो साधु मगधमे ही रह गये थे, सामयिक कठिनाइयोके कारण
अपने आचारमे शिथिल हो गये थे। यहीसे जैनसघ दिगम्बर और श्वेताम्बर
म्बर सम्प्रदायमे बँट गया और उसका साहित्य भी जुदा जुदा हो गया।

दिगम्बर साहित्य

श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् कोई श्रुतकेवली नही हुआ। चौदह
पूर्वोंमेसे ४ पूर्व उनके साथ ही लुप्त हो गये। उनके पश्चात् ग्यारह
आचार्य ग्यारह अंग और दस पूर्वोके ज्ञाता हुए। फिर पाँच आचार्य
ग्यारह अगके ज्ञाता हुए। पूर्वोका ज्ञान एक तरहसे नष्ट ही हो गया।

टूटपुट ज्ञान बाकी रह गया। फिर चार आचार्य केवल प्रथम आचारांगके ही ज्ञाता हुए और अंग ज्ञान भी नष्ट भ्रष्ट हो गया। इस तरह काल-क्रमसे विच्छिन्न होते होते वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वोंके बचे खुचे ज्ञानके भी लुप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हुआ तब गिरिनार पर्वतपर स्थित आचार्य धरसेनने भूतवलि और पुष्पदन्त नामके दो सर्वोत्तम साधुओंको अपना शिष्य बनाकर उन्हें श्रुताभ्यास कराया। इन दोनोंने श्रुतका अभ्यास करके पट्खण्डागम नामके सूत्र ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें की। इसी समयके लगभग गुणधर नामके आचार्य हुए। उन्होंने २३३ गाथाओंमें कसायपाहुड या कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना की। यह कषायप्राभृत आचार्य परम्परासे आर्यमक्षु और नागहस्ति नामके आचार्योंको प्राप्त हुआ। उनसे सीखकर यतिवृषभ नामक आचार्यने उनपर वृत्तिसूत्र रचे, जो प्राकृतमें है और ६००० श्लोक प्रमाण है। इन दोनों महान् ग्रन्थोंपर अनेक आचार्योंने अनेक टीकाएँ रची जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए। ये बड़े समर्थ विद्वान् थे। इन्होंने षट्खण्डागमपर अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवला शक स० ७३८ में पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है। दूसरे महान् ग्रन्थ कसाय-पाहुडपर भी इन्होंने टीका लिखी। किन्तु वे उसे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हो गये। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर शक स० ७५९ में उसे पूरा किया। इस टीकाका नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है। इन दोनों टीकाओंकी रचना संस्कृत और प्राकृतके सम्मिश्रणसे की गयी है। बहुभाग प्राकृतमें है। बीच बीचमें संस्कृत भी आ जाती है, जैसा कि टीकाकारने उसकी प्रशस्तिमें लिखा है—

"प्रायःप्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः॥"

षट्खण्डागमका ही अन्तिम खण्ड महाबंध है जिसकी रचना भूतबलि आचार्यने की थी। यह भी प्राकृतमे है और इसका प्रमाण ४१ हजार है। इन सभी ग्रन्थोमे जैन कर्मसिद्धान्तका बहुत सूक्ष्म और गहन वर्णन है।

चिरकालसे ये तीनों महान् ग्रन्थ मूडबिद्री (दक्षिण कनारा) के जैन भण्डारमें ताडपत्रपर सुरक्षित थे। वहाँके भट्टारक महोदय तथा पंचोकी उदात्त भावनाके फलस्वरूप अब इन तीनोका प्रकाशन हिन्दी टीकाके साथ हो रहा है।

ईसाकी दसवी शताब्दीमे दक्षिणमें नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती नामके एक जैनाचार्य हुए। वे उक्त तीनो आगम ग्रन्थोके महान् विद्वान् थे। उन्होने उनसे सकलन करके गोमट्टसार तथा लब्धिसार क्षपणासार नामक दो सग्रह ग्रन्थ रचे, जो प्राकृत गाथाबद्ध महान् ग्रन्थ है। उनमें भी जीव, कर्म और कर्मोके क्षपण यानी विनाशका सुन्दर किन्तु गहन वर्णन है। दोनो ग्रन्थोपर संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध है और जयपुरके स्व० प० टोडरमलजीकी जयपुरी भाषामे रची हुई भाषाटीका भी उपलब्ध है। इन टीकाओके साथ यह महान् ग्रन्थ कई खण्डोमे कलकत्तासे प्रकाशित हो चुका है।

ईसाकी प्रथम शताब्दीमे कुन्दकुन्द नामके एक महान् आचार्य हो गये है। इनके तीन ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय अति प्रसिद्ध है जो कुन्दकुन्दत्रयीके नामसे भी ख्यात है। तीनो प्राकृतमे है। समयसारमें विविध दृष्टियोसे आत्मतत्त्वका सुन्दर विवेचन है, जैन अध्यात्मका यह अपूर्व ग्रन्थ है। नवी शतीके अध्यात्म आचार्य अमृतचन्द्र सूरीने इस ग्रन्थपर संस्कृत पद्योमे कलशकी रचना की है जो बडी हृदयहारिणी है। सतरहवी शताब्दीके कविवर बनारसीदासने इन कलशोका हिन्दीमे अत्यन्त रोचक पद्यानुवाद किया है।

प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायमें जैनाभिमत तत्त्वोका पूर्ण विवेचन है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने बहुतसे प्राभृतोंकी

चना की थी, किन्तु उनमेंसे आज केवल आठ प्राभृत उपलब्ध है। मिल भाषाके तिकुरुल काव्यके रचयिता भी इन्हीको कहा जाता है। नके शिष्य उमास्वामि या उमास्वाति नामके जैनाचार्य थे, जिन्होंने र्वप्रथम जैनवाङ्मयको संस्कृतसूत्रोंमें निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नामके सूत्रग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थके दस अध्यायोंमे जीव आदि सात तत्त्वोंका सुन्दर विवेचन किया गया है। अपने अपने धर्मोंमे गीता, कुरान और बाइबिलको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनधर्ममे इस ग्रन्थको प्राप्त है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाय इसे मानते है। दोनो ही परम्पराओंके आचार्योंने उसके ऊपर अनेक टीकाएँ रची है, जिनमे अकलकदेवका तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक उल्लेखनीय है। दोनो ही वार्तिकग्रन्थ संस्कृतमे बडी ही प्रौढ शैलीमे रचे गये है और जैनदर्शनके अपूर्व ग्रन्थ है।

दर्शन और न्यायशास्त्रमे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन की रचनाएँ उल्लेखनीय है। स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमासा नामका एक प्रकरण ग्रन्थ रचा है, जिसमें स्याद्वादका सुन्दर विवेचन करते हुए इतर दर्शनोकी विचारपूर्ण आलोचना की गयी है। इस आप्तमीमासापर स्वामी अकलकदेवने 'अष्टशती' नामका प्रकरण रचा है और अष्टशती-पर स्वामी विद्यानन्दिने अष्टसहस्री नामकी टीका रची है। यह अष्टसहस्री इतनी गहन है कि इसको समझनेमे कष्टसहस्रीका अनुभव होता है। इन्ही विद्यानन्दिकी आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा भी भाषा, विषय और विवेचनकी दृष्टिसे द्रष्टव्य है।

अकलकदेवको जैनन्यायका सर्जक कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही है। इन्होने टीका ग्रन्थोके सिवा सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रकरणग्रन्थ रचे है जो बहुत ही प्रौढ और गहन है। इन प्रकरणोपर आचार्य अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र नामके प्रकाण्ड जैन नैयायिकोने विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ रचे हैं जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। माणिक्यनन्दि आचार्यका परीक्षामुख

नामक सूत्रग्रन्थ जैनन्यायके अभ्यासियोंके लिए बडे ही कामका है। इसपर आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामका महान् व्याख्या ग्रन्थ रचा है। उसे अति संक्षिप्त करके अनन्तवीर्य-नामके आचार्यने प्रमेयरत्नमाला नामकी टीका बनायी है। पात्रकेसरीका त्रिलक्षण-कदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय आदि कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जो आज अनुपलब्ध है, केवल अन्य ग्रन्थोमे उनका उल्लेख मिलता है।

पुराण साहित्यमें हरिवंशपुराण, महापुराण, पद्मचरित आदि ग्रन्थोका नाम उल्लेखनीय है। जैन पुराणोंका मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ शलाका पुरुषोंके चरित्र है। इनमे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती ९ बलदेव, ९वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव है। जिनमे पुराण पुरुषोंका पुण्यचरित वर्णन किया गया हो उसे पुराण कहते है। हरिवंशपुराणमे कौरव और पाण्डवोंका वर्णन है और पद्मचरितमें श्रीरामचन्द्रका वर्णन है। इस तरहसे ये दोनो ग्रन्थ क्रमश जैन महाभारत और जैन रामायण कहे जा सकते है। इनके सिवा चरितग्रन्थोंका तो जैन साहित्यमे भण्डार भरा है। सकलकीर्ति आदि आचार्योंने अनेक चरित ग्रन्थ रचे है। आचार्य जटासिंह नन्दिका वरांगचरित एक सुन्दर पौराणिक काव्य है। काव्यसाहित्य भी कम नही है। वीरनन्दिका, चन्द्रप्रभचरित, हरिचन्द्र-का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजयका द्विसन्धान और वाग्भट्टका नेमिनिर्वाण काव्य उच्चकोटिके संस्कृत महाकाव्य है।

अपभ्रंश भाषामे तो इन पुराण और चरितग्रन्थोंका संस्कृतकी अपेक्षा बाहुल्य है। अपभ्रंश भाषामें जैनकवियोंने खूब रचनाएँ की है। इस भाषाका साहित्य जैन भण्डारोंमे भरा पडा है। अपभ्रंश बहुत समयतक यहाँकी लोक भाषा रही है और इसका साहित्य भी बहुत ही लोकप्रिय रहा है। पिछले कुछ दशकोंसे इस भाषाकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हुआ है, अब तो वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं की जननी होनेके कारण भाषाशास्त्रियों और विभिन्न भाषाओंका इतिहास लिखनेवालोंके लिए इसके साहित्यका अध्ययन आवश्यक

हो गया है। पुष्पदन्त इस भाषाके महान् कवि थे। इनका 'त्रिषष्टि महापुरुष गुणालकार' एक महान् ग्रन्थ है। पुष्पदन्तने महाकवि स्वयभुका स्मरण किया है। स्वयभु, पुष्पदन्त, कनकामर, रइधू आदि अनेक कवियोने अपभ्रंश भाषाके साहित्यको समृद्ध बनानेमें कुछ उठा नही रखा।

कथा साहित्य भी विशाल है। आचार्य हरिषेणका कथाकोश बहुत प्राचीन (ई० स० ९३२) है। आराधना कथाकोश, पुण्याश्रव कथाकोश आदि अन्य भी बहुतसे कथाकोश है जिनमे कथाओके द्वारा धर्माचरणका शुभ फल और अधर्माचरणका अशुभ फल दिखलाया गया है। चम्पू काव्य भी जैन-साहित्यमे बहुत हैं। सोमदेवका यशस्तिलक चम्पू, हरिचन्द्रका जीवन्धर चम्पू और अर्हद्दासका पुरुदेवचम्पू उत्कृष्ट चम्पू काव्य है। गद्यग्रन्थोमे वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणि उल्लेखनीय है। नाटकोमे हस्तिमल्लके विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अजना पवनजय आदि दर्शनीय है। स्तोत्र साहित्य भी कम नही है, महाकवि धनजयका विषापहार, कुमुदचन्द्रका कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र साहित्यकी दृष्टिसे भी उत्कृष्ट है। स्वामी समन्तभद्रके स्वयभू स्तोत्रमे तो जैनदर्शनके उच्चकोटिके सिद्धान्तोको कूट-कूट कर भर दिया गया है। वह एक दार्शनिक स्तवन है। नीति ग्रन्थोकी भी कमी नही है। वादीभसिंहका क्षत्रचूडामणि काव्य एक नीतिपूर्ण काव्य ग्रन्थ है। आचार्य अमितगतिका सुभाषितरत्नसदोह, पद्मनन्दि आचार्यकी पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका और महाराज अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तररत्नमाला भी सुन्दर नीतिग्रन्थ है।

इसके सिवा ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयोपर भी जैनाचार्योकी अनेक रचनाएं आज उपलब्ध हैं। ज्योतिष और आयुर्वेद विषयक साहित्य अभी प्रकाशमें कम आया है। व्याकरणमे पूज्यपाद देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण और शाकटायनका शाकटायन व्याकरण उल्लेखनीय है।

कोषमें धनंजय नाममाला और विश्वलोचन कोश, अलकारमें अलकार चिन्तामणि, गणितमे महावीर गणितसार सग्रह और राजनीतिमे सोमदेवका नीतिवाक्यामृत आदि स्मरणीय है।

यह तो हुआ सस्कृत और प्राकृत साहित्यका विहगावलोकन।

द्रवेडियन भाषाओमे भी जैनाचार्योने खूब रचनाएँ की है। उन्हीके कारण एक तरहसे उन भाषाओको महत्त्व मिला है। कनडी भाषामे रचना करनेवाले अति प्राचीन कवि जैन थे। कन्नड साहित्यको उन्नत, प्रौढ और परिपूर्ण बनानेका श्रेय जैनाचार्यो और जैन कवियोको ही प्राप्त है। तेरहवी शताब्दी तक कन्नड़ भाषाके जितने प्रौढ ग्रन्थकार हुए वे सब जैन ही थे। 'पप भारत' सदृश महाप्रबन्ध और 'शब्दमणि-दर्पण' सदृश शास्त्रीय ग्रन्थोको देखकर जैन कवियोके प्रति किसे आदर वुद्धि उत्पन्न नही होती। कर्नाटक गद्य ग्रन्थोमे प्राचीन 'चामुण्डराय-पुराण' के लेखक वीरमार्तण्ड चामुण्डराय जैन ही थे। आदि पप, कविचक्रवर्ती रन्न, अभिनव पप, कत्तिदेवी आदि कवि जैन ही थे।

'कर्नाटक कवि चरिते' के मूल लेखक आर० नरसिहाचार्यने जैन-कवियोके सम्बन्धमे अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा है—"जैनी कन्नड़ भाषा के आदि कवि है। आज तक उपलब्ध सभी प्राचीन और उत्तम कृतियाँ जैन कवियोकी ही है। विशेषतया प्राचीन जैन कवियो के कारण ही कन्नड भाषाका सौन्दर्य एव कान्ति है। पप, रन्न और पोन्नको कवियोमे रत्न मानना उचित है। अन्य कवियोने भी १४वी शताब्दीके अन्त तक सर्वश्लाघ्य चम्पूकाव्योकी रचना की है। कन्नड भाषाके सहायक छन्द, अलकार, व्याकरण, कोष आदि ग्रन्थ अधिकतया जैनियोके द्वारा ही रचित है।"

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि दक्षिण और कर्नाटकका जितना जैन साहित्य है वह सब ही दिगम्बर जैन सम्प्रदायके विद्वानोंकी रचना है। तथा दिगम्बर सम्प्रदायके जितने प्रधान-प्रधान आचार्य है वे प्राय सब ही कर्नाटक देशके निवासी थे और वे न केवल

संस्कृत और प्राकृतके ही ग्रन्थकर्ता थे, किन्तु कनडीके भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे।

तमिल भाषाका साहित्य भी प्रारम्भ कालसे ही जैनधर्म और जैनसंस्कृतिसे प्रभावित है। 'कुरल' और 'नालदियार' नामके दो महान् ग्रन्थ उन जैनाचार्योंकी कृति है जो तमिलदेशमें बस गये थे। इन ग्रन्थोंके अवतरण उत्तरवर्ती साहित्यमें बहुतायतसे पाये जाते हैं। तमिलका नीतिविषयक साहित्य काव्यसाहित्यकी अपेक्षा प्राचीन है और उसपर जैनाचार्योंका विशेष प्रभाव है। 'पलमोलि' के रचयिता भी जैन थे। इसमें बहुमूल्य पुरातन सूक्तियाँ हैं। कुरल और नालदियारके बाद इसका तीसरा नम्बर है। 'तिनै मालै नू रैम्वतु' के लेखक भी जैन थे। यह ग्रन्थ शृंगार तथा युद्धके सिद्धान्तोंका वर्णन करता है। पश्चात्-वर्ती टीकाकारोंके द्वारा इस ग्रन्थके अवतरण खूब लिये गये हैं। इसी समुदायका एक ग्रन्थ 'नान् मणिक्कडिगै' है जो वेणवा छन्दमें है।

तमिल भाषाके पाँच महाकाव्योंमें से चिंतामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति जैनलेखकोंकी कृति है। सिलप्पडिकारम् अत्यन्त महत्वपूर्ण तमिल ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ साहित्यिक रीतियोंके विषयमें प्रमाणभूत गिना जाता है। इसके तीन महाखंड हैं और कुल अध्याय तीस हैं।

पाँच लघु काव्य हैं—यशोधरकाव्य, चूडामणि, उदयन कथै, नागकुमार काव्य और नीलकेशी। इन पाँचों काव्योंके कर्ता जैन आचार्य थे। जैन लेखकोंने तमिल भाषाका व्याकरण भी रचा है। 'नन्नोल' तमिल भाषाका बहु प्रचलित व्याकरण है। यह स्कूलों और कालिजोंमें पढाया जाता है। निघण्टु ग्रन्थोंमें दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और गुणमणि निघण्टुका नाम उल्लेखनीय है। जैनोंने गणित और ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं। इस तरह तमिल भाषा जैन-साहित्यसे भरपूर है।

गुजराती भाषामें भी दि० जैनकवियोंने अनेक रचनाएँ की हैं, जिनका विवरण 'जैनगुर्जर कविओ' से प्राप्त होता है।

दिगम्बर साहित्यमे हिन्दी ग्रन्थकी सख्या भी बहुत है। इधर ३०० वर्षो मे अधिकाश ग्रन्थ हिन्दीमे ही रचे गये है। जैन श्रावकके लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना आवश्यक है। अत. जन-साधारणकी भाषामे जिनवाणीको निवद्ध करनेकी चेष्टा प्रारम्भसे ही होती आयी है। इसीसे हिन्दी जैन साहित्यमे गद्यग्रन्थ बहुतायतसे पाये जाते है। लगभग सोलहवी शताब्दीसे लेकर हिन्दी गद्य ग्रन्थ जैन साहित्यमे उपलब्ध है और इसलिए हिन्दी भाषाके क्रमिक विकासका अध्ययन करनेवालोके लिए वे बडे कामके है। सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमे ऊपर गिनाये गये (तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, समयसार, षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत) आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी हिन्दी टीकाएँ मौजूद है। न्याय ग्रन्थोमे भी परीक्षामुख, आप्तमीमासा, प्रमेयरत्नमाला, न्यायदीपिका और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान् ग्रन्थोकी हिन्दी टीकाएँ उपलब्ध है। इन टीका ग्रन्थोका अध्ययन केवल हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तोमे ही प्रचलित नही है किन्तु गुजरात, महाराष्ट्र और सुदूर दक्षिण प्रान्तके जैनी भी उनसे लाभ उठाते है। इस तरह जैनधर्मका साहित्य हिन्दी भाषाके प्रचारमें भी सहायक रहा है। प्राय सभी पुराण ग्रन्थो और अनेक कथाग्रन्थोंका अनुवाद हिन्दी भाषामें हो चुका है। अनुवादका यह कार्य सर्वप्रथम जयपुरके विद्वानोके द्वारा ढुढारी भाषामे प्रारम्भ किया गया था। आज भी उनके अनुवाद उसी रूपमे पाये जाते है।

यह तो हुई अनुवादित साहित्यकी चर्चा। स्वतंत्ररूपसे भी हिन्दी गद्य और हिन्दी पद्य दोनोमे जैनसिद्धान्तको निवद्ध किया गया है। गद्य-साहित्यमे प० टोडरमलजीका मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ और पद्य-साहित्यमे प० दौलतरामजीका छहढाला जैनसिद्धान्तके अमूल्य रत्न है। प० टोडरमलजी, प० दौलतराम, प० सदासुख, पं० बुधजन, प० द्यानतराय, भैया भगवतीदास, पं० जयचन्द आदि अनेक विद्वानोने अपने समयकी हिन्दी भाषामे गद्य अथवा पद्य अथवा दोनोंमे अपनी

रचनाएँ की हैं। वीनती, पूजापाठ, धार्मिक भजन, आदि भी पर्या पद्य साहित्यमें भी अनेक पुराण और चरित रचे गये हैं।

हिन्दी जैन साहित्यकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उस शान्तरसकी सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृ और प्राकृतके जैन ग्रन्थकारोंके समान हिन्दी जैन ग्रन्थकारोंका भी ए ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयोंके फन्दे निकलकर अपनेको पहचाने और अपने उत्थानका प्रयत्न करे। इ लक्ष्यको सामने रखकर सबने अपनी अपनी रचनाएँ की हैं। हि जैन साहित्यमें ही नहीं, अपि तु हिन्दी साहित्यमें कविवर बनारसीदा जीकी आत्मकथा तो एक अपूर्व ही वस्तु है। उनका नाटक सम सार भी अध्यात्मका एक अपूर्व ग्रन्थ है।

श्वेताम्बर-साहित्य

पाटलीपुत्रमें जो अंग संकलित किये गये थे, कालक्रमसे वे अव्यवस्थित हो गये तब महावीर निर्वाणकी छठी शताब्दीमें आ स्कन्दिलकी अध्यक्षतामें मथुरामें फिर एक सभा हुई और उसमें फि शेष बचे अंग साहित्यको सुव्यवस्थित किया गया। इसे माथुरी वाच कहते हैं। इसके बाद महावीर निर्वाणकी दसवीं शतीमें वल्लभी नग (काठियावाड) में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणके सभापतित्वमें फिर ए सभा हुई। इसमें फिरसे ग्यारह अंगोंका संकलन हुआ। बारहवाँ अ जो पहले ही लुप्त हो चुका था। अबतक स्मृतिके आधारपर ही अ साहित्यका पठन-पाठन चलता था, किन्तु अब वीर नि० सं० ९ (ई० स० ४५३) के लगभग उन्हें पुस्तकारूढ किया गया। विद्यम जैन आगमोंकी व्यवस्था अपने सम्पादक देवर्द्धिगणिकी मुख्यत आभारी है। उन्होंने इन्हें अध्यायोंमें विभक्त किया। जो भाग त्रुटि हो गये थे उन्हें अपनी बुद्धिके अनुसार सम्बद्ध[1] किया। डा० जेकोबि

१ समयसुन्दरगणिने अपने सामाचारी शतकमें लिखा है—
"श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीरात् अशीत्यधिक नवशत-(९८ ... जाते द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधु व्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ

कथनानुसार देवर्द्धिगणिके पश्चात् भी जैन आगमोंमें वहुत फेरफार हुआ है।

श्वेताम्वर सम्प्रदायका सम्पूर्ण जैनागम छह भागोंमें विभक्त है, १ ग्यारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र। २ वारह उपांग—औपपातिक, राजप्रश्न, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावली, कल्पावतस, पुष्पिक, पुष्पचूलिक और वह्निदशा। ३ दस प्रकीर्णक—चतु:शरण, आतुर प्रत्याख्यान, भक्त, सस्तार, तन्दुलवचारिक, चन्द्रवेधक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव। ४ छह छेदसूत्र—निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, पञ्चकल्प। ५ दो सूत्र—नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार। ६ चार मूलसूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति। ये पैंतालीस ग्रन्थ आगम कहे जाते है। इनकी भाषा आर्षप्राकृत कहलाती है। इनमे आचार, व्रत, जैनतत्त्व, ज्योतिष, भूगोल आदि विविध विषयोंका वर्णन है। दिगम्वर सम्प्रदायके

जातायां . भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलय्य पुस्तकारूढा: कृता। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सकलनानन्तर सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणक्षमाश्रमण एव जात.।"

'अर्थात्—श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने वीर नि० स० ९८० नें वारह वर्षके दुर्भिक्षके कारण वहुतसे साधुओंके मर जानेसे वहुतसे श्रुतके नष्ट हो जानेपर, भव्यजीवोंके उपकारके लिए शास्त्रकी भक्तिसे प्रेरित होकर, सघके आग्रहसे वाकी वचे सव साधुओको वलभी नगरीमें वुलाकर, उनके मुखसे वाकी वचे, कमती, वढती, त्रुटित, अत्रुटित आगमके वाक्योका अपनी वुद्धिके अनुसार सकलन करके उन्हें पुस्तकमें लिखवाया। इसलिए मूलमें गणधर प्रतिपादित होनेपर भी सकलन करनेके कारण सभी आगमोंके कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण कहलाये।'

ाहित्यमें अंग और अंगबाह्य ग्रन्थोके नामों तथा उनमे वर्णित विषयोका उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमे उपांग आदि भेद नही है। श्वेताम्बर म्प्रदायमे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिको उपाग माना है कन्तु दिगम्बर साहित्यमें इनकी गणना दृष्टिवादके एक भेद परिकर्ममे ी है। इसी तरह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और ाशीथ नामके ग्रन्थोंको अंगबाह्य बतलाया है। दिगम्बर सम्प्रदायमें गोंके अतिरिक्त जो भी साहित्य है वह सब अंगबाह्य माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परामें देवर्द्धिगणिके पश्चात् जिनभद्रगणि क्षमा-मण नामके एक विशिष्ट आचार्य हुए। इनका विशेषावश्यक भाष्य क उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें तर्कपूर्ण शैलीसे ज्ञानकी सुन्दर चर्चा ी गयी है। जिस तत्त्वार्थसूत्रका उल्लेख हम दिगम्बर साहित्यमें र आये है, उसपर एक भाष्य भी है, जिसे कुछ विद्वान् स्वोपज्ञ मानते । इसपर आचार्य सिद्धसेनगणिका तत्त्वार्थ भाष्य एक विस्तृत टीका । आगमिक साहित्यके ऊपर भी अनेक टीकाएँ उपलब्ध है। नवाग त्तिकार श्रीअभयदेवसूरिने नौ आगमोपर संस्कृत भाषामे सुन्दर काएँ रची हैं। इस दृष्टिसे मल्लधारी हेमचन्द्रका नाम भी ल्लेखनीय है, इन्होंने भी आगमिक साहित्यपर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ रची है। विशेषावाश्यक भाष्यपर रची इनकी टीका बहुत ही सुन्दर है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कर्मविषयक साहित्य भी पर्याप्त है जिसमें र्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन और नवीन कर्मग्रन्थ उल्लेखनीय है। ३वी शतीमें श्रीदेवेन्द्रसूरिने नवीन कर्मग्रन्थोकी रचना स्वोपज्ञ टीकाके ाथ की थी। इनकी टीकाओंमें कर्मसाहित्यकी विपुल सामग्री संकलित । न्यायविषयक साहित्यमें सिद्धसेन दिवाकरका न्यायावतार जैन-ायका आद्य ग्रन्थ माना जाता है। इनका 'सन्मति तर्क प्रकरण' भी ुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसमे आगमिक मान्यताओंको भी तर्ककी सौटीपर कसनेका प्रयत्न किया गया है। इस प्रकरण ग्रन्थपर अभय-वसूरिकी महत्त्वपूर्ण टीका है। इस सम्प्रदायमें हरिभद्रसूरि नामके

एक प्रख्यात विद्वान् हो गये है। किंवदन्ती है कि इन्होंने १४०० प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। इनके उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमे अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्त जयपताका तथा शास्त्रवार्ता समुच्चयका नाम उल्लेखनीय है। तत्त्वार्थसूत्रपर भी इन्होने एक टीका लिखी है। वादिदेव सूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार तथा उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति स्याद्वादरत्नाकर व आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासा और मल्लिषेणसूरिकी स्याद्वादमंजरी भी न्यायशास्त्रके सुन्दर ग्रन्थरत्न है। सतरहवी शतीमे आचार्य यशोविजय भी एक कुशल नैयायिक हुए है, इन्होने विद्यानन्दिकी अष्टसहस्रीपर एक टिप्पण रचा है तथा नयोपदेश, नयामृततरगिणी, तर्कपरिभाषा आदि अनेक ग्रन्थ रचे है। जैनधर्मके दार्शनिक सिद्धान्तोपर इन्होने नये दृष्टिकोणसे विचार किया है तथा नव्यन्यायकी शैलीमे भी ग्रन्थ रचे है।

पुराण साहित्यमे विमलसूरिका पउमचरिय (पद्मचरित) एक प्राकृत काव्य है। यह प्राचीन समझा जाता है। इसमे रामचन्द्रकी कथा है। 'वसुदेव हिण्डी' भी प्राकृत भाषाका पुराण है इसमे महाभारत की कथा है। यह भी प्राचीन है। आचार्य हेमचन्द्रका त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित भी उल्लेखनीय है। अन्य भी अनेक ग्रन्थ है।

काव्योंमें हेमचन्द्रका द्वयाश्रय महाकाव्य, अभयदेवका जयन्तविजय, मुनिचन्द्रका शान्तिनाथचरित अच्छे काव्य समझे जाते है। गद्य काव्यमे धनपाल कविकी तिलकमंजरी एक सुन्दर आख्यायिका ग्रन्थ है। नाटकोमे रामचन्द्र सूरिका नल-विलास, सत्यहरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, निर्भयव्यायोग आदिका नाम उल्लेखनीय है। जयसिंहका हम्मीरमदमर्दन एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमे चौलुक्यराज वीरधवलके द्वारा हम्मीर नामके यवन राजाको भगानेका वर्णन है।

लाक्षणिक ग्रन्थोंमे आचार्य हेमचन्द्रका काव्यानुशासन द्रष्टव्य है। कथा साहित्यका तो यहाँ भण्डार भरा है। उसमें उद्योतनसूरिकी

कुवलयमाला, हरिभद्रकी समराइच्चकहा और पादलिप्तकी तरंगवती-कहा अति प्रसिद्ध है। कुवलयमाला तो प्राकृत साहित्यका एक अमूल्य रत्न है। यह प्राकृत भाषाके अभ्यासियोंके लिए बहुत उपयोगी है। इसी तरह आचार्य सिद्धर्षिकी उपमितिभवप्रपञ्चकथा भारतीय साहित्यका प्रथम रूपक ग्रन्थ माना जाता है।

व्याकरणमें आचार्य हेमचन्द्रका 'सिद्ध हेम व्याकरण' अतिप्रसिद्ध है। इसीका आठवाँ अध्याय प्राकृत व्याकरण है, जिससे अच्छा दूसरा प्राकृत व्याकरण आज उपलब्ध नहीं है। कोषोंमें भी हेमचन्द्रका अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, निघंट शेष, अभिधानराजेन्द्र तथा 'पाइअसद्दमहण्णव' अपूर्व कोष ग्रन्थ है।

प्रबन्धोंमें चन्द्रप्रभसूरिका प्रभावकचरित, मेरुतुंगका प्रबन्ध-चिन्तामणि, राजशेखरका प्रबन्धकोश तथा जिनप्रभसूरिका विविध-तीर्थंकल्प महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य भी अनेक विषयोंपर साहित्य पाया जाता है। अपभ्रंश भाषाका साहित्य भी पर्याप्त है, जिसमें धनपाल-की 'भविसयत्त कहा' अतिप्रसिद्ध है। स्तोत्र साहित्य भी विपुल है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायका अधिकतर आवास गुजरात प्रान्तमें है। अत. गुजराती भाषामें भी काफी साहित्य मिलता है, जिसका परिचय 'जैन गुर्जर कविओ' नामक ग्रन्थमें विस्तार के साथ दिया है।

विदेशी भाषाओमें भी जैन साहित्य पाया जाने लगा है। जर्मन विद्वान् स्व० हर्मन याकोबीने कई ग्रन्थोंका सम्पादन किया था। उनमें उनकी कल्पसूत्रकी प्रस्तावना तथा 'Sacred Books of East' नामकी ग्रन्थमालामें प्रकाशित जैनसूत्रोंकी प्रस्तावना पढने योग्य है। जर्मन विद्वान् प्रो० ग्लेजनपका 'जैनिज्म' भी अच्छा ग्रन्थ है। स्व० वीरचन्द्र राघवचन्द्र गांधीने अमेरिकाके चिकागो नगरमें हुए सर्वधर्म सम्मेलनमें जो भाषण जैनधर्मके सम्बन्धमें दिये थे, वे 'कर्म फिलोसोफी' के नामसे छप चुके हैं। न्यायावतार, सम्मतितर्क वगैरह का अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। और भी अनेक ग्रन्थ हैं। दिगम्बर-

साहित्य भी अंग्रेजीमे पर्याप्त है। स्व० जे० एल० जैनी और बैरिस्टर चम्पतरायने इस दिशा मे उल्लेखनीय सेवा की है।

उपसंहार

बहुतसा जैन साहित्य अब प्रकाशमें आ रहा है और नयी शैलीसे उसका सम्पादन भी होने लगा है। प्राचीन जैन साहित्यका तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन करनेकी भी परम्परा चल पडी है जिसका श्रेय सर्वश्री नाथूराम प्रेमी, जुगल किशोर मुख्तार, पं० सुखलाल और मुनि जिनविजय आदि जैन विद्वानोंको है। इस दृष्टिसे प्रेमीजी का 'जैन साहित्य और इतिहास', मुख्तार सा० की 'पुरातन वाक्य सूची' की प्रस्तावना तथा 'समन्तभद्र' नामक पुस्तक दृष्टव्य है। षट्खण्डागम, कसायपाहुड और न्यायकुमुद चन्दकी हिन्दी प्रस्तावनाएँ भी तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे अध्ययन करनेवालोंके लिए बहुत कामकी है। जिज्ञासुओंको उनका अध्ययन करना चाहिये अन्वेषकोंके लिए जैन साहित्यमे प्रचुर सामग्री मौजूद है।

कुछ प्रसिद्ध जैनाचार्य

भगवान् महावीरके पश्चात् कितने ही प्रसिद्ध प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं जिन्होने अपने सदाचार और सद्विचारोसे न केवल जैनधर्मको अनुप्राणित किया किन्तु अपनी अमर लेखनीके द्वारा भारती वाङमयको भी समृद्ध बनाया। नीचे कुछ ऐसे प्रसिद्ध आचार्यों और ग्रन्थकारोंका परिचय संक्षेपमे कराया जाता है।

गौतम गणधर (५५७ ई० पूर्व)

यह भगवान महावीरके प्रधान गणधर (शिष्य) थे। मूल नाम इन्द्रभूति था, जातिसे ब्राह्मण थे। वेद वेदाङ्गमें पारंगत थे। जब केवलज्ञान हो जानेपर भी भगवान् महावीरकी वाणी नही खिरी तो इन्द्रको इस बातकी चिन्ता हुई। इसका कारण जानकर वह इन्द्रभूतिके पास गया और युक्तिसे उसे भगवान् महावीरके

समवसरणमे ले आया। संशय दूर होते ही इन्द्रभूतिने प्रव्रज्या ले ली और भगवान्के प्रधान गणधर हुए। भगवान्का उपदेश सुनकर अवधारण करके इन्होंने द्वादशाङ्ग श्रुतकी रचना की। जब कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रात भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ उसी समय गौतम स्वामीको केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई। उसके १२ वर्ष पश्चात् इन्हें भी निर्वाणपद प्राप्त हुआ।

भद्रबाहु (३२५ ई० पूर्व)

यह भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। इनके समयमें मगधमे १२ वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पडा। तब यह साधुओंके बहुत बडे संघके साथ दक्षिण देशको चले गये। प्रसिद्ध मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्य-भार पुत्रको सौंपकर इनके साथ ही दक्षिणको चला गया। वहाँ मैसूर प्रान्तके श्रवणबेलगोला स्थानपर भद्रबाहु स्वामी अपना अन्तिम समय जानकर ठहर गये और और शेष संघको आगे रवाना कर दिया। सेवाके लिए चन्द्रगुप्त अपने गुरुके पास ही ठहर गये। वहाँके चन्द्रगिरि पर्वतकी एक गुफामे भद्रबाहु स्वामीने देहोत्सर्ग किया। यह गुफा भद्रबाहुकी गुफा कहलाती है और इसमे उनके चरण अंकित है जो पूजे जाते हैं। भद्रबाहुके समयमे ही संघभेदका बीजारोपण हुआ अतः उनके बादसे श्वेताम्बर और दिगम्बरोंकी आचार्य परम्परा भी जुदी-जुदी हो गयी। दिगम्बर परम्पराके कुछ प्रमुख आचार्योंका नीचे परिचय दिया जाता है।

धरसेन (वि० सं० की दूसरी शती)

आचार्य धरसेन अंगो और पूर्वोके एक देशके ज्ञाता थे और सौराष्ट्र देशके गिरनार पर्वतकी गुफामें ध्यान करते थे। उन्हें इस बातकी चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा। अत उन्होने महिमानगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा। वहाँसे दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्तकी शिक्षा दी।

पुष्पदन्त और भूतबलि

ये दोनों मुनि पुष्पदन्त और भूतबली थे। आषाढ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा होते ही धरसेनाचार्यने उन्हे बिदा कर दिया। दोनो शिष्य वहाँसे चलकर अकुलेश्वरमे आये और वही चतुर्मास किया। पुष्पदन्त मुनि अकुलेश्वरसे चलकर बनवास देशमे आये। वहाँ पहुँचकर उन्होने जिनपालितको दीक्षा दी और 'बीसदि सूत्रो' की रचना करके उन्हे पढाया। फिर उन्हे भूतबलिके पास भेज दिया। भूतबलिने पुष्पदन्तको अल्पायु जानकर आगेकी ग्रन्थरचना की। इस तरह पुष्पदन्त और भूतबलिने षट्खण्डागम नामके सिद्धान्त ग्रन्थकी रचना की। फिर भूतबलिने षट्खण्डागमको लिपिबद्ध करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन उसकी पूजा की। इसीसे यह तिथि जैनोमे श्रुत पचमीके नामसे प्रसिद्ध हुई।

गुणधर (वि० सं० की २री शती)

आचार्य गुणधर भी लगभग इसी समयमे हुए। वे ज्ञान-प्रवाद नामक पाँचवे पूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कसायपाहुड़-रूपी श्रुत समुद्रके पारगामी थे। उन्होने भी श्रुतका विनाश हो जानेके भयसे कसायपाहुड नामका महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रन्थ प्राकृत गाथाओमे निबद्ध किया।

कुन्दकुन्द (वि० सं० की २री शती)

आचार्य कुन्दकुन्द जैनधर्मके महान् प्रभावक आचार्य थे। इनके विषयमे प्रसिद्ध है कि विदेह क्षेत्रमे जाकर सीमंधर स्वामीकी दिव्य-ध्वनि सुननेका सौभाग्य इन्हे प्राप्त हुआ था। इनका प्रथम नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले होनेसे बादमे वे कोण्डकुन्दा-चार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। उसीका श्रुतिमधुर रूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' बन गया। इनके प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नामके ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है जो नाटकत्रयी कहलाते है। इनके सिवा इन्होंने

अनेक प्राभृतो की रचना की है जिनमेंसे आठ प्राभृत उपलब्ध है। बोधप्राभृतके अन्तकी एक गाथामे इन्होने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोमें इनकी बडी कीर्ति बतलायी गयी है।

उमास्वामी (वि० सं० की ३री शती)

यह आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य थे। इन्होने जैन सिद्धान्तको संस्कृत सूत्रोमें निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रग्रन्थकी रचना की। इनको गृद्धपिच्छाचार्य भी कहते थे। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० नं० १०८ में लिखा है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पवित्र वंशमें उमास्वामी मुनि हुए जो सम्पूर्ण पदार्थोके जाननेवाले थे, मुनियोमे श्रेष्ठ थे। उन्होने जिनदेव प्रणीत समस्त शास्त्रोके अर्थको सूत्र रूपमे निबद्ध किया। वे प्राणियो की रक्षामें बड़े सावधान थे। एकबार उन्होंने पिछी न होने पर गृद्धके परोको पीछीके रूपमें धारण किया था, तभी से विद्वान् उनको गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे। साधारणतया दि० जैन मुनि जीव-रक्षाके लिए मयूरके पखोकी पीछी रखते है।

समन्त भद्र (वि० सं० की ३-४थी शती)

जैन समाजके प्रभावक आचार्योमें स्वामी समन्तभद्रका स्थान बहुत ऊंचा है। इन्हें जैन शासनका प्रणेता और भावि तीर्थङ्कर तक बतलाया है। अकलंकदेवने अष्टशतीमें, विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें, आचार्य जिनसेनने आदिपुराणमें, जिनसेन सूरिने हरिवंशपुराणमें, वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चय-विवरण और पार्श्वनाथचरितमें, वीरनन्दिने चन्द्रप्रभचरितमें, हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरव नाटकमें तथा अन्य अनेक ग्रन्थकारोने भी अपने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें इनको बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। मुनि जीवनमें इन्हें भस्मक व्याधि हो गयी, जो खाते थे वह तत्काल जीर्ण हो जाता था। उसे दूर करनेके लिए उन्हें काशी या काञ्चीके राजकीय शिवालयमें पुजारी बनना पड़ा और वहाँ देवार्पित नैवेद्यका भक्षण करके अपना रोग दूर किया।

जब कलई खुली तो स्वयंभूस्तोत्र रचकर जैन शासनका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट किया।

इनके रचे हुए आप्तमीमासा, बृहत्स्वयंभूस्त्रोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक तथा रत्नकरण्ड नामक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, तथा जीव सिद्धि आदि कुछ ग्रन्थ अनुपलब्ध है। ये प्रखर तार्किक और कुशल वादी थे। अनेक देशोमे घूम-घूमकर इन्होने विपक्षियोको शास्त्रार्थमें परास्त किया।

सिद्धसेन (वि० सं० की ५वी शती)

आचार्य उमास्वामी (ति) की तरह सिद्धसेनकी मान्यता भी दोन सम्प्रदायोंमे पायी जाती है। दोनों ही सम्प्रदाय उन्हे अपना गुरु मान हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्य जिनसेन प्रथम व द्वितीय ने बहुत ही आदरके साथ उनका स्मरण किया है। उनकी सूक्तियोंको भगवा ऋषभदेवकी सूक्तियोंके समकक्ष बतलाया है और प्र तवादीरू हाथियोंके समूहके लिये उन्हे विकल्परूप नखोयुक्त सिंह बतला हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे 'दिवाकर' विशेषण के साथ इन प्रसिद्धि है। इनका सन्मति तर्कग्रन्थ अति प्रसिद्ध और बहुमान्य है, यह प्राकृत गाथाओंमे निबद्ध है। दूसरे ग्रन्थ न्यायावतार तथा द्वा त्रि तिकाएँ संस्कृतमे है। सभी ग्रन्थ गहन दार्शनिक चर्चाओसे परिपू हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जुगलकिशोर 'मुख्तारने गहरे अध्ययन औ खोजके बाद यह सिद्ध किया है कि उक्त सब कृतियाँ एक ही सिद्ध की नही है, सिद्धसेन नामके कोई दूसरे विद्वान भी हुए है।

देवनन्दि (ईसाकी पांचवी शती)

श्रवणवेलगोलाके शिलालेख न० ४० (६४) मे लिखा है इनका पहला नाम देवनन्दि था। बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जि

१. अनेकान्त, वर्ष ९, कि० ११ (सन्मति सिद्धसेनांक)।

नुद्धि कहलाये और देवोने उनके चरणोंकी पूजा की, इसलिए उनका 'ाम पूज्यपाद हुआ। इनका सक्षिप्त नाम 'देव' भी था। आचार्य जेनसेनने आदिपुराणमे और वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित्रमें इन्हें इसी सक्षिप्त नामसे स्मरण किया है। महाकवि धनञ्जयने अपनी ाममालामे पूज्यपादके व्याकरणको 'अपश्चिम रत्नत्रय' मे गिनाया है। नका जैनेन्द्र व्याकरण जैनोका पहला संस्कृत व्याकरण है। इसव त्र बहुत ही सक्षिप्त है। सज्ञाएँ भी सक्षिप्त है। मुग्धबोधके कत ० बोपदेवने आठ वैयाकरणोमे जैनेन्द्रका भी उल्लेख किया है। जैनेन्द्र ो सिवाय इनके चार ग्रन्थ और उपलब्ध है—सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, ष्टोपदेश और दशभक्ति (संस्कृत)। इन्होंने अपने जैनेन्द्रपर ास भी बनाया था जो अप्राप्य है। इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ भी इन्होने नाये थे। गगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका शिष्य था, जिसका राज्य-ाल ई० सन् ४८२ से ५१२ तक माना जाता है।

पात्रकेसरी (ईसाकी ६ठीं शती)

इन्हें पात्रस्वामी भी कहते है। इन्होने बौद्धोके त्रैरूप्य हेतु वादका ाडन करनेके लिए 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामका शास्त्र रचा था जो पुपलब्ध है। शान्तरक्षितने अपने तत्त्वसंग्रहमें पात्रस्वामीके मत की लोचना करते हुए कुछ कारिकाएँ पूर्वपक्षके रूपमे दी है। इनका न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।

वादिराजसूरि और अनन्तवीर्यने लिखा है कि बौद्धोंके त्रिलक्षण-खण्डन करनेके लिए पद्मावतीदेवीने भगवान सीमन्धर स्वामीके वमरणमें जाकर उनके गणधरके प्रसाद से इस श्लोकको प्राप्त के पात्र केसरीको दिया था। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० में भी ऐसा उल्लेख है।

अकलंक[1] (ई० ६२० से ६८०)

यह जैनन्यायके प्रतिष्ठाता थे। प्रकाण्ड पण्डित, धुरन्धर शास्त्रार्थी और उत्कृष्ट विचारक थे। जैनन्यायको इन्होने जो रूप दिया उस ही उत्तरकालीन जैन ग्रन्थकारोने अपनाया। बौद्धोंके साथ इनका खूब संघर्ष रहा। स्वामी समन्तभद्रके यह सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इन्होंने उनके आप्तमीमासा ग्रन्थपर 'अष्टशती' नामक भाष्यकी रचना की। इनकी रचनाएँ दुरूह और गम्भीर है। अवतक इनके अष्टशती, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थराजवार्तिक नामके ग्रन्थ प्रकाशमें आ चुके है। सिद्धिविनिश्चय प्रकाशमें नही आया।

विद्यानन्दि (ई० ९वी शती)

विद्यानन्दि अपने समयके वहुत ही समर्थ विद्वान् थे। इन्होने अकलंकदेवकी अष्टशतीपर 'अष्टसहस्री' नामका महान् ग्रन्थ लिखा है जिसे समझनेमें अच्छे अच्छे विद्वानोको कष्ट सहस्रीका अनुभव होता है। य सभी दर्शनोके पारगामी विद्वान् थे। इन्होने अष्टसहस्री, आप्त-परीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक और युक्त्य-नुशासन-टीका नामके ग्रन्थ रचे है। सभी बहुत प्रौढ दार्शनिक ग्रन्थ है।

माणिक्यनन्दि (ई० ९वी शती)

इन्होंने अकलकदेवके वचनोका अवगाहन करके परीक्षामुख नामके सूत्र ग्रन्थकी रचना की है जिसमे प्रमाण और प्रमाणाभासका सूत्रवद्ध विवेचन किया है। सूत्र सक्षिप्त स्पष्ट और सरस है।

अनन्तवीर्य (ई० की ९वी शती)

यह अकलंक न्यायके प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होने उनके सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थपर वहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। वादिराजने अपने न्यायविनिश्चयविवरणमे इनकी वहुत प्रशसा की है, और लिखा

---

१. इनकी जीवनी व परिचय जाननेके लिए न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावना पढिये।

है कि इनके वचनामृतकी वृष्टिसे जगत्‌को खा जानेवाली शून्यवाद-रूपी अग्नि शान्त हो गयी।

वीरसेन (ई० ७९०–८२५)

आचार्य वीरसेन प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम और कसाय-पाहुडके मर्मज्ञ थे। उन्होंने प्रथम ग्रन्थपर ६२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित धवला नामकी टीका लिखी है। और कसाय-पाहुड पर २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर ही स्वर्गवासी हो गये। ये टीकाएँ जैन सिद्धान्त की गहन चर्चाओंसे परिपूर्ण हैं। धवला-की प्रशस्तिमें उन्हें वैयाकरणोंका अधिपति, तार्किकचक्रवर्ती और 'प्रवादी रूपी गजोंके लिए सिंह' समान बतलाया है।

जिनसेन (ई० ८००–८८०)

यह वीरसेनके शिष्य थे। इन्होंने गुरुके स्वर्गवासी हो जाने पर जयधवला टीकाको पूरा किया। इन्होंने अपनेको 'अविद्धकर्ण' बतलाया है, जिससे प्रतीत होता है कि यह बालवयमें ही दीक्षित हो गये थे। यह बड़े कवि थे। इन्होंने अपने नवयौवनकालमें ही कालिदासके मेघदूतको लेकर पार्श्वाभ्युदय नामका सुन्दर काव्य रचा था। मेघदूतमें जितने भी पद्य हैं, उनके अन्तिम चरण तथा अन्य चरणोंमेंसे भी एक एक, दो दो करके इसके प्रत्येक पद्यमें समाविष्ट कर लिये गये हैं। इनका एक दूसरा ग्रन्थ महा-पुराण है। इन्होंने सारे तिरेसठ शलाका पुरुषोंका चरित्र लिखनेकी इच्छासे महापुराण लिखना प्रारम्भ किया। किन्तु इनका भी बीचमें ही स्वर्गवास हो गया। अत उसे इनके शिष्य गुणभद्राचार्यने पूर्ण किया। राजा अमोघवर्ष इनका शिष्य था और इन्हें बहुत मानता था।

प्रभाचन्द्र (ई० सन् की ११वीं शती)

आचार्य प्रभाचन्द्र एक बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् थे। सभी दर्शनों के प्राय सभी मौलिक ग्रन्थोंका उन्होंने अभ्यास किया था। यह बात उनके रचे हुए न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेय-कमल-मार्तण्ड नामक दार्श-

निक् ग्रन्थोके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाती है। इनमें से पहला ग्रन्थ अकलंकदेवके लघीयस्त्रयका व्याख्यान है और दूसरा आचार्य माणिक्य-नन्दिके परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थका। श्रवणवेलगोलाके शिलालेख नं० ४० (६४) मे इन्हें शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथित तर्क ग्रन्थ-कार बतलाया है। इन्होने शाकटायन व्याकरणपर एक विस्तृत न्यास ग्रन्थ भी रचा था जिसका कुछ भाग उपलब्ध है। इनके गुरुका नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था।

वादिराज (ई० स० ११वी शती)

वादिराज तार्किक होकर भी उच्चकोटिके कवि थे। षट्तर्क षण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादी उनकी उपाधियां थी। नगर ताल्लुकाके शिलालेख नं० ३९ में वताया है कि वे सभामे अकलंक थे, प्रतिपादन करनेमें धर्मकीर्ति थे, बोलनेमे बृहस्पति और न्यायशास्त्रमें अक्षपाद थे। उन्होंने अकलंकदेवके न्याय विनिश्चयपर विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा है जो लगभग बीस हजार श्लोक प्रमाण है। तथा शक सं० ९४७ (ई० सं० १०२५) म पार्श्वनाथचरित रचा जो वहुत ही सरस प्रौढ रचना है। अन्य भी कइ ग्रन्थ और स्तोत्र इन्होने वनाये है। इनके गुरुका नाम मतिसागर था

यह तो हुआ कुछ प्रसिद्ध दिगम्वर जैनाचार्योका परिचय अव कुछ श्वेताम्वर जैनाचार्योका परिचय दिया जाता है। इ आचार्योमें उमास्वामीकी उमास्वाति नामसे तथा । ख्नक सिद्धसेनदिवाकर नामसे श्वेताम्वर सम्प्रदायमे भी वहुत तिष्ठा है। और वह इनको श्वेताम्वराचार्य रूपसेही मानता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु

भद्रवाहु नामके दो आचार्य हो गये है। यह दूसरे भद्रव विक्रमकी छठी शतीमें हुए है। वे जातिसे ब्राह्मण थे। प्रसि ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था। इन्होंने आगमो न निर्युक्तियोंकी रचना की तथा अन्य भी अनेक ग्रन्थ वनाये।

मल्लवादी

यह प्रबल तार्किक थे। आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणमें लिखा है कि सब तार्किक मल्लवादीसे पीछे हैं। इनका बनाया हुआ नयचक्र ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसका पूरा नाम 'द्वादशार नयचक्र' है। मूल ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है किन्तु उसकी सिंह क्षमाश्रमण कृत टीका मिलती है। आचार्य हरिभद्रने अपने 'अनेकान्त जयपताका' ग्रन्थमें इनका वादिमुख्य करके उल्लेख किया है, अतः इतना निश्चित है कि ये विक्रमकी आठवी शतीसे पहिले हुए हैं।

जिनभद्रगणि (ई० ६–७वीं शती)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगम-कुशल विद्वान् थे। इनका विशेषावश्यक भाष्य नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसीके कारण भाष्यकार नामसे इनकी ख्याति है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सिद्धसेनके विचारोंका खण्डन भी किया है। विशेषणवती, आदि अन्य भी अनेक ग्रन्थ इनके रचे हुए हैं। आचार्य हेमचन्द्रने इन्हें उत्कृष्ट व्याख्याता बतलाया है।

हरिभद्र (ई० ७००–७५०)

हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायके बहुमान्य विद्वान् हुए हैं। इन्होंने संस्कृत और प्राकृतमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। इनके रचे हुए ग्रन्थोंमें अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्त-जयपताका, ललितविस्तरा, षड्दर्शन समुच्चय, और समराइच्च कहा अति प्रसिद्ध है। अपने प्रकरण ग्रन्थोंमे इन्होंने तत्कालीन साधुओंकी खरी आलोचना भी की है।

अभयदेव (ई० ११वी शती)

यह प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेनके सन्मति-तर्कपर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इस टीकामें सैकड़ो दार्शनिक ग्रन्थोका निचोड़ भरा हुआ है। संक्षेपमें दिगम्बर परम्परामें अकलंकदेव, विद्यानन्दि और प्रभाचन्दका जो स्थान है वही स्थान श्वेताम्बर

परम्परामें मल्लवादी, हरिभद्र और अभयदेव सूरिका है। छहो विद्वान् दार्शनिक क्षेत्रके जाज्वल्यमान नक्षत्र थे।

हेमचन्द्र (ई० १३वी शती)

विद्वानोमे आचार्य हेमचन्द्रको बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह उनका पूर्ण भक्त था। उसके नामपर ही उन्होने अपना सिद्ध हैम व्याकरण बनाया। इसीका एक अध्याय प्राकृत व्याकरण है जो अति प्रसिद्ध है। आचार्यका जन्म स० ११४५ में हुआ। नौ वर्षकी अवस्था मे दीक्षा ली और सं० ११६२ मे आचार्य पद प्राप्त किया। सं० १२२९ मे उनका स्वर्गवास हो गया। न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष आदि सभी विषयोपर उन्होने अद्भुत ग्रन्थ लिखे। जयसिंहका उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था।

यशोविजय (ई० १८वीं शती)

श्वेताम्बर परम्परामें हेमचन्द्राचार्यके पश्चात् यशोविजय जैसा सर्वशास्त्रपारंगत दूसरा विद्वान् नही हुआ। इन्होने काशीमे विद्याध्ययन किया था और नव्यन्यायके न केवल विद्वान् ही थे किन्तु उसी शैलीमे कई ग्रन्थ भी रचे। उनकी जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु, नयरहस्य, नयप्रदीप आदि ग्रन्थ अध्ययन करने योग्य है। इनकी विचारसरणि बहुत ही परिष्कृत और सतुलित थी।

जैन कला और पुरातत्व

जैन परम्पराके अनुसार इस अवसर्पिणी कालमे ह्रास होते होते [ज]ब भोगभूमिका स्थान कर्मभूमिने ले लिया तो भगवान् ऋषभदेवने [ज]नताके योगक्षेमके लिए पुरुषोके बहत्तर कलाओं और स्त्रियोके [चौ]सठ गुणोको बतलाया। जैन अंग साहित्यके तेरहवे पर्वमे उनका

विस्तृत वर्णन था, वह अव नष्ट हो चुका है। इससे पता लगता है कि पहले कलाका अर्थ वहुत व्यापक था। उसमे जीवन-यापनसे लेकर जीव-उद्धार तकके सव सत्प्रयत्न सम्मिलित थे। कहा भी है—

कला वहत्तर पुरुषकी, तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका, एक जीव-उद्धार ॥

जैन धर्मका तो प्रधान लक्ष्य ही जीव उद्धार है। वल्कि यदि कहा जाय कि जीव उद्धारके लिए किये जाने वाले सत्प्रयत्नोका नाम ही जैन-धर्म है तो अनुचित न होगा। इसी से आज कलाकी परिभाषा जो 'सत्यं शिवं सुन्दर' की जाती है, अर्थात् जो सत्य है, कल्याणकर है और सुन्दर है वही कला है, वह जैनकलामें सुघटित है, क्योकि जैनधर्मसे सम्बद्ध चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्यकला, सुन्दर होनेके साथ ही साथ कल्याणकर भी है और सत्यका दर्शन कराती है। नीचे उनका परिचय सक्षेपमें दिया जाता है।

चित्रकला

सरगुजा राज्यके अन्तर्गत लक्ष्मणपुरसे १२ मील रामगिरि नामक पहाड है वहाँ पर जोगीमारा गुफा है। गुफाकी चौखट पर वड़े ही सुन्दर चित्र अकित है। ये चित्र ऐतिहासिक दृष्टिसे प्राचीन है तथा जनधर्मसे सम्वन्धित है। परन्तु सरक्षणके अभावसे चित्रोंकी हालत खराव हो गयी ह।

पुदुदुकोटै राज्यमें राजधानीसे ६ मील उत्तर एक जैन गुफा मन्दिर है। उसे सितन्नवासल कहते है। सितन्नवासल का प्राकृत रूप है सिद्धण्णवास—सिद्धोंका निवास। इसकी भीतोंपर पूर्व-पल्लव राजाओकी शैलीके चित्र है, जो तमिल सस्कृति और साहित्यके महान् सरक्षक प्रसिद्ध कलाकार राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम (६००–६२५ ई०) के वनवाये हुए है और अत्यन्त सुन्दर होनेके साथ ही साथ सबसे प्राचीन जैन चित्र है। इसमें तो कोई सन्देह नही कि अजताके सर्वोत्कृष्ट चित्रोके साथ सितन्नवासलके चित्रोकी तुलना करना अन्याय होगा। किन्तु ये चित्र

भी भारतीय चित्रकलाके इतिहासमे गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी रचना शैली अजंताके भित्तिचित्रोंसे वहुत मिलती जुलती है।

यहाँ अव दीवारों और छत पर सिर्फ दो चार चित्र ही कुछ अच्छी हालतमे वचे है। इनकी विशेषता यह है कि वहुत थोडी किन्तु स्थिर और दृढ रेखाओमे अत्यन्त सुन्दर आकृतिया वडी होशियारीके साथ लिख दी गयी है जो सजीव सी जान पडती है। गुफामे समवसरणकी सुन्दर रचना चित्रित है। सारी गुफा कमलोसे अलंकृत है। खम्भोपर नर्तकियोके चित्र हैं। वरामदेकी छतके मध्यभागमे पुष्करिणीका चित्र है। जलमे पशु-पक्षी जलविहार कर रहे है। चित्रके दाहिनी ओर तीन मनुष्याकृतियाँ आकर्षक और सुन्दर है। गुफामे पर्यंक मुद्रामें स्थित पुरुष प्रमाण अत्यन्त सुन्दर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ है जो मूर्ति-विधान कलाकी अपेक्षासे भी उल्लेखनीय है। वास्तवमें पल्लवकालीन चित्र भारतीय विद्वानोंके लिए अध्ययनकी वस्तु

सितन्नवासलके वाद जैनधर्मसे सम्बद्ध चित्रकलाके उदाहरण दसवी ग्यारहवी शतीसे लगाकर पंद्रहवी शताब्दी तक मिलते है विद्वानोंका कहना है कि इस मध्यकालीन चित्रकलाके अवशेषोंके लिए भारत जैन भण्डारोका आभारी है; क्योकि प्रथम तो इस कालमे प्राय एक हजार वर्ष तक जैनधर्म का प्रभाव भारतवर्षके एक वहुत बड़े भाग्यम फैला हुआ था। दूसरे जैनोंने वहुत वड़ी संख्यामें धार्मिक ग्रन्थ ताड़ पत्रोंपर लिखवाये और चित्रित करवाये थे। वि० सं० ११५७ की चित्रित निशीथचूर्णिकी प्रति आज उपलब्ध है जो जैनाश्रित कलाम अति प्राचीन है। १५वी शतीके पूर्वकी जितनी भी कलात्मक चित्रकृतियाँ मिलती है वे केवल जैन ग्रन्थोंमें ही प्राप्य है।

आज तक जो प्राचीन जैन साहित्य उपलब्ध हुआ है उसका वहु भाग ताडपत्रोपर लिखा हुआ मिला है। अत भारतीय चित्रकलाका विकास ताड़पत्रोंपर भी खूब हुआ है। मुनि जिनविजयजीका लिखना है कि चित्रकलाके इतिहास और अध्ययनकी दृष्टिसे ताड़पत्रकी ये सचित्र पुस्तकें बड़ी मूल्यवान् और आकर्षणीय वस्तु है।

मद्रास गवर्न्मेण्ट म्यूजियमसे 'Tirupatti Kuntam' नामक
क मूल्यवान् ग्रन्थ श्री टी० एन० रामचन्द्रन् द्वारा लिखित प्रकाशित
आ है। इसमें प्रकाशित चित्रोंसे दक्षिण भारतकी जैन चित्रकला
द्धतिका अच्छा आभास मिलता है। इनमें से अधिकांश चित्र भगवान्
ऋषभदेव और महावीरकी जीवन घटनाओंपर प्रकाश डालते हैं।
जनसे उस समयके पहनाव नृत्यकला आदिका परिचय मिलता है।

ताड़पत्रोंको सुरक्षित रखनेके लिए काष्ठ-फलकोंका प्रयोग किया
जाता था। अत. उनपर भी जैनचित्र कलाके सुन्दर नमूने मिलते हैं।

जैन चित्रकलाके सम्बन्धमे चित्रकलाके मान्य विद्वान् श्री एन०
सी० महताने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं वे उसपर प्रकाश डालनेके लिए
पर्याप्त होंगे। वे लिखते हैं—'जैन चित्रोंमें एक प्रकार की निर्मलता,
स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डा० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक
विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रोंकी परम्परा अजंता, एलोरा,
बाघ, और सितन्नवासलके भित्तिचित्रोंकी है। समकालीन सभ्यताके
अध्ययनके लिए इन चित्रोंसे बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर
पोशाक, सामान्य उपयोगमें आने वाली चीजे आदिके सम्बन्धमें
अनेक बातें ज्ञात होती हैं।'[1]

मूर्तिकला

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है, अत. प्रारम्भसे लेकर आजतक
उसके मूर्तिविधानमें प्राय. एकही रीतिके दर्शन होते हैं। ई० स० के
आरम्भमें कुशान राज्यकालकी जो जैन प्रतिमाएँ मिलती हैं उनमें और
सैकड़ों वर्ष पीछेकी बनी जैन मूर्तियोंमें बाह्य दृष्टिसे थोड़ा बहुत ही
अन्तर है। प्रतिमाके लाक्षणिक अंग लगभग दो हजार वर्षतक एक ही
रूपमें कायम रहे हैं। पद्मासन या खड्गासन मूर्तियोंमें लम्बा काल बीत
जानेपर भी विशेष भेद नहीं पाया जाता। जैन तीर्थङ्करकी मूर्ति विरक्त,

---

१ भारतीय चित्रकला पृ० ३३।

शान्त, और प्रसन्न होती है। उसमें मनुष्यहृदयकी विकृतियोंको स्थान नहीं होता। इससे जैन प्रतिमा उसकी मुखमुद्राके ऊपरसे तुरन्त ही पहचानी जा सकती है। खड़ी मूर्तियोंके मुखपर प्रसन्नता और दोनों हाथ निर्जीव जैसे सीधे लटकते हुए होते हैं। बैठी हुई प्रतिमा ध्यानमुद्रामें पद्मासनसे विराजमान होती है। दोनों हाथ गोदीमें सरलतासे स्थापित रहते हैं। २४ तीर्थङ्करोंके प्रतिमाविधानमें व्यक्तिभेद न होनेसे उनके आसनके ऊपर अंकित चिह्नोंसे जुदे जुदे तीर्थङ्करोंकी प्रतिमा पहचानी जाती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्तियोंमें भेद और उसके कारणकी चर्चा इसी पुस्तकके 'संघभेद' शीर्षकमें की गयी है।

मध्यकालीन जैन मूर्तियोंमें बौद्ध प्रथाके समान कपालपर ऊर्णा और मस्तकपर उष्णीष तथा वक्षस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न भी अंकित होने लगा। किन्तु जैन मूर्तियोंकी लाक्षणिक रचनामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

वर्तमानमें सबसे प्राचीन जैन मूर्ति पटनाके लोहनीपुर स्थानसे प्राप्त हुई है। यह मूर्ति नियमसे मौर्य कालकी है और पटना म्युजियममें रखी हुई है। इसका चमकदार पालिस अभी तक भी ज्योंका त्यों बना है। लाहोर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदिके म्यूजियमोंमें भी अनेक जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्तकालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्यायने लिखा है—मथुरामें २४वें तीर्थङ्कर वर्धमान महावीरकी एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्तके समयमें तैयार की गयी थी। वास्तवमें मथुरामें जैन मूर्तिकलाकी दृष्टिसे भी बहुत काम हुआ है।[1] श्री राय कृष्णदासने लिखा है कि मथुराकी शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन सम्प्रदायकी है।

खण्डगिरि और उदयगिरिमें ई० पू० १८८–३० तककी शुंगकालीन मूर्तिशिल्पके अद्भुत चातुर्यके दर्शन होते हैं। वहाँपर इस कालकी कटी हुई सौके लगभग जैन गुफाएँ हैं जिनमें मूर्तिशिल्प भी है। दक्षिण भारतके अलगामलै नामक स्थानमें खुदाईसे जो जैन मूर्तियाँ

१—भारतीय मूर्तिकला पृ० ५९।

देखकर कलाके पारखी मुग्ध हो जाते है। दक्षिणमें जहाँ बौद्ध धर्मके स्थापत्यके इने गिने अवशेष है वहाँ जैन धर्मके प्राचीन स्थापत्यके बहुतसे उदाहरण आज भी उपलब्ध है। इनमें प्रमुख है एलोराकी इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा। सभवत. इनकी खुदाई चालुक्योंकी बादामी शाखा या राष्टकूटोंके तत्त्वावधानमें हुई होगी, क्योकि बादामीमें भी इसी तरहकी एक जैन गुफा है जो सातवी शतीकी मानी जाती है।

दक्षिणमें जैन मन्दिरों और मूर्तियोकी बहुतायत है। श्रवणबेलगोला (मैसूर) में गोमट्टस्वामीकी प्रसिद्ध जैन मूर्ति है जो स्थापत्य कलाकी दृष्टिसे अपूर्व है। वहाँ अनेक जैन मन्दिर है जो द्रवेडियन शैलीके है। कनाडा जिलेमें अथवा तुलु प्रदेशमें जैन मन्दिरोकी बहुतायत है किन्तु उनकी शैली न दक्षिण भारतकी द्रवेडियन शैलीसे ही मिलती है और न उत्तर भारतकी शैलीसे। मूडबिद्रीके मन्दिरोंमें लकड़ीका उपयोग अधिक पाया जाता है और उसकी नक्काशी दर्शनीय है। साराश यह कि भारतवर्षका शायद ही कोई कोना ऐसा हो जहाँ जैन पुरातत्त्वके अवशेष न पाये जाते हों। जहाँ आज जैनोका निवास नही है वहाँ भी जैन कलाके सुन्दर नमूने पाये जाते है।

इसीसे प्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत रविशकर रावलका कहना है—'भारतीय कलाका अभ्यासी जैनधर्मकी जरा भी उपेक्षा नही कर सकता। मुझे जैनधर्म कलाका महान् आश्रयदाता, उद्धारक और संरक्षक प्रतीत होता है।'

स्व० के०पी० जायसवालने जैनधर्मसे सम्बद्ध वास्तुकलाके विषयमे एक भ्रामक बात कही है। जैन और बौद्ध मन्दिरोपर अप्सराओ आदिकी मूर्तिको लेकर उन्होने लिखा है—'अब प्रश्न यह है कि बौद्धो और जैनोको ये अप्सराएँ कहां से मिली × × × मेरा उत्तर यह है कि उन्होने ये सब चीजें सनातनी हिन्दू (वैदिक) इमारतोसे से ली है।[1]

१—अन्धकार युगीन भारत, पृ० ९५—९६।

भारतीय कलाको इस तरह फिर्कोंमे बांटनेके सम्बन्धमें व्युहलरका मत उल्लेखनीय है जो उन्होने मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे शिक्षा ग्रहण करके निर्धारित किया था। उनका कहना है—'मथुरासे प्राप्त खोजोंने मुझे यह पाठ पढाया है कि भारतीय कला साम्प्रदायिक नही है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मोंने अपने-अपने समयकी और देशकी कलाओंका उपयोग किया है। उन्होंने कलाके क्षेत्रमे प्रतीकों और रूढिगत रीतियोंको एक ही स्रोतसे लिया है। चाहे स्तूप हों, या वि वृक्ष या चक्र या और कुछ हो, ये सभी धार्मिक या कलात्मक तत्त्वे रूपमें जैन, बौद्ध और सनातनी हिन्दू सभीके लिए समान रू सुलभ है।'

उनके इस मतकी पुष्टि विसेंण्ट स्मिथने अपनी पुस्तक 'दी जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वीटीस् आफ मथुरा' मे की है।

इस तरह प्राचीन मन्दिरों, मूर्तियों, शिलालेखों, गुफाओ और ताम्रपत्रोंक रूपमे आज भी जैन पुरातत्त्व यत्र तत्र पाया जाता है औ बहुत सा समयके प्रवाहमे नष्ट हो गया तथा नष्ट कर दिया गया, मि० फर्ग्युसनका कहना है कि बारह खम्भोंके गुम्वजोंका जैनोंमे बहुत चलन रहा है। इस तरहका गुम्वज एक तो भेलसामे निर्मित समा पाया जाता है जो सम्भवत. ४ थी शतीका है। दूसरा वाघकी मह। गुफाओमे है जो छठी या सातवी शतीका है। इस तरहके गुम्वज खोज पर और भी मिल सकते थे। किन्तु इन गुम्बजोंके पतले और शानदा स्तम्भोंको मुसलमानोंने अपने कामका पाया; क्योंकि वे बड़ी सरलता से फिरसे वैठाये जा सकते थे। इसलिए उन्हे बिना नष्ट किये ही मुसल मानोंने अपने काममें ले लिया। मि० [1]फर्ग्युसनका कहना है। अजमेर, देहली, कन्नौज, धार और अहमदाबादकी विशाल मस्जि जैनोंके मन्दिरोसे ही पुन निर्मित की गयी है।

गुजरातके प्रसिद्ध सोमनाथके मन्दिरको कौन नही जानता

---

1 History of Indian and Eastern Architecture. P. 20

› १०२५ मे महमूद गजनीने इसे तोडा था। इस मन्दिर की निर्माण
श्री गिरनार पर्वतपर स्थित श्री नेमिनाथके जैन मन्दिरसे मिलती-
जुलती हुई है। मि० फर्ग्युसनका कहना है कि जब मुसलमानोंने इस
मन्दिरपर आक्रमण किया उस समय वह सोमेश्वरका मन्दिर कहा
जाता था। सोमेश्वर नामसे ही शिव मान लिया गया। यदि वह
मन्दिर शिवका था तो उसमें अवश्य ही शिवलिंग प्रतिष्ठित होना
चाहिये। किन्तु मुसलिम इतिहास लेखकोंका कहना है कि मूर्तिके
चार हाथ पैर और पेट था। ऐसी स्थितिमे वह मूर्ति शिवलिंग न होकर
विष्णुकी या किसी जैन तीर्थङ्करकी होनी चाहिये। उस समय गुजरातमें
वैष्णवधर्मका नामोनिशान भी देखनेको नही मिलता। तथा मुसल-
मानोंके बाद उस मन्दिरका जीर्णोद्धार राजा भीमदेव, सिद्धराज और
कुमारपालने कराया, जो सब जैन थे। इन सब बातोंपरसे फर्ग्यूसन
सा० ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सोमनाथका मन्दिर जैन मन्दिर था।

कलाकी तरह पुरातत्त्व शब्दका अर्थ भी बहुत व्यापक है। इति-
हास आदिके निर्माणमें जिन साधनोकी आवश्यकता होती है वे सभी
पुरातत्त्वमें गर्भित है। अत प्राचीन मन्दिरों, मूर्तियों, गुफाओं और
स्तम्भोंकी तरह प्राचीन शिलालेखो और शास्त्रोको भी पुरातत्त्वमें
सम्मिलित किया जा सकता है।

श्रवणबेलगोला (मैसूर) में बहुतसे शिलालेख अंकित है। मैसूर
पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन अधिकारी लूइस राइस साहबने श्रवण-
बेलगोलाके १४४ शिलालेखोका संग्रह प्रकाशित किया था। इसकी
भूमिकामें उन्होने इन लेखोके ऐतिहासिक महत्त्वकी ओर विद्वानोका
ध्यान आकर्षित किया और चन्द्रगुप्त मौर्य तथा भद्रबाहुके पारस्परिक
सम्बन्धका विवेचन कर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि सम्राट
चन्द्रगुप्त मौर्यने भद्रबाहुसे जिनदीक्षा ली थी तथा शि० लेख न० १
उन्हींका स्मारक है।

उक्त संग्रहका दूसरा संस्करण रावबहादुर आर० नरसिंहाचार्यने

रचकर प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने ५०० शिलालेखोंका संग्रह किया है व भूमिकामें उनके ऐतिहासिक महत्त्वका विवेचन किया है। किन्तु ये संग्रह कनडी व रोमन लिपिमें है अत उक्त लेखोंका एक देवनागरी संस्करण प्रो० हीरालाल तथा श्रीविजयमूर्तिसे सम्पादित कराके श्री नाथूरामजी प्रेमीने प्रकाशित किया है। इसी तरह आबू देवगढ़ आदिमे भी अनेक शिलालेख मूर्तिलेख वगैरह पाये जाते हैं। भारतीय इतिहासके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खण्डगिरि उदयगिरिसे प्राप्त जैन शिलालेखकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

इस तरह जैनोंने बहुसख्यक शिलालेखो, प्रतिमालेखो, ताम्रपत्रों, ग्रन्थ प्रशस्तियों, पुष्पिकाओं, पट्टावलियों, गुर्वावलियों, राजवशावलियों और ग्रन्थोंके रूपमे विपुल ऐतिहासिक सामग्री प्रदान की है।

स्व० बैरिस्टर श्री का० प्र० जायसवालने अपने एक लेखमे लिखा[1] था—'जैनोंके यहाँ कोई २५०० वर्षकी सवत् गणनाका हिसाब हिन्दुओं भरमे सबसे अच्छा है। उससे विदित होता है कि पुराने समयमें ऐतिहासिक परिपाटीकी वर्षगणना हमारे देशमें थी। जब वह और जगह लुप्त और नष्ट हो गयी, तब केवल जैनोंमे बच रही। जैनोकी गणनाके आधारपर हमने पौराणिक और ऐतिहासिक बहुत-सी घटनाओंको जो बुद्ध और महावीरके समयसे इधर की है, समयबद्ध किया और देखा कि उनका ठीक मिलान सुज्ञात गणनासे मिल जाता है। कई एक ऐतिहासिक बातोंका पता जैनोकी ऐतिहासिक लेख पट्टावलियोमे ही मिलता है'

१ जैन साहित्य सशोधक, ख १, पृ० २११।

६–सामाजिक रूप

१ जैनसंघ

मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका, इनके समुदायको जैनसंघ कहते हैं। मुनि और आर्यिका गृहत्यागी वर्ग है और श्रावक श्राविका गृही वर्ग है। जैनसंघमे ये दोनो वर्ग बराबर रहते है। जब ये वर्ग नही रहेंगे तो जैनसंघ भी नही रहेगा, और जब जैनसंघ नही रहेगा तब जैनधर्म भी न रहेगा।

यद्यपि ये दोनों वर्ग जुदे-जुदे है, फिर भी परस्परमे इन दोनोंका ऐसा गठबन्धन बनाये रखनेका प्रयत्न किया गया है कि दोनों एक दूसरेसे जुदे नही हो सकते और दोनोका परस्परमें एक दूसरेपर नियंत्रण या प्रभाव जैसा कुछ बना रहता है। हिन्दूधर्मके साधुसन्तोपर जैसे उनके गृहस्थोंका कुछ भी अंकुश नही रहता, वैसी बात जैनसंघमे नही है। यहाँ शीलभ्रष्ट और कदाचारी साधुओंपर बराबर निगाह रखी जाती है और किसीकी स्वच्छन्दता अधिक दिनों तक नही चल पाती। आज तो संघव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है और साधुओंमें भी नियमनका अभाव हो गया है, किन्तु पहले यह बात न थी। पहले आचार्यकी स्वीकृति और अनुज्ञाके बिना कोई साधु अकेला विहार नही कर सकता था। और अकेले विहार करनेकी आज्ञा उसे ही दी जाती थी जिसे चिरकालके सहवाससे परख लिया जाता था। मुनि दीक्षा भी हरेकको नही दी जाती थी। पहले उसे संघमे रखकर परखा जाता था और यह जाननेका प्रयत्न किया जाता था कि वह किसी गार्हस्थिक, राजकीय या अन्य किसी कारणसे घर छोड़कर तो नही भागा है। यदि उसके चित्तमें वस्तुत वैराग्यभावना प्रबल होती थी तो उसे सर्व-संघके समक्ष जिनदीक्षा दी जाती थी। साधुसंघमें एक प्रधान आचार्य

होते थे और कुछ अवान्तर आचार्य होते थे। वे सब मिलकर संघका नियमन करते थे। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानकी ओर साधुवर्गका खास तौरसे ध्यान दिलाया जाता था। प्रत्येक साधुके लिए यह आवश्यक था कि वह अपने अपराधोंकी आलोचना आचार्यके सन्मुख करे और आचार्य जो प्रायश्चित्त दे उसे सादर स्वीकार करे। प्रतिदिन प्रत्येक साधु प्रात काल उठकर अपनेसे बडोंको नमस्कार करता था और जो रोगी या असमर्थ साधु होते थे उनकी सेवा-शुश्रूषा करता था। इस सेवा-शुश्रूषा या वैयावृत्यका जैनशास्त्रोमें बडा महत्त्व बतलाया है और इसे आभ्यन्तर तप कहा है। इसी प्रकार आर्यिकाओंकी भी व्यवस्था थी। दोनोंका रहना वगैरह बिल्कुल जुदा होता था। किसी साधुको आर्यिकासे या आर्यिकाको साधुसे एकान्तमें बातचीत करनेकी सख्त मनाई थी, और निश्चित दूरीपर बैठनेका आदेश था।

साधुवर्ग राजकाजसे कोई सरोकार नही रख सकता था। साधुके जो दस कल्प—अवश्य करने योग्य आचार बतलाये है उनमे साधुके लिए राजपिण्ड—राजाका भोजन ग्रहण न करना भी एक आचार है। राजपिण्ड ग्रहण करनेमें अनेक दोष बतलाये है।

हिन्दू धर्ममें धार्मिक क्रियाकाण्ड और धार्मिक शास्त्रोके अध्ययन अध्यापनके लिये एक वर्ग ही जुदा होनेसे हिन्दू धर्मके अनुयायी गृहस्थ अपने धर्मके ज्ञानसे तो एक तरहसे शून्यसे ही हो गये और आचारमे भी केवल ऊपरी बातोंतक ही रह गये। किन्तु जैनधर्ममे ऐसा कोई वर्ग न होनेसे और शास्त्र स्वाध्याय तथा व्यक्तिगत सदाचरणपर जोर होनेसे सब श्रावक और श्राविकाएँ जैनधर्मके ज्ञान और आचरणसे वंचित नही हो सके। फलतः साधु और आर्यिकाओंके आचारमें कुछ भी त्रुटि होनेपर वे उसको झट आँक लेते थे। ऐसा लगता है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारकयुगमे मुनियोमे शिथिलाचार कुछ बढ चला था और लोगोंमे मुनियोकी ओरसे यहाँतक अरुचि सी हो चली थी कि

श्रावक उन्हे भोजन भी नही देते थे। अत उस समयके सोमदेव सूरि और पं० आशाधरजीको अपने अपने श्रावकाचारमे गृहस्थोंकी इस कड़ाई का विरोध करना पड़ा था।

सोमदेवसूरि लिखते हैं—

"भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्त. सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति॥" यशस्तिलक०।

अर्थात्—"आहारमात्र देनेमे मुनियोकी क्या परीक्षा करते हो? वे सज्जन हों या असज्जन हों, गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता ही है।"

पं० आशाधरजी लिखते हैं—

"विन्यस्यैदयुगीनेषु . प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४॥" सागारधर्मा०।

अर्थात्—"जैसे प्रतिमाओंमें तीर्थङ्करोकी स्थापना करके उन्हें पूजते हैं वैसे ही इस युगके साधुओंमे प्राचीन मुनियोंकी स्थापना करके भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करना चाहिये। जो लोग ज्यादा क्षोदक्षेम करते हैं उनका कल्याण कैसे हो सकता है?"

गृहस्थोंकी इस जागरूकताके फलस्वरूप ही जैनधर्ममें अनाचारकी वृद्धि नही हो सकी और न उसे प्रोत्साहन ही मिल सका। जैन गृहस्थोंमें सदासे शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् होते आये हैं। जिन विद्वानोंने बड़े बड़े ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाएँ की हैं वे सभी जैन गृहस्थ थे। उन्होंने अपने सम्प्रदायमे फैलनेवाले शिथिलाचारका भी डटकर विरोध किया था, जिसके फलस्वरूप एक नया सम्प्रदाय बन गया और शिथिलाचारके सर्जकोका लोप ही हो गया।

जैनसंघमें स्त्रियोंको भी आदरणीय स्थान प्राप्त था। दिगम्बर सम्प्रदाय यद्यपि स्त्री-मुक्ति नही मानता फिर भी आर्यिका और श्राविकाओंका बराबर सन्मान करता है और उन्हें बहुत ही आदर और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है। जैनसंघमें विधवाको जो अधिकार प्राप्त हैं वे हिन्दूधर्ममें नही हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार पुत्ररहित विधवा

स्त्री अपने पतिकी तरफसे सम्पत्तिकी मालकिन हो सकती है, अपने मृत पति तथा उसके उत्तराधिकारियोंकी सम्मतिके विना दत्तक ले सकती है।

जैनसंघमे चारो वर्णके लोग सम्मिलित हो सकते थे। शूद्रको भी धर्मसेवनका अधिकार था। जैसा कि लिखा है—

'शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुशुद्धयाऽस्तु तादृश. ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥२२॥' सागारधर्मा० ।

अर्थात्—'उपकरण, आचार और शरीरकी शुद्धि होनेसे शूद्र भी जैनधर्मका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि काललब्धि आदिके मिलनेपर जातिसे हीन आत्मा भी धर्मका अधिकारी होता है।'

किन्तु मुनिदीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण माने गये है। किसी [1]किसी आचार्यने तीनों वर्णोको परस्परमें विवाह और खानपान करनेकी भी अनुज्ञा दी है। यह बात जैनसंघकी विशेषताको बतलाती है कि अहिंसा अणुव्रतका पालन करनेवालोंमें जैनशास्त्रोंमे यमपाल चण्डालका नाम बड़े आदरसे लिया गया है। स्वामी समन्तभद्रने तो यहाँतक लिखा है—

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देव विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥" रत्नकरड श्रा० ।

अर्थात्—"सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको भी जिनेन्द्रदेव राखसे ढके हुए अङ्गारके समान (अन्तरंगमे दीप्तिसे युक्त) देव मानते है।"

जैनसघकी एक दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्रत्येक जैनको अपने साधर्मी भाईके प्रति वैसा ही स्नेह रखनेकी हिदायत है जैसा स्नेह गौ अपने बच्चेसे रखती है। तथा यदि कोई साधर्मी किसी कारणवश धर्मसे च्युत होता था तो जिस उपायसे भी बने उस उपायसे उसे च्युत न होने देनेका प्रयत्न किया जाता था और यह सम्यक्त्वके

१. 'परस्पर त्रिवर्णानां विवाह. पङ्क्तिभोजनम्' ।—यशस्तिलक

आठ अंगोमें से था। साथ ही साथ किसी भी साधर्मीका अपमान न करनेकी सख्त आज्ञा थी, जैसा कि लिखा है—

"स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥" रत्नकरड श्रा०।

'जो व्यक्ति घमंडमे आकर अन्य धर्मात्माओंका अपमान करता है वह अपने धर्मका अपमान करता है, क्योकि धार्मिकोके विना धर्म नही रहता।'

इस तरह जैनसंघकी विशालता, उदारता और उसकी संगठन-शक्तिन किसी समय उसे वडा वल दिया था और उसीका यह फल है कि वौद्धधर्मके अपने देशसे लुप्त हो जानेपर भी जैनधर्म वना रहा और अवतक कायम है। किन्तु अव वे वाते नही रही। लोगोमें साधर्मी-वात्सल्य लुप्त होता जाता है। अहंकार वढता जाता है। और किसी-पर किसीका नियंत्रण नही रहा है। इसीलिए वह संगठन भी अव शिथिल होता जाता है।

२ संघभेद

जैन तीर्थङ्करोंने धर्मका उपदेश किसी सम्प्रदायविशेपकी दृष्टिसे नही किया था। उन्होने तो जिस मार्गपर चलकर स्वयं स्थायी सुख प्राप्त किया, जनताके कल्याणके लिये ही उसका प्रतिपादन किया। उनके उपदेशके सम्बन्धमें लिखा है—

"अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥" रत्नकरड श्रा०।

अर्थात्—'तीर्थङ्कर विना किसी रागके दूसरोंके हितका उपदेश देते हैं। शिल्पीके हाथके स्पर्शसे शब्द करनेवाला मृदङ्ग क्या कुछ अपेक्षा करता है।'

अर्थात् जैसे शिल्पीका हाथ पडते ही मृदङ्गसे ध्वनि निकलती है वैसे ही श्रोताओंकी हितकामनासे प्रेरित होकर वीतरागके द्वारा हितोपदेश दिया जाता है। इसीलिए उनका उपदेश किसी वर्गविशेष या

जातिविशेषके लिए न होकर प्राणिमात्रके लिए होता है। उसे सुननेके लिए मनुष्य देव, स्त्री पुरुष, पशु-पक्षी सभी आते हैं। और अपनी अपनी रुचि, श्रद्धा और शक्तिके अनुसार हितकी बात लेकर चले जाते हैं। किन्तु जो लोग उनकी बातोको स्वीकार करते हैं और जो स्वीकार नही करते, वे दोनों परस्परमें बँट जाते है और इस तरहसे सम्प्रदाय कायम हो जाता है।

भगवान् महावीरसे ढाई सौ वर्ष पहले भगवान् पार्श्वनाथ हो चुके थे। भगवान् महावीरके समयमे भी उनके अनुयायी मौजूद थे। उन्हीमे से भगवान् महावीरके माता-पिता थे। भगवान् महावीरने भी उसी मार्गपर चलकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया और उसी मार्गका उपदेश किया। इस तरहसे उनके समयमें समस्त जैनसंघ अभिन्न था। और आगे भी अभिन्न रहा। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमे मगधमें जो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, उसने संघभेदको जन्म दिया।

दिगम्बरोंकी मान्यताके अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय जैन साधुओंकी संख्या बहुत ज्यादा थी। सबको भिक्षा नही मिल सकती थी। इस कारण बहुतसे निष्ठावान् दृढ़व्रती साधु श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ दक्षिण भारतको चले गये और शेष स्थूलभद्रके साथ वही रह गये। स्थूल-भद्रके आधिपत्यमे रहनेवाले साधुओंने सामयिक परिस्थितियोंसे पीडित होकर वस्त्र, पात्र, दण्ड वगैरह उपधियोंको स्वीकार कर लिया। जब दक्षिणको गया साधुसंघ लौटकर आया और उसने वहाँके साधुओं-को वस्त्र, पात्र वगैरहके साथ पाया तो उन्होने उनको समझाया। मगर वे माने नही, फलत. संघभेद हो गया। नग्नताके पोषक साधु दिगम्बर कहलाये और वस्त्र-पात्रके पोषक साधु श्वेताम्बर कहलाये।

श्वेताम्बरोंकी मान्यताके अनुसार मगधमे दुर्भिक्ष पड़नेपर भद्र-बाहु स्वामी नेपालकी ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष हटा और पाटली-पुत्रमे बारह अंगोंका संकलन करनेका आयोजन किया गया तो भद्रबाहु

उसमें सम्मिलित नहीं हो सके। फलत: भद्रबाहु और संघके साथ कुछ खींचातानी भी हो गयी जिसका वर्णन आचार्य हेमचन्द्रने अपने परिशिष्ट पर्वमें किया है। इसी घटनाको लक्ष्यमें रखकर डा० हर्मन जेकोबीने जैनसूत्रोंकी ,अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

'पाटलीपुत्रमें भद्रबाहुकी अनुपस्थितिमें ग्यारह अंग एकत्र किये थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही भद्रबाहुको अपना आचार्य मानते हैं। ऐसा होनेपर भी श्वेताम्बर अपने स्थविरोंकी पट्टावली भद्रबाहुके नामसे प्रारम्भ नही करते किन्तु उनके समकालीन स्थविर सम्भूतिविजयके नामसे शुरू करते हैं। इससे यह फलित होता है कि पाटलीपुत्रमें एकत्र किये गये अंग केवल श्वेताम्बरोंके ही माने गये, समस्त जैनसंघके नही।'

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि संघभेदका बीजारोपण उक्त समयमें ही हो गया था।

श्वेताम्बर साहित्यके अनुसार प्रथम जिन श्रीऋषभदेवने और अन्तिम जिन श्रीमहावीरने तो अचेलक धर्मका ही उपदेश दिया। किन्तु बीचके बाईस तीर्थङ्करोंने सचेल और अचेल दोनों धर्मोका उपदेश दिया। जैसा कि पञ्चाशकमें लिखा है—

'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य ॥१२॥'

और इसका कारण यह बतलाया है कि प्रथम और अन्तिम जिनके समयके साधु वक्रजड़ होते थे—जिस तिस बहानेसे त्याज्य वस्तुओंका भी सेवन कर लेते थे। अत: उन्होंने स्पष्टरूपसे अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित धर्मका उपदेश दिया। इसके अनुसार पार्श्वनाथके समयके साधु सवस्त्र रहते थे और उनके महावीरके संघमें मिल जानेपर आगे चलकर शिथिलाचारको प्रोत्साहन मिला और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी सृष्टि हुई। ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है। श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजीने लिखा है—

'श्रीपार्श्वनाथ और श्रीवर्धमानके शिष्योंके २५० 'वर्षके दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथके सन्तानीयोपर उस समयके आचारहीन ब्राह्मण गुरुओंका असर पडा हो और इसी कारण उन्होंने अपने आचारोमे से कठिनता निकालकर विशेष नरम और सुकर आचार बना दिये हों यह विशेष सभावित है। × × × पार्श्वनाथके बाद दीर्घ तपस्वी वर्धमान हुए। उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि जहांतक मेरा ख्याल है इस तरहका कठिन आचरण अन्य किसी धर्माचार्यने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आजतकके इतिहासमें नहीं मिलता। × × × वर्धमानका निर्वाण होनेसे परम-त्याग मार्गके चक्रवर्तीका तिरोधान हो गया और ऐसा होनेसे उनके त्यागी निर्ग्रन्थ निनायिकसे हो गये। तथापि मै मानता हूँ कि वर्धमानके प्रतापसे उनके बादकी दो पीढियोंतक श्रीवर्धमानका वह कठिन त्याग-मार्ग ठीकरूपसे चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियोंने उस त्यागमार्गको स्वीकारा था उनके लिए कुछ छूटें रखी गयी थी और उन्हें ऋजुप्राज्ञके सम्बोधनसे प्रसन्न रखा गया था। तथापि मेरी धारणामें जब वे उस कठिनताको सहन करनेमें असमर्थ निकले, और श्रीवर्धमान, सुधर्मा और जम्बू जैसे समर्थ त्यागीकी छायामें वे ऐसे दब गये थे कि किसी भी प्रकारकी ची पटाक किये बिना यथा तथा थोड़ी सी छूट लकर भी वर्धमानके मार्गका अनुसरण करते थे। परन्तु इस समय वर्धमान, सुधर्मा या जम्बू कोई भी प्रतापी पुरुष विद्यमान न होनेसे उन्होंने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वरका आचार जिनेश्वरके निर्वाणके साथ ही निर्वाणको प्राप्त हो गया। × × मेरी मान्यतानुसार संक्रान्तिकालमे ही श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका बीजारोपण हुआ है और जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद इसका खूब पोषण होता रहा है। यह विशेष संभवित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पनामात्र नही है किन्तु वर्तमान ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करनेके सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्रग्रन्थों एवं कितनेक ग्रन्थोमे प्रसङ्गोपात्त यही

बतलाया गया है कि 'जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद निम्नलिखित दस बाते विच्छिन्न हो गयी है–मन पर्ययज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाकलब्धि, ाहारक शरीर, क्षपकश्रेणि, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, तीन सयम, केवल ान और दसवाँ सिद्धिगमन।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है क जम्बू स्वामीके बाद जिनकल्पका लोप हुआ बतलाकर अबसे जिन-ल्पके आचरणको बन्द करना और उस प्रकारका आचरण करनेवालोंका त्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेखमे अन्य कोई द्देश मुझे मालूम नही देता। × × जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद जो जनकल्प विच्छेद होनेका वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करनेवालोको जिनाज्ञा बाहर समझनेकी जो स्वार्थी एवं एकतरफी दम्भी मकीका ढिंढोरा पीटा गया है बस इसीमें श्वेताम्बरता और दिगम्बरता-के विषवृक्षकी जड समायी हुई है।"

यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय यह नही मानता कि बीचके २२ तीर्थ-ङ्करोंने सचेल और अचेल धर्मका निरूपण किया था। वह तो सब तीर्थङ्करोंके द्वारा अचेल मार्गका ही प्रतिपादन होना मानता है। फिर भी पं० बेचरदासजीके उक्त विवेचनसे संघभेदके मूलकारणपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

श्वेताम्बर साहित्यमें दिगम्बरोकी उत्पत्तिके विषयमें एक कथा मिलती है जिसका आशय इस प्रकार है—"रथवीरपुरमें शिवभूति नामका एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजाके लिए अनेक युद्ध जीते थे इसलिए राजा उसका खूब सन्मान करता था। इससे वह बडा घमण्डी हो गया था। एक बार शिवभूति बहुत रात गये घर लौटा। माँ ने फटकारा और द्वार नहीं खोला। तब वह एक मठमें पहुँचा और साधु हो गया। जब राजाको इस बातकी खबर मिली तो उसने उसे एक बहुमूल्य वस्त्र भेंट किया। आचार्यने उस वस्त्रको लौटा देनेकी आज्ञा दी। किन्तु शिवभूतिने नही लौटाया। तब आचार्यने उस वस्त्र

१. जैनसाहित्यमें विकार पृ० ८७—१०५।

के टुकडे करके उनके आसन वना डाले। इसपर शिवभूति खूब क्रोधित हुआ और उसने प्रकट किया कि महावीरकी तरह मैं भी वस्त्र नही पहरूँगा। ऐसा कह उसने सव वस्त्रोंका त्याग कर दिया। उसकी वहिनने भी उसका अनुकरण किया। स्त्रियोंको नग्न न रहना चाहिये ऐसा मत शिवभूतिने तव जाहिर किया। और यह भी जाहिर किया कि स्त्री मोक्ष नही जा सकती। इस तरह महावीर निर्वाणके ६०९ वर्ष वाद वोटिकोंकी उत्पत्ति हुई और उनमेंसे दिगम्वर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।"

दिगम्वर सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार भी श्वेताम्वर सम्प्रदायकी उत्पत्ति विक्रम राजाकी मृत्युके १३६ वे वर्षमें हुई है। दोनोमें सिर्फ ३ वर्षका अन्तर होनेसे दोनोंकी उत्पत्तिका काल तो लगभग एक ही ठहरता है। रह जाती है कथाकी वात। सो महावीरके द्वारा प्रतिपादित और आचरित दिगम्वरधर्म उनके वाद एक दम लुप्त हो जाय और फिर एक क्रुद्ध साधुके नंगे हो जाने मात्रसे चल पडे और इतने विस्तृत और स्थायी रूपमें फैल जाय। यह सव कल्पनाकी वस्तु हो सकती है कन्तु वास्तविकता इससे दूर है। जो श्वेताम्वर विद्वान इस कथाको ठीक समझते है वे भी इस वातको मानते है कि पहले साधु नग्न रहते थे फिर धीरे-धीरे परिग्रह वढा।

उदाहरणके लिए श्वेताम्वर मुनि कल्याण विजयजीके शब्द ही हम यहाँ उद्धृत करते है—

"आर्यरक्षितके स्वर्गवासके वाद धीरे-धीरे साधुओंका निवास वस्तियोमे होने लगा और इसके साथ ही नग्नताका भी अन्त होता गया। पहले वस्तीमें जाते समय वहुधा कटिवन्धका उपयोग होता था। वह वस्तीमे वसनेके वाद निरन्तर होने लगा। धीरे धीरे कटि वस्त्रका भी आकार प्रकार वदलता गया। पहले मात्र शरीरका गुह्य अंग ही ढकनेका विशष ख्याल रहता था पर वादमें सम्पूर्ण नग्नता ढाँक लेनेकी जरूरत समझी गयी और इसके लिए वस्त्रका आकार प्रकार भी वदलना पड़ा।"

उपधियोंकी संख्यामें जिस क्रमसे वृद्धि हुई उसे भी मुनि कल्याण विजयजीके ही शब्दोंमें पढ़े—

"पहले प्रतिव्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था। पर आर्यरक्षित सूरिने वर्षाकालमे एक मात्रक नामक अन्य पात्र रखनेकी जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोलीमें भिक्षा लानेका रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणोंकी वृद्धि हुई। परिणाम स्वरूप स्थविरोके कुल १४ उपकरणोकी वृद्धि हुई जो इस प्रकार है—१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्र स्थापन, ४ पात्र प्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८, ९ दो चादरें, १० ऊनी वस्त्र (कम्बल), ११ रजोहरण, १२ मुखपट्टी, १३ मात्रक और १४ चोलपट्टक। यह उपधि औधिक अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमें जो कुछ उपकरण बढाये गये वे औपग्रहिक कहलाये। औपग्रहिक उपधिमें सस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकलके श्वेताम्बर जैनमुनि रखते हैं[1]।"

एक ओर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस तरह साधुओकी उपधिमें वृद्धि होती गयी, दूसरी ओर आचारांगमें जो अचेलकताके प्रतिपादक उल्लेख थे उन्हें जिनकल्पीका आचार करार दे दिया गया और जिन कल्पका विच्छेद होनेकी घोषणा करके महावीरके अचेलक मार्गको उठा देनेका ही प्रयास किया गया। तथा उत्तरकालमें[2] साधूके वस्त्रपात्रक समथन बड़े जोरसे किया गया, यहाँ तक कि नग्न विचरण करनेवाले महावीरके शरीरपर इन्द्रद्वारा देवदूष्य डलवाया गया। जैसा कि पं० बेचरदासजीने भी लिखा है—

---

१. श्रमण भगवान महावीर।

२. इसके लिए पाठकोको लेखकका लिखा हुआ 'भगवान महावीरका अचेल धर्म' नामक ट्रैक्ट देखना चाहिये।

"इस समाजके कुल गुरुओने अपने पसन्द पड़े वस्त्रपात्र वादके समर्थनके लिए पूर्वके महापुरुषोको भी चीवरधारी बना दिया है और श्रीवर्द्धमान महाश्रमणकी नग्नता न देख पड़े इस प्रकारका प्रयत्न भी किया है। इस विषयके अनेक ग्रन्थ लिखकर 'वस्त्र-पात्र' वादको ही मजबूत बनानेकी वे आजतक कोशिश कर रहे हैं। उनके लिए आपत्रादिक माना हुआ 'वस्त्र-पात्र'वादका मार्ग औत्सर्गिक मार्गके समान हो गया है। वे इस विषयमे यहाँतक दौडे हैं कि चाहे जैसे अगम्य जगलमें, भीषण गुफामें या चाहे जैसे पर्वतके दुर्गम शिखरपर भावना भाते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुए पुरुष वा स्त्रीको जैनी दीक्षाके लिए शासनदेव कपडे पहनाता है और वस्त्रके बिना केवलज्ञानीको अमहाव्रती तथा अचारित्री कहते तक भी नही हिचकिचाये। कोई मुनी वस्त्ररहित रहे ये बात उन्हें नही रुचती। इनके मतसे वस्त्र पात्रके बिना किसीकी गति ही नही होती।"

दूसरी ओर दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट घोषणा कर दी थी —

'ण'[1] वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

अर्थात् 'जिनशासनमे तीर्थङ्कर ही क्यों न हो यदि वह वस्त्रधारी है तो सिद्धिको प्राप्त नही हो सकता। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है।' साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा—

"[2]नग्गो पावइ दुक्खं नग्गो संसारसायरे भमइ।
नग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइर ॥६८॥

अर्थात्—'जिन भावनासे रहित नग्न दुःख पाता है, संसाररूपी सागरमे भटकता है और उसे ज्ञानलाभ नही होता।'

इस तरह एक ओरके शिथिलाचार और दूसरी ओरकी दृढताके कारण संघभदके बीजमे अंकुर फूटते गये और धीरे-धीरे उन्होंने वृ

1. षट् प्राभृ० ६७। 2. षट् प्राभृता० पृ० २११।

और महावृक्षका रूप धारण कर लिया। प्रारम्भमें श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका यह झगड़ा सिर्फ मुनियों तक ही था, क्योंकि उन्हींकी नग्नता और सवस्त्रताको लेकर यह उत्पन्न हुआ था। किन्तु आगे श्रावकोंकी भी क्रियापद्धतिमें उसे सम्मिलित करके श्रावकोंमें भी झगड़े-के बीज बो दिये गये जो आज तीर्थक्षेत्रोंके झगडेके रूपमें अपने विषफल दे रहे हैं। इस बातके प्रमाण मिलते है कि प्राचीन कालमें दिगम्बरी और श्वेताम्बरी प्रतिमाओंका भेद नही था। दोनों ही नग्न प्रतिमाओको पूजते थे। मुनि जिन विजयजीने (जैन हितैषी भाग १३, अंक ६ में) लिखा है—

"मथुराके कंकाली टीलामें जो लगभग दो हजार वर्षकी प्राचीन प्रतिमाएँ मिली है, वे नग्न है और उनपर जो लेख है वे श्वेताम्बर कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार है।"

इसके सिवा १७वी शताब्दीके श्वेताम्बर विद्वान पं० धर्मसागर उपाध्यायने अपने प्रवचनपरीक्षा नामक ग्रन्थमें लिखा है—

"गिरनार और शत्रुंजयपर एक समय दोनो सम्प्रदायोमें झगडा हुआ और उसमे शासन देवताकी कृपासे दिगम्बरोंकी पराजय हुई। जब इन दोनों तीर्थोपर श्वेताम्बर सम्प्रदायका अधिकार सिद्ध हो गया, तब आगे किसी प्रकारका झगडा न हो सके इसके लिए श्वेताम्बरसंघने यह निश्चय किया कि अबसे जो नयी प्रतिमाएँ बनवायी जाँय, उनके पादमूलमें वस्त्रका चिह्न बना दिया जाय। यह सुनकर दिगम्बरियोको क्रोध आ गया और उन्होने अपनी प्रतिमाओंको स्पष्ट नग्न बनाना शुरु कर दिया। यही कारण है कि सम्प्रति राजा आदिकी बनवायी हुई प्रतिमाओपर वस्त्रलाछन नही है और स्पष्ट नग्नत्व भी नही है[1]।"

इनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पहले दोनोकी प्रतिमाओंमें भेद नही था। परन्तु अब तो दोनोकी प्रतिमाओंमे इतना

१. इस तरहके अन्य प्रमाणोंके लिये 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० २४१ देखें।

अन्तर पड गया है कि उसे देखनेसे आश्चर्य होता है। पं० बेचरदासजीने लिखा है—

"यह सम्प्रदाय (श्वे० सम्प्रदाय) कटोरा कटिसूत्रवाली मूर्तिको ही पसन्द करता है उसे ही मुक्तिका साधन समझता है। वीतराग, संन्यासी-फकीरकी प्रतिमाको जैसे किसी बालकको गहनोंसे लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणोंसे श्रृंगारित कर उसकी शोभामें वृद्धि की समझता है। और परमयोगी वर्द्धमान या इतर किसी वीतरागकी मूर्तिको विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घडी वगैरहसे सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट करके अपने मानवजन्मकी सफलता समझता[2] है।"

इस तरह परस्परकी खींचातानीके कारण जैनसंघमे जो भेद पड़ा वह भेद उत्तरोत्तर बढता ही गया और उसीके कारण आगे जाकर दोनों सम्प्रदायोमें भी अनेक अवान्तर पन्थ उत्पन्न होते गये।

३—सम्प्रदाय और पन्थ

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके उपलब्ध साहित्य-के आधारसे यह पता चलता है कि विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें वि॰ जैनसघ स्पष्टरूपसे दो भागोंमे विभाजित हो गया और इस विभागका मूल कारण साधुओंका वस्त्र परिधान था। जो पक्ष साधुओंकी नग्नता का पक्षपाती था और उसे ही महावीरका मूल आचार मानता था वह दिगम्बर कहलाया। इसको मूलसघ नामसे भी कहा है। और जो पक्ष वस्त्रपात्रका समर्थन करता था वह श्वेताम्बर कहलाया। दिगम्बर शब्दका अर्थ है—दिशा ही जिसका वस्त्र है, अर्थात् नग्न। और श्वेताम्बर शब्दका अर्थ है—सफेद वस्त्रवाला। इस तरह प्रारम्भमें यद्य साधुओंके वस्त्रपरिधानको लेकर ही संघभेद हुआ किन्तु बादको उस भेदकी अन्य भी सामग्री जुटती गयी और धीरे-धीरे दोनों सम्प्रदायमें भी अनेक अवान्तर पन्थ पैदा हो गये। किन्तु भेदके कारणोपर दृष्टि

२. 'जैन साहित्यमें विकार'

'सेन' और कुछको 'भद्र' नाम दिया, जो मुनि, शाल्मलि महावृक्षके मूलसे आये थे, उनमेंसे कुछको 'गुणधर' और कुछको 'गुप्त' नाम दिया, जो खण्डकेसर वृक्षोंके मूलसे आये थे, उनमेंसे कुछको 'सिंह' और कुछको 'चन्द्र' नाम दिया[1]।

इन नामोंके विषयमें कुछ मतभेद भी है, जिसका उल्लेख भी आचार्य इन्द्रनन्दिने किया है। कुछके मतसे जो गुहाओंसे आये थे उन्हें 'नन्दि', जो अशोकवनसे आये थे उन्हें 'देव', जो पञ्चस्तूपोंसे आये थे उन्हें 'सेन', जो शाल्मलि वृक्षके मूलसे आये थे उन्हें 'वीर', और जो खण्डकेसर वृक्षोंके मूलसे आये थे उन्हें 'भद्र' नाम दिया गया। कुछके मतसे गुहावासी 'नन्दि', अशोकवनसे आनेवाले 'देव', पञ्चस्तूपवासी 'सेन', शाल्मलि वृक्षवाले 'वीर' और खण्डकेसरवाले 'भद्र' और 'सिंह' कहलाये।

इन मतभेदोंसे मालूम होता है कि आचार्य इन्द्रनन्दिको भी इस संघभेदका स्पष्ट ज्ञान नहीं था, इसीलिए इस बातका भी पता नहीं चलता कि अमुकको अमुक संज्ञा ही क्यों दी गयी। इन सब संज्ञाओंमें नन्दि, सेन, देव और सिंह नाम ही विशेष परिचित हैं। भट्टारक इन्द्रनन्दि आदिने अर्हद्‌बलि आचार्यके द्वारा इन्हीं चार संघोंकी स्थापना किये जानेका उल्लेख किया है[2]।

---

१ आचार्य इन्द्रनन्दिने इस विषयमें 'उक्तं च' करके एक श्लोक उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

"अयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवश्चान्योऽपराजित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥९६॥"

२ "तदैव यतिराजोऽपि सर्वनैमित्तिकाग्रणी।
अर्हद्‌बलिगुरुश्चक्रे संघसंघट्टनं परम् ॥६॥
सिंहसंघो नन्दिसंघः सेनसंघो महाप्रभः।
देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थितिविशेषतः ॥७॥
गणगच्छादयस्तेभ्यो जाताः स्वपरसौख्यदाः।
न तत्र भेदः कोऽप्यस्ति प्रव्रज्यादिषु कर्मसु ॥८॥" नीतिसार।

इन चार संघोंके भी आगे अनेक भेद-प्रभेद हो गये। साधारणत संघोंके भेदोंको गण और प्रभेदों या उपभेदोको गच्छ कहनेकी परम्परा मिलती है। कही-कही संघोंको गण भी कहा है, जैसे नन्दिगण, सेनगण आदि। कही-कही संघोंको 'अन्वय' भी कहा है, जैसे 'सेनान्वय'। गणोंमें बलात्कारगण, देशीयगण और काणूरगण इन तीन गणोंके और गच्छोंमें पुस्तकगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वक्रगच्छ और तगरिलगच्छके उल्लेख पाये जाते है। इन संघ, गण और गच्छोंकी प्रव्रज्या आदि क्रियायोंमें कोई भेद नही है।

किन्तु दर्शनसारमें कुछ ऐसे भी सघोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया है जिन्हें उसमें जैनाभास वतलाया गया है। वे सघ है—श्वेताम्वर, [illegible]नीय, द्राविड़, माथुर और काष्ठा। इनमेसे पहले दो सघोका वर्णन [illegible]गे किया गया है, क्योकि उनसे आचारके अतिरिक्त दिगम्वरोका सिद्धान्तभेद भी है। शेष तीन जैनसंघ दिगम्वर सम्प्रदायके ही अवान्तर संघ है तथा उनके साथ कोई महत्त्वका सिद्धान्तभेद भी नही है। दर्शनसार[1] के अनुसार वि० सं० ५२६ मे दक्षिण मथुरामें द्राविड़ संघकी उत्पत्ति हुई। इसका संस्थापक आचार्य पूज्यपादका शिष्य वज्रनन्दि था। इसकी मान्यता है कि वीजमे जीव नही रहता, कोई वस्तु प्रासुक नही है। इसने ठडे पानीसे स्नान करके और खेती वाणिज्यसे जीवन निर्वाह करके प्रचुर पापका संचय किया।

वि० सं० ७५३ मे काष्ठासंघकी उत्पत्ति हुई। इसका संस्थापक कुमारसेन मुनि था। इसने मयूरपिच्छको छोड़कर गायके बालोंकी पिच्छी धारण की थी, और समस्त वागडदेशमे उन्मार्गका प्रसार किया

१ 'सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्य कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥२४॥
वीएसु णत्यि जीवो उब्भसण णत्यि फासुग णत्थि।
सावज्ज ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पिय अट्ठ ॥२६॥
कच्छ खेत्तं वसहिं वाणिज्ज कारिऊण जीवतो।
ण्हतो सीयलणीरे पाव पउरं समज्जेदि ॥२७॥

था। वह स्त्रियोंको जिनदीक्षा देता था, क्षुल्लकोंको वीरचर्याका विधान करता था, जटा धारण करता था और एक छठा गुणव्रत (अणुव्रत) बतलाता था। इसने पुराने शास्त्रोंको अन्यथा रचकर मूढ लोकोंमें मिथ्यात्वका प्रचार किया था। इससे उसे श्रमणसघसे निकाल दिया गया था। तब उसने काष्ठा[1] सघकी स्थापना की थी।

काष्ठासंघकी स्थापनाके दो सौ वर्ष बाद मथुरामे माथुर[2] संघकी स्थापना रामसेनने की थी। इस संघके साधु पीछी नही रखते थे इसलिये यह संघ 'निष्पिच्छ' कहा जाता था।

यद्यपि इन तीनो सघोंको देवसेन आचार्यने जैनाभास कहा है किन्तु इनका बहुत-सा साहित्य उपलब्ध है और उसका पठन-पाठन भी दिगम्बर सम्प्रदायमें होता है। हरिवंश पुराणके रचयिताने आचार्य देवनन्दिके पश्चात् वज्रसूरिका स्मरण किया है और उनकी उक्तियोंको धर्मशास्त्रके प्रवक्ता गणधरदेवकी तरह प्रमाण कहा है। यह वज्रसूरि वही जान पडते है जिन्हें द्राविड सघका सस्थापक कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होता है कि दर्शनसारके रचयिताने इन्हें जैनाभास क्यो कहा? क्योंकि दर्शनसारकी रचना हरिवंश पुराणके पश्चात् वि० स० ९९० मे हुई है। इसका समाधान यह हो सकता है कि देवसेन सूरिने दर्शनसारमें जो गाथाएँ दी है, पूर्वाचार्योंकी दृष्टिमें

---

१ "आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खियओ।
सण्णासभंजणेण य अगहिय पुणदिक्खओ जादो॥३३॥
परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं घित्तूण मोहकलिदेण।
उम्मग्गं संकलियं बागडविसएसु सव्वेसु॥३४॥
इत्थीण पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्त।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं णाम॥३५॥
सो समणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परूवेदि॥३७॥"—दर्शन०

२. 'तत्तो दुसएतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण॥४०॥"—दर्शन०

द्राविड़ आदि संघोंके साधु जैनाभास ही रहे होंगे। इसीलिए दर्शनसार-के रचयिताने भी उन्हे जैनाभास बतलाया है, अन्यथा जिस शिथिला-चारके कारण उन्होंने उक्त सघोको जैनाभास कहा है, वह शिथिला-चार मूलसंघी मुनियोमे भी किसी न किसी रूपमे प्रविष्ट हो गया था। वे भी मन्दिरोंकी मरम्मत आदिके लिये गाँव जमीन आदिका दान लेने लगे थे। उपलब्ध शिलालेखोंसे यह स्पष्ट है कि मुनियोंके अधिकारमें भी गाँव बगीचे रहते थे। वे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराते थे, दान-शालाएँ बनवाते थे। एक तरहसे उनका रूप मठाधीशोके जैसा हो चला था। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि उस समयमे शुद्धा-चारी तपस्वी दिगम्बर मुनियोका सर्वथा अभाव हो गया था, अथवा सब उन्हीके अनुयायी बन गये थे। शास्त्रोक्त शुद्ध मार्गके पालनेवाले और उनको माननेवाले भी थे, तथा उसके विपरीत आचरण करनेवाले मठपतियोंकी आलोचना करनेवाले भी थे। पं० आशाधरजीने अपने अनगार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमे इन मठपति साधुओंकी आलोचना करते हुए लिखा है—'द्रव्य जिन लिंगके धारी मठपति म्लेच्छोंके समान लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करते हैं। इनके साथ मन, वचन और कायसे कोई सम्बन्ध नही रखना चाहिये।'

ये मठाधीश साधु भी नग्न ही रहते थे, इनका बाह्यरूप दिगम्बर मुनियोंके जैसा ही होता था। इन्हीका विकसितरूप भट्टारक पद है

तेरहपन्थ और बीसपन्थ

भट्टारकी युगके शिथिलाचारके विरुद्ध दिगम्बर सम्प्रदायमें ए॰ पन्थका उदय हुआ, जो तेरहपन्थ कहलाया। कहा जाता है कि इ॰ पन्थका उदय विक्रमकी सत्रहवी सदीमें पं० बनारसीदासजीके द्व॰ आगरेमे हुआ था। जब यह पन्थ तेरह पन्थके नामसे प्रचलित हो गया त॰ भट्टारकोंका पुराना पन्थ बीस पन्थ कहलाने लगा। किन्तु ये नाम क॰ पड़े यह अभी तक भी एक समस्या ही है। इसके सम्बन्धमे अनेक उप पत्तियाँ सुनी जाती है किन्तु उनका कोई प्रामाणिक आधार नही मिलता

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरेमें [य]ुक्ति प्रबोध नामका एक ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ पं० बनारसीदासजी-[क]े मतका खण्डन करनेके लिये रचा गया है। इसमे वाणारसी मतका [स्]वरूप बतलाते हुए लिखा है—

"तम्हा दिगंबराणं एए भटारगा वि णो पुज्जा।
तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥१६॥
जिणपडिमाण भूसणमल्लारुहणाइ अगपरियरण।
वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए ॥२०॥"

अर्थात्—'दिगम्बरोंके भट्टारक भी पूज्य नही है। जिनके तिल-[त]ुष मात्र भी परिग्रह है वे गुरु नही है। वाणारसी मतवाले जिन प्रति-[म]ाओंको भूषणमाला पहनानेका तथा अंग रचना करनेका भी निषेध [द]िगम्बर आगमोंकी आज्ञासे करते है।'

आजकल जो तेरह पन्थ प्रचलित है वह भट्टारकों या परिग्रहधारी [म]ुनियोंको अपना गुरु नही मानता और प्रतिमाओंको पुष्पमालाएँ चढाने [औ]र केसर लगानेका भी निषेध करता है, तथा भगवानकी पूजन [स]ामग्रीमें हरे पुष्प और फल नही चढाता। उत्तर भारतमें इस पन्थका उदय हुआ और धीरे-धीरे यह समस्त देशव्यापी हो गया। इसके [प्र]भावसे भट्टारकी युगका एक तरहसे लोप ही हो गया।

किन्तु इस पन्थभेदसे दिगम्बर सम्प्रदायमे फूट या वैमनस्यका बीजा-[र]ोपण नही हो सका। आज भी दोनों पन्थोंके अनुयायी वर्तमान है, [क]िन्तु उनमें परस्परमे कोई वैमनस्य नही पाया जाता। चूंकि आज [द]ोनों पन्थोंका अस्तित्व कुछ मंदिरोंमें ही देखनेमे आता है, अत जब [क]भी किन्ही दुराग्रहियोंमे भले ही खटपट हो जाती हो, किन्तु साधारणत: [द]ोनों ही पन्थवाले अपनी अपनी विधिसे प्रेमपूर्वक पूजा करते हुए पाये [ज]ाते है। एक दो स्थानोंमें तो २० और १३ को मिलाकर उसका आधा [क]रके साढ़े सोलह पन्थ भी चल पडा है। आजकलके अनेक निष्पक्ष [स]मझदार व्यक्ति पन्थ पूछा जानेपर अपनेको साढ़े सोलह पन्थी कह[ते] है। यह सब दोनोंके ऐक्य और प्रेमका ही सूचक है।

तारणपन्थ

परवार जातिके एक व्यक्तिने जो वादको तारणतरण स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए, ईसाकी पन्द्रहवी शताब्दीके अन्तमे इस पन्थको जन्म दिया था। सन् १५१५ में ग्वालियर स्टेटके मल्हारगढ नामक स्थानमे इनका स्वर्गवास हुआ। उस स्थानपर उनकी समाधि वनी है और उसे नशियाँजी कहते है। यह तारणपंथियोंका तीर्थस्थान माना जाता है। यह पन्थ मूर्ति-पूजाका विरोधी है। इनके भी चैत्यालय होते हैं, किन्तु उनमे शास्त्र विराजमान रहते हैं और उन्हीकी पूजा की जाती है किन्तु द्रव्य नही चढ़ाया जाता। तारण स्वामीने कुछ ग्रन्थ भी वनाये थे। इनके सिवा दिगम्बर आचार्योंके बनाये हुए ग्रन्थोंको भी तारणपन्थी मानते है। इस पन्थमें अच्छे धनिक और प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद हैं। इस पन्थके अनुयायियोंकी सख्या दस हजारके लगभग बतलाई जाती है, और वे मध्यप्रान्तमे वसते है।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय

यह पहले लिख आये है कि साधुओंके वस्त्र परिधानको लेकर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदकी सृष्टि हुई थी। अत. आजके श्वेताम्वर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। उनके पास चौदह उपकरण होते हैं—१ पात्र, २ पात्रवन्ध, ३ पात्र स्थापन, ४ पात्र प्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८-९ दो चादरे, १० ऊनी वस्त्र (कम्वल), ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्र, १३ मात्रक, १४ चोल पट्टक। इनके सिवा वे अपने हाथमे एक लम्वा दण्ड भी लिये रहते हैं। पहले वे भी नग्न ही रहते थे। वादको वस्त्र स्वीकार कर लेनेपर भी विक्रमकी सातवी आठवी शताब्दीतक कारण पड़नेपर ही वे वस्त्र धारण करते थे और वह भी केवल कटिवस्त्र। विक्रमकी आठवी शतीके श्वेताम्वराचार्य हरिभद्रसूरिने अपने संवोधप्रकरणमें अपने समयके साधुओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे विना कारण भी कटिवस्त्र वाँधते है। और उन्हे क्लीब-कायर कहा है। इस प्रकार पहले वे कारण पड़नेपर लँगोटी

रंगा लेते थे पीछे सफेद वस्त्र पहिनने लगे। फिर जिन मूर्तियोंमें भी लँगोटेका चिह्न बनाया जाने लगा। उसके बाद उन्हें वस्त्र-आभूषणोंसे सजानेकी प्रथा चलाई गई। महावीरके निर्वाणसे लगभग एक हजार वर्षके पश्चात् साधुओंकी स्मृतिके आधारपर ग्यारह अंगोंका संकलन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया गया और फिर उन्हें लिपिबद्ध किया गया। इन आगमोंको दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि स्त्रीको भी मोक्ष हो सकता है तथा जीवन्मुक्त केवली भोजन ग्रहण करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय इन दोनों सिद्धान्तोंको भी स्वीकार नहीं करता। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इन्हीं तीनों सिद्धान्तोंको लेकर मुख्य भेद हैं। संक्षेपमें कुछ उल्लेखनीय भेद निम्न प्रकार है—

१. केवलीका कवलाहार।
२. केवलीका नीहार।
३. स्त्री मुक्ति।
४ शूद्र मुक्ति।
५. वस्त्र सहित मुक्ति।
६. गृहस्थवेषमें मुक्ति।
७. अलंकार और कछोटेवाली प्रतिमाका पूजन।
८. मुनियोंके १४ उपकरण।
९. तीर्थंकर मल्लिनाथका स्त्री होना।
१०. ग्यारह अंगोंकी मौजूदगी।
११. भरत चक्रवर्तीको अपने भवनमें केवल ज्ञानकी प्राप्ति।
१२. शूद्रके घरसे मुनि आहार ले सके।
१३. महावीरका गर्भहरण।
१४. महावीर स्वामीको तेजोलेश्यासे उपसर्ग।
१५. महावीर विवाह, कन्या जन्म।
१६. तीर्थंकरके कन्धेपर देवदूष्य वस्त्र।

१७. मरुदेवीका हाथीपर चढे हुए मुक्तिगमन।
१८. साधुका अनेक घरोंसे भिक्षा ग्रहण करना।

इन बातोंको श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय नही मानता।

श्वेताम्बर चैत्यवासी

श्वेताम्बर चैत्यवासी सम्प्रदायका इतिहास इस प्रकार मिलता है–

सघभेद होनेके पश्चात् वीर नि० स० ८५० के लगभग कुछ शिथिलाचारी मुनियोंने उग्र विहार छोडकर मन्दिरोंमें रहना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इनकी सख्या बढती गयी और आगे जाकर वे बहुत प्रवल हो गये। इन्होने निगम नामके शास्त्र रचे, जिनमें यह बतलाया गया कि वर्तमान कालमें मुनियोंको चैत्योंमें रहना उचित है और उन्हे पुस्तकादिके लिये आवश्यक द्रव्य भी सग्रह करके रखना चाहिये। ये वनवासियोंकी निन्दा भी करते थे।

इन चैत्यवासियोके नियमोंका दिग्दर्शन चैत्यवासके प्रबल विरोधी श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरिने अपने 'सबोध प्रकरण' के गुर्वधिकारमे विस्तारसे कराया है। वे लिखते है—

"ये चैत्य और मठोमे रहते है, पूजा और आरती करते है, जिन-मन्दिर और शालाएँ बनवाते है, देवद्रव्यका उपयोग अपने लिए करते है, श्रावकोंको शास्त्रकी सूक्ष्म बाते बतानेका निषेध करते है, मुहूर्त निकालते है, निमित्त बतलाते है, रगीले सुगन्धित और धूपसे सुवासित वस्त्र पहिनते है, स्त्रियोके आगे गाते है, साध्वियोके द्वारा लाये गये पदार्थोंका उपयोग करते है, धनका सचय करते है, केशलोच नही करते, मिष्ट आहार, पान, घी, दूध और फलफूल आदि सचित्त द्रव्योका उप-भोग करते है। तेल लगवाते है, अपने मृत गुरुओके दाह-सस्कारके स्थानपर स्तूप बनाते है, जिन प्रतिमा बेचते है, आदि।"

वि० स० ८०२ में अणहिलपुर पट्टणके राजा चावडासे उनके गुरु शीलगुण सूरिने, जो चैत्यवासी थे, यह आज्ञा जारी करा दी कि

'इस नगरमें चैत्यवासी साधुओंको छोडकर दूसरे वनवासी साधु न आ सकेंगे। इस आज्ञाको रद्द करानेके लिए वि० सं० १०७० के लगभग जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि नामके दो विधिमार्गी आचार्योंने राजा दुर्लभदेवकी सभामें चैत्यवासियोंके साथ शास्त्रार्थ करके उन्हे पराजित किया तब कही विधिमार्गियोका प्रवेश हो सका। राजाने उन्हे 'खरतर' नाम दिया। इसी परसे खरतर गच्छकी स्थापना हुई। इसके बादसे चैत्यवासियोंका जोर कम होता गया।

श्वेताम्बरोंमे आज जो जती या श्रीपूज्य कहलाते हैं वे मठवासी या चैत्यवासी शाखाके अवशेष है और जो 'संवेगी' मुनी कहलाते हैं वे वनवासी शाखाके है। संवेगी अपनेको सुविहित मार्गका या विधिमार्गका अनुयायी कहते है।

श्वेताम्बरोमे बहुतसे गच्छ थे। कहा जाता है कि उनकी संख्या ८४ थी। किन्तु आज जो गच्छ है उनकी संख्या अधिक नही है। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके गच्छ इस प्रकार है—

१ उपकेशगच्छ—इस गच्छकी उत्पत्तिका सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथसे बताया जाता है। उन्हीका एक अनुयायी केशी इस गच्छका नेता था। आजके ओसवाल इसी गच्छके श्रावक कहे जाते है।

२ खरतरगच्छ—इस गच्छका प्रथम नेता वर्धमान सूरिको बतलाया जाता है। वर्धमान सूरिके शिष्य जिनेश्वर सूरिने गुजरातके अणहिलपुर पट्टणके राजा दुर्लभदेवकी सभामें जब चैत्यवासियोको परास्त किया और राजाने उन्हें 'खरतर' नाम दिया तो उनके नामपरसे यह गच्छ खरतर गच्छ कहलाया। इस गच्छके अनुयायी अधिकतर राजपूताने और बंगालमें पाये जाते है। मुंबई प्रान्तमे इसके अनुयायियोकी संख्या थोटी है।

३ तपागच्छ—इस गच्छके संस्थापक श्रीजगच्चन्द्र सूरि थे। सं० १२८५ में उन्होंने उग्र तप किया। इस परसे मेवाड़के राजाने उन्हें 'तपा' उपनाम दिया। तबसे इनका वृहद्गच्छ तपागच्छके नामसे

प्रसिद्ध हुआ । श्रीजगच्चन्द्र सूरि और उनके शिष्योंका देलवारा‹ प्रसिद्ध मन्दिरोंका निर्माता वस्तुपाल बड़ा सन्मान करता था इससे गुजरातमे आजतक भी तपागच्छका बड़ा प्रभाव चला आता है श्वेताम्बर सम्प्रदायमे यह गच्छ सबसे महत्त्वका समझा जाता है। इसः अनुयायी बम्बई, पंजाब, राजपूताना, मद्रास आदि प्रान्तोमे पा‹ जाते है।

श्रीजगच्चन्द्र सूरिके दो शिष्य थे, देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्र सूरि। इन दोनोंमे मतभेद हो गया। विजयचन्द्र सूरिने कठोर आचा‹ के स्थानमे शिथिलाचारको स्थान दिया। उन्होंने घोषणा की कि गीता‹ मुनि वस्त्रोकी गठडियाँ रख सकते है, हमेशा घी दूध खा सकते है, कप‹ धो सकते है, फल तथा शाक ले सकते है, साध्वी द्वारा लाया हुअ आहार खा सकते है, और श्रावकोंको प्रसन्न करनेके लिए उनके स‹ बैठकर प्रतिक्रमण भी कर सकते है।

४ पार्श्वचन्द्र गच्छ—यह तपागच्छकी शाखा है। त‹ आचार्य पार्श्वचन्द्र वि० सं० १५१५ में इस गच्छसे अलग हो गये कारण यह था कि इन्होने कर्मके विषयमे नया सिद्धान्त खडा कि‹ था और निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और छेद ग्रन्थोंको प्रमाण नही म‹ थे। इस गच्छके अनुयायी अहमदाबाद जिलेमें पाये जाते है।

५ सार्धं पौर्णमीयक गच्छ—पौर्णमीयक गच्छकी स्थापना चन्द्रप्र‹ सूरिने की थी। कारण यह था कि प्रचलित क्रिया-काण्डसे उनक‹ मतभेद था तथा वे महानिशीथ सूत्रकी गणना शास्त्रग्रन्थोंमें न‹ करते थे। आचार्य हेमचन्द्रकी आज्ञासे राजा कुमारपालने इस ग‹ अनुयायियोंको अपने राज्यमेसे निकलवा दिया था। इन दोनो‹ मृत्युके बाद एक सुमतिसिंह नामके पौर्णमीयक कुमारपालकी र‹ धानी अणहिलपुरमे आये और उन्होने इस गच्छको नवजीवन दिया तबसे यह गच्छ सार्धं पौर्णमीयक कहलाया। इस गच्छके अ‹ आज नही पाये जाते।

६ अंचल गच्छ—इस गच्छके संस्थापक उपाध्याय विजयसिंह । पीछे वे आर्यरक्षित सूरिके नामसे विख्यात हुए। इस गच्छमें ुखपट्टीके बदले अंचलका (वस्त्रके छोरका) उपयोग किया ाता है इससे इसका नाम अचल गच्छ पड़ा है।

७ आगमिक गच्छ—इस गच्छके संस्थापक शीलगुण और देवभद्र । पहले ये पौर्णमीयक थे पीछेसे आंचलिक हो गये थे। ये क्षेत्र-ालकी पूजा करनेके विरुद्ध थे। विक्रमकी १६ वी शतीमें इस गच्छकी क शाखा कटुक नामसे पैदा हुई। इस शाखाके अनुयायी केवल ावक ही थे।

इन गच्छोंमेंसे भी आज खरतर, तपा और आंचलिक गच्छ ही र्तमान हैं। प्रत्येक गच्छकी साधु-सामाचारी जुदी जुदी है। श्राव-ोंकी सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाविधि भी जुदी ुदी है। फिर भी सबमें जो भेद है वह एक तरहसे निर्जीव-सा है। ोई कल्याणक दिन छै मानता है तो कोई पाँच मानता है। कोई र्युषणका अन्तिम दिन भाद्रपद शुक्ला चौथ और कोई पंचमी मानता । इसी तरह मोटी बातोको लेकर गच्छ चल पड़े है।

स्थानकवासी

सिरोही राज्यके अरहट वाडा नामक गाँवमें, हेमाभाई नामक ोसवालके घरमें, विक्रम सम्वत् १४७२ में लोंकाशाहका ान्म हुआ। २५ वर्षकी अवस्थामे लोंकाशाह स्त्री-पुत्रके साथ ोहमदाबाद चले आये। उस समय अहमदाबादकी गद्दीपर ुहम्मदशाह बैठा था। कुछ जवाहरात खरीदनेके प्रसंगसे लोंकाशाह-ोा परिचय मुहम्मदशाहसे होगया और मुहम्मदशाहने लोंकाशाह-ाी चातुरीसे प्रसन्न होकर उन्हें पाटनका तिजोरीदार बना दिया। ि दिपद्वारा मुहम्मदशाहकी मृत्यु होनेपर लोंकाशाहको बहुत ोद हुआ। उन्होंने नौकरी छोड़ दी और लेखन कार्यमें लग गये। ािनके सुन्दर अक्षरोंसे आकृष्ट होकर ज्ञानश्री नामक मुनिराजने

दश वकालिक सूत्रकी एक प्रति लिखनेके लिये दी। फिर तो मुनिश्री·
पाससे अन्य शास्त्र भी लिखनेके लिये आने लगे। और वे उनकी द
प्रतियाँ करके एक अपने पास रखने लगे। इस तरह अन्य ग्रन्थोंव
भी संग्रह करके लोंकाशाहने उनका अभ्यास किया। उन्हे लगा f
आज मन्दिरोमे जो मूर्ति पूजा प्रचलित है वह तो इन ग्रन्थोमे नही है।
इसके सिवा जो आचार आज जैनधर्ममे पाले जाते है उनमेसे अने
इन ग्रन्थोकी दृष्टिसे धर्मसम्मत नही है। अत. उन्होने जैनधर्म
सुधार करनेका बीडा उठाया।

अहमदाबाद गुजरातकी राजधानी होनेके साथ व्यापारका ३
केन्द्र था। अत. व्यक्तियोंका आवागमन लगा ही रहता था। उ
वहाँ आते थे लोंकाशाहका उपदेश सुनकर प्रभावित होते थे। ज:
कुछ लोगोने उनसे अपने धर्ममें दीक्षित करनेकी प्रार्थना की तो लो
शाहने कहा मै स्वयं गृहस्थ होकर आपको अपना शिष्य कैसे बन
सकता हूँ। तब ज्ञानजी महाराजने उन्हे धर्मकी दीक्षा दी
और उन्होने लोंकाशाहके नामपर अपने गच्छका नाम लोंकागच्छ
रखा। इस तरह लोंकागच्छकी उत्पत्ति हुई।

पीछेसे लोंकामतमे भी भेद-प्रभेद हो गये। सूरतके एक
साधुने लोकमतमे सुधार कर एक नये सम्प्रदायकी स्थापना
जो ढूँढिया सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। पीछेसे लोंकाके स
अनुयायी ढूँढिया कहे जाने लगे। इन्हे स्थानकवासी भी कहते
क्योंकि ये अपना सब धार्मिक व्यवहार मन्दिरमे न करके स्थान
यानी उपाश्रयमें करते है। इस सम्प्रदायके माननेवाले गुजर
काठियावाड, मारवाड, मालवा, पजाब तथा भारतके अन्य भाग
रहते है। इनकी सख्या मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोके जितनी ही
अत इस सम्प्रदायको जैनधर्मका तीसरा सम्प्रदाय कहा जा सकता
किन्तु ये अपनेको श्वेताम्बर ही मानते है, क्योंकि कुछ मतभेद
यदि छोड़ दिया जाये तो श्वेताम्बरोसे ही इनका मेल अधिक खाता

यह सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके ही ४५ आगमोंमेंसे ३३ आगमोंको
नता है। लोकाने तो ३१ आगम ही माने थे—व्यवहारसूत्रको वह
ाण नहीं मानता था। किन्तु पीछेकेस्थानक वासियोंने उसे प्रमाण
न लिया। धर्माचरणमे स्थानकवासी श्वेताम्बरोसे भिन्न पड़ते
। वे मूर्तिपूजा नही मानते, मन्दिर नही रखते और न तीर्थयात्रामें
विशेष श्रद्धा रखते हैं। इस सम्प्रदायके साधु सफेद वस्त्र धारण
रते है तथा मुखपर पट्टी बाँधते हैं। इन अमूर्तिपूजक श्वेता-
र साधुओंसे भेद दिखानेके लिए सत्यविजय पंन्यासने अठारहवीं
दीमे मूर्तिपूजक श्वेताम्बर साधुओंको पीला वस्त्र धारण करनेका
वाज चालू किया, जो अब भी देखनेमे आता है। इसी सदीके
न्तमें भट्टारकोंकी गद्दियाँ हुई और यति तथा यतिनियाँ हुई। खूब
रोध होनेपर भी इनके अवशेष आज भी मौजूद है।

मूर्तिपूजाविरोधी तेरापन्थ

मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदायमे भी अनेक पन्थ प्रचलित हुए,
ानमेंसे उल्लेखनीय एक तेरापन्थ है। इस पन्थकी स्थापना मारवाड़
आचार्य भिक्षु (भीखम ऋषि) ने की थी।

आचार्य भिक्षुका जन्म जोधपुर राज्यके अन्तर्गत कन्टालिया
ाममें सं० १७८३ में हुआ था। सं० १८०८ मे इन्होने जैनी दीक्षा
ग्रहण की। उन्हे लगा कि जिस अहिंसाकी साधनाके लिये हम सब
कुछ त्याग कर निकले है, यथार्थमें उस अहिंसाके समीप भी नही
पहुँचे हैं। जीवन व्यवहारमें अहिंसाके नामपर हिंसाको प्रश्रय
ती है और धर्मके नामपर अधर्मको। अतः उन्होने एक नवीन साधु
संघकी स्थापना की, जो 'तेरापन्थ' कहलाया।

इस पथमें साधुसंघके अधिपति पूज्यजी महाराज होते हैं।
साधुओंको उनकी आज्ञा माननी पड़ती है और प्रतिदिन विधिपूर्वक
उनका सन्मान करना होता है। इस पन्थका प्रचार पश्चिम भारतमें
अधिक है, कलकत्ता जैसे नगरोंमें भी इस पन्थके श्रावक रहते हैं।

३ यापनीय संघ

जैनधर्मके दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंसे तो साधारणत सभी परिचित हैं। किन्तु इस बातका पता जैनोमेसे भी कम हैं को है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिर यापनीय या गोप्यसंघ कहते थे।

यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन है। दर्शनसारके[1] कर्ता श्री देवसेनसूरिके कथनानुसार वि० सं २०५ मे श्रीकलश नामके श्वेताम्बर साधुने इस सम्प्रदायकी स्थापना की थी। यह समय दिगम्बर श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्तिसे लगभग ७० वर्ष बाद पडता है।

किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आस पास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशोंके राजाओं इसे और इसके आचार्योको अनेक दान दिये थे।

यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे, मोरके पंखोंकी पिच्छी रखते थे और हाथम ही भोजन करते थे। ये नग्न मूर्तियोको पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको 'धर्म-लाभ' देते थे। ये सब बातें तो इनमें दिगम्बरों जैसी ही थी, किन्तु साथ ही साथ वे मानते थे स्त्रियोंको उसी भवमे मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन कर हैं। वैयाकरण शाकटायन (पाल्यकीर्ति) यापनीय थे। इनकी अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोसे मालूम होता है कि यापनीय संघ आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, और दशवैकालिक आदि ग्रन्थोंका पठन पाठन होता था, अर्थात् इन बातोमे वे श्वेताम्बरोके समान थे। श्वेताम्बर मान्य जो आगमग्रन्थ हैं यापनीय संघ संभवत उन सभीको मानता किन्तु उनके आगमोंकी वाचना श्वेताम्बर सम्प्रदायमे मानी जानेवा वलभी वाचनासे शायद कुछ भिन्न थी। उनपर उसकी टीकाएँ भी सकती हैं जैसा कि अपराजितसूरिकी दशवैकालिक सूत्रपर टीका थी

---

१ "कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पच उत्तरे जादे।
जावणियसघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२९॥"

आज इस सम्प्रदायका एक भी अनुयायी नही है। इसका लोप कब और किन किन कारणोसे हुआ, यह बतला सकना कठिन है, फिर भी विक्रमकी पन्द्रहवी शताब्दी तक इस सम्प्रदायके जीवित रहनेके प्रमाण मिलते है; क्योंकि कागवाडेके श० स० १३१६ (वि० स० १४५१) के शिलालेखमें यापनीयसघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधिलेखोका उल्लेख है।

४ अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

श्री रत्ननन्दि आचार्यने अपने भद्रबाहु चरित्रमें अर्द्धस्फालक सम्प्रदायका उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है कि यह अद्भुत अर्द्धस्फालक मत कलिकालका बल पाकर जलमे तेलकी बूंदकी तरह सब लोगोमे फैल गया।[1] उन्होंने इस मतको श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके अन्तमें उत्पन्न हुआ बतलाया है और अन्तमें लिखा है कि वल्लभीपुरमे पूरी तरहसे श्वेतवस्त्र ग्रहण करनेके कारण विक्रम राजाके मृत्युकालसे १३६ वर्षके बाद श्वेताम्बरमत प्रसिद्ध हुआ। श्रीरत्ननन्दिके मतसे कुछ दिगम्बर मुनियोंने जब अपनी नग्नताको छिपानेके लिए खण्ड वस्त्र स्वीकार कर लिया तो उनसे अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। और अर्द्धस्फालक सम्प्रदायसे ही श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन पुरातत्त्वमें कुछ ऐसे आयागपट प्राप्त हुए है, जिनमे जैन साधु यद्यपि नग्न अंकित है परन्तु वे अपनी नग्नताको एक वस्त्रखण्डसे छिपाये हुए हैं प्लेट न० २२ मे कण्ह श्रमणका चित्र अंकित है, उनके बायें हाथकी कलाईपर एक वस्त्रखण्ड लटक रहा है जिसे आगे करके वे अपनी नग्नताको छिपाये हुए हैं। यही अर्द्धस्फालक सम्प्रदायका रूप जान पडता है।

---

(१) "अतोऽर्द्धफालकं लोके व्यानसे मतमद्भुतम्।
कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत् ॥२०४॥"

उधर श्वेताम्बर[1] भी कहते है कि छठे स्थविर भद्रबाहुके समयमे अर्द्धस्फालक सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। इनमेसे ई० स० ८० मे दिगम्बरोका उद्भव हुआ जो मूलसघ कहलाया।

इससे भी इस सम्प्रदायका अस्तित्व सिद्ध होता है। अब रह जाता है यह प्रश्न कि अर्द्धस्फालक श्वेताम्बरोके पूर्वज है या दिगम्बरोके इसका समाधान भी मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे ही हो जाता है। वहाँके एक शिलापट्टमे भगवान् महावीरके गर्भपरिवर्तनका दृश्य अंकित है और उसीके पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधुकी है जिसकी कलाईपर खण्ड वस्त्र लटकता है। गर्भापहार श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है अत स्पष्ट है कि उसके पास अकित साधुका रूप भी उसी सम्प्रदायमान्य है।

उपसंहार

सारांश यह है कि मुख्यरूपसे जैनधर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओमें विभाजित हुआ। पीछेसे प्रत्येकमे अनेक गच्छ, उपशाखा और उपसम्प्रदाय आदि उत्पन्न हुए। फिर भी सब महावीर भगवान्‌की सन्तान है और एक वीतराग देवके ही माननेवाले है।

---

१ 'जैन सस्कृतिका प्राणस्थल, 'विश्ववाणी' सितम्बर १९४२।

७—विविध

१ कुछ जैनवीर

कुछ लोगोंकी धारणा है कि जैन हो जानेसे मनुष्य राष्ट्रके कामका नही रहता, बल्कि राष्ट्रका भार बन जाता है। किन्तु यह धारणा एकदम गलत है। देशकी रक्षाके लिये एक सच्चा जैन सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। प्राचीन समयमे देशकी रक्षाका भार क्षत्रियोपर था। वे प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करते थे और अपराधियोंको प्राणदण्डतक देते थे। सभी जैन तीर्थङ्करोने क्षत्रियकुलमें जन्म लिया था और उनमेंसे पाँच तीर्थङ्करोंके सिवाय, जो कुमार अवस्थामें ही प्रव्रजित होगये थे, शेष सभीने प्रव्रज्या ग्रहणसे पूर्व अपने पैतृक राज्यका संचालन और संवर्धन किया था। उनमेंसे तीन तीर्थङ्करोने तो दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। बाईसवे तीर्थङ्कर नेमीनाथ श्रीकृष्णके चचेरे भाई थे और गृहपरित्यागसे पूर्व युवावस्थामें वे महाभारतके युद्धमें पाण्डवोकी ओरसे लड़े भी थे। जैन पुराण युद्धोंके वर्णनसे भरे पड़े है। प्राचीन युगके वैश्य भी न केवल युद्धोमें भाग लेते थे, किन्तु सेनाके नायकतक बनते थे। शिशुनाग वंशी राजा श्रेणिक (बिम्बसार) के नगरसेठ अर्हद्दासके पुत्र जम्बुकुमारके, जिन्होंने युवावस्थामें जिनदीक्षा धारण की और अन्तिम केवली हुए, युद्ध करनेके वर्णन जैन शास्त्रोंमे वर्णित है।

आज यद्यपि जैनधर्मके अनुयायी केवल वैश्य देखे जाते है किन्तु जिन वैश्य जातियोमें जैनधर्म पाया जाता है, उनमेसे अनेक जातियाँ पहले क्षत्रिय थी, राज्यसत्ता चली जाने और व्यवसायके बदल जानेसे वे अब वैश्य जातियाँ बन गई है। अत क्षत्रियोका धर्म आज बनियोका धर्म बन गया है। इस पुस्तकके 'इतिहास' विभागमें जैनधर्मके अनु-

यायी राजाओंकी चर्चा धार्मिक दृष्टिसे की गई है। यहाँ उन तथा कुछ अन्य जैन वीरोंका वर्णन वीरताकी दृष्टिसे किया जाता है।

राजा चेटक

भगवान् महावीरकी माता राजा चेटक की पुत्री थी। राजा चेटक अपने शौर्यके लिए प्रख्यात था। एक वार चेटकके दौहित्र मगधसम्राट् कुणिक (अजातशत्रु) ने चेटककी वृद्धावस्थामे चेटकके विरुद्ध आक्रमण कर दिया था। चेटकने घमासान युद्ध करके अजातशत्रुके दाँत खट्टे कर दिये थे।

राजा उदयन

सिन्धु-सौवीरका राजा उदयन महावीर भगवान्का अनुयायी था। यह राजा जैसा धर्मात्मा था वैसा ही वीर भी था। एकवार उज्जैनीके राजा चण्डप्रद्योतने उसपर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ और उदयनने प्रद्योतको पकड़कर अपना वन्दी वना लिया।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त

मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तका नाम तो भारतीय इतिहासमे स्वर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ है। सिकन्दरकी मृत्युके वाद इस वीरने भारतवर्षको यूनानियोंकी दासतासे मुक्त किया और युद्धभूमिमें यूनानी सेनापति सेल्युकसको पराजित करके हिन्दूकुश पहाड़तक अपने साम्राज्यका विस्तार किया।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल

राजा खारवेलके शिलालेखसे मालूम होता है कि खारवेलने सातकर्णिकी कुछ भी परवाह न करके पश्चिमकी ओर अपनी सेना भेजी। फिर मूषिकोंपर आक्रमण किया। सातकर्णि और मूषिकों पर विजय प्राप्त करके राष्टिकों और भोजकोंसे अपने पैर पुजवाये। फिर मगधपर आक्रमण किया। दक्षिणके पाण्ड्यराजाने हाथी घोड़े मणि, मुक्ता आदि भेटमे देकर खारवेलका आधिपत्य स्वीकार किया। ऐसा प्रवल पराक्रमी जैनराजा खारवेलके पश्चात् दूसरा नही हुआ।

महाराज कुमारपाल

चित्तौडके किलेसे प्राप्त शिलालेखमें लिखा है कि महाराज कुमारपालने अपने प्रबल पराक्रमसे सब शत्रुओंको निर्मद कर दिया। उनकी आज्ञाको पृथ्वीके सब राजाओंने मस्तक पर चढाया। उसने शाकम्भरीके राजाको अपने चरणोंमें नमाया। वह स्वयं अस्त्र लेकर सवालक्ष देश (मारवाड) पर्यन्त चढा और सब गढपतियोंको नमाया। सालपुरको भी वशमें किया। महाराज कुमारपाल गुजरातके राजा थे।

गंगनरेश मारसिंह

गंगनरेश मारसिंह भी जैसा धर्मात्मा था वैसा ही शूर-वीर भी था। इसने कृष्णराज तृतीयके भयानक शत्रु अल्लाहका मान-मर्दन किया। और कृष्णराजकी सेनाकी रक्षा की। किरातोंको भगाया। वज्जालको हराया। वनवासीके अधिकारीको पकड़कर उसपर अधिकार किया। मथुराके राजाओंसे विनय प्राप्त की। नोलम्ब राजाओंको नष्ट किया। चालुक्य राजकुमार राजादित्यको हराया। तापी, मान्यखेड, गोनूर, वनवासी आदिकी लड़ाइयोंको जीता। इसकी गंगचूडामणि, नोलम्बान्तक, माण्डलीक त्रिनेत्र, गंगविद्याधर, गंगवज्र आदि अनेक उपाधियाँ थी।

समरकेसरी चामुण्डराय

यह राजा राचमल्लके सेनापति थे। राजा इनकी वीरतासे बडा प्रसन्न था। जब इन्होंने वज्जलदेवको हराया तो समरधुरन्धरकी पदवी पाई। नोलम्ब युद्धमें सफल होनेपर वीरमार्तण्ड कहलाये। उच्छंगके किलेको जीत लेनेपर रणरायसिंह हुए। बागपुरके किलेमें त्रिभुवनवीरको मार डालनेपर वैरी-कुल-काल-दण्डकी उपाधि पाई। गंगभट्टको युद्धमें मारनेपर समरपरशुराम हुए। सत्यवादी होनेसे सत्य युधिष्ठिर कहे जाते थे।

धनराज

जब १७८७ ई० में अजमेरके महाराजा विजयसिंहने अजमेरको मरहठोंसे पुन. जीत लिया तो धनराज सिंघीको, जो ओसवाल जैन थे, अजमेरका गवर्नर बनाया। चार सालके बाद मरहठोंने पुन मारवाड़पर आक्रमण किया। इसी बीच मरहठा सरदारने अजमेरको भी चारों ओरसे घेर लिया। धनराजने अपनी छोटी-सी सेनासे शत्रुका सामना बड़ी वीरतासे किया किन्तु मरहठोंकी शक्ति देखकर विजयसिंहने धनराजको आज्ञा दी कि अजमेर मरहठोंको सौंपकर जोधपुर चले आओ। धनराज न तो अपमानित होकर शत्रुको देश सौंपना चाहता था और न स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करना चाहता था। उसने हीरेकी कनी खाकर प्राण त्याग दिये और मरते समय चिल्लाया—महाराजसे कह देना मैंने उनकी आज्ञाका पालन किया। मेरे जीतेजी मरहठे अजमेरमें प्रवेश नहीं कर सकते थे।

जनरल इन्द्रराज

जैन ओसवालोंमें इन्द्रराज सबसे बड़े जनरल हुए हैं। इन्होंने बीकानेरके राजाको हराया और जयपुरके राजाका मान भंग किया। सन् १८१५ में इनका स्वर्गवास जोधपुरमें हुआ।

वस्तुपाल तेजपाल

जैन मंत्रियों और सेनापतियोंमें वस्तुपाल तेजपालका नाम उल्लेखनीय है। ये दोनों भाई राजनीतिके पण्डित, तलवारके धनी शिल्पकलाके प्रेमी और जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। ये पोरवाड जैन थे और गुजरातके बघेलवंशी राजा वीरधवलके मन्त्री थे।

देवगिरिके यादववंशी राजा सिंहनने जब गुजरातपर आक्रमण किया तो इन वीरोंने उनसे युद्ध करके विजय प्राप्त की। इसी प्रकार संग्रामसिंहने खम्भातपर हमला किया तो वस्तुपाल वहांका गवर्नर था। घमासान युद्ध हुआ और संग्रामसिंहको युद्ध क्षेत्रसे भागना पड़ा

सेनापति आभू

आभू श्रीमाली जैन राजपूत था। वह पक्का धर्माचरणी था। गुजरातके अन्तिम सोलंकी राजा भीमदेवका सेनाध्यक्ष था। अभी वह इस पदपर नया ही नियुक्त हुआ था और भीमदव अनुपस्थित थे। ऐसे समयमें मुसलमानोंने राजधानीपर आक्रमण कर दिया। रानीको चिता हुई किन्तु आभूके उत्साहप्रद वचनोंसे विश्वस्त होकर रानीने युद्धकी घोषणा कर दी और युद्धका भार आभूको सौंप दिया।

आभू अपने दैनिक धर्म-कर्मका बडा पक्का था। युद्धके मैदानमे सन्ध्या होते ही वह तलवार म्यानमें रखकर हाथीके हौदेपर ही आत्म-ध्यानमे लीन हो गया। यह देखकर लोग कहने लगे कि यह जैनी क्या लडेगा। किन्तु नित्यकृत्य करनेके बाद ही सेनापतिकी तलवार चमकने लगी और मुसलमानोंके सेनापतिको हथियार डालकर सन्धिकी प्रार्थना करनी पड़ी।

जयपुर के जैन दीवान

जयपुर राज्यके दीवान पदको बहुत वर्षोंतक जैनोंने सुशोभित किया है, और राज्यको अनुशासित, सुखी तथा समृद्ध करनेमें स्तुत्य हाथ बटाया है तथा उसकी रक्षाके लिए बहुत कुछ किया है। यहाँ एक दो उदाहरण दिये जाते है।

जब औरगजेबका पुत्र बहादुरशाह भारतका सम्राट् बना तो उसने आमेरपर कब्जा कर लिया और सवाई जयसिहको राज्य छोडना पड़ा, तब दीवान रामचन्द्रने सेना सगठित करके आमेरपर चढाई कर दी और आमेरपर पुन. जयसिहका अधिकार हो गया।

इसी तरह दीवान रायचन्दजी छावड़ा भी जयपुर नरेशके प्रिय और विश्वासपात्र थे। स० १८६२ मे जव जयपुर और जोधपुरमे उदयपुरकी राजकुमारीको लेकर झगडा हुआ तव जोधपुरमें वख्शी सिंघी इन्द्रराज और दीवान रायचन्दने मिलकर झगडेको खत्म किया। किन्तु बादको लड़ाईकी नौबत आगई और दीवान रायचन्द-

ने बुद्धि-कौशल और शस्त्र-कौशलसे उसे निवटाया । ये दीवा वडे धर्मात्मा थे । इन्होने १८६१ मे एक बहुत वडी बिम्ब प्रतिष्ठा कराई थी ।

इस तरह संक्षेपमें कुछ जैनवीरोंकी यह कीर्ति-गाथा है, ज बतलाती है कि जैन धर्मानुयायी आवश्यकता पड़नेपर मरने औ मारनेके लिये भी तत्पर रहते हैं। क्योकि 'जे कम्मे सूरा ते धम्म सूरा' जो 'कर्मवीर होते हैं वही धर्मवीर होते हैं' ऐसा शास्त्र वाक्य है ।

२ जैनपर्व

दशलक्षण या पर्युषणपर्व

जैनोंका सबसे पवित्र पर्व दशलक्षण पर्व है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे चतुर्दशीतक तथा श्वे० में भाद्रकृ० १२ से भाद्रशु० ४ तक मनाया जाता है । इन दिनोंमें जैन मन्दिरोंमें खूब आनन्द छाया रहता है। प्रतिदिन प्रात कालसे ही सब स्त्री-पुरुष स्नान करके मंदिरोंमें पहुँच जाते है और वड़े आनन्दके साथ भगवान्का पूजन करते हैं। पूजन समाप्त होनेपर प्रतिदिन श्री तत्त्वार्थसूत्रके दस अध्यायोंमेंसे एक एक अध्यायका व्याख्यान और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मोमेंसे एक एक धर्मका विवेचन होता है। इन दस धर्मोंके कारण इस पर्वको दशलक्षणपर्व कहते हैं, क्योंकि धर्मके उक्त दस लक्षणोंका इस पर्वमें खासतौरसे आराधन किया जाता है। व्याख्यानके लिये वाहरसे वड़े वडे विद्वान् बुलाये जाते है, और प्राय सभी स्त्री-पुरुष उनके उपदेशसे लाभ उठाते हैं। त्याग धर्मके दिन परोपकारी संस्थाओको दान दिया जाता है और आश्विन कृष्णा प्रतिपदाके दिन पर्वकी समाप्ति होनेपर सब पुरुष एकत्र होकर परस्परमें गले मिलते हैं और गतवर्षकी अपनी गलतियोंके

लिए परस्परमे क्षमायाचना करते है। जो लोग दूर देशान्तरमें बसते है उन्हे पत्र लिखकर क्षमायाचना की जाती है।

इन दिनोंमे प्राय. सभी स्त्री-पुरुष अपनी अपनी शक्तिके अनुसार व्रत उपवास वगैरह करते है। कोई कोई दसों दिन उपवास करते है, वहुतसे दसों दिन एक वार भोजन करते है। इन्ही दिनोंमे भाद्रपद शुक्ला दशमीको सुगन्धदशमी पर्व होता है, इस दिन सब जैन स्त्री पुरुष एकत्र होकर मन्दिरोंमें धूप देनेके लिये जाते है; इन्दौर वगैरहमे यह उत्सव दर्शनीय होता है।

भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी अनन्त चतुर्दसी कहलाती है। इसका जैनोंमे वड़ा महत्त्व है। जैनशास्त्रोके अनुसार इस दिन व्रत करनेसे वड़ा लाभ होता है। दूसरे, यह दशलक्षण पर्वका अन्तिम दिन भी है, इसलिये इस दिन प्राय सभी जैन स्त्री-पुरुष व्रत रखते है और तमाम दिन मन्दिरमे ही विताते है। अनेक स्थानोंपर इस दिन जलूस भी निकलता है। कुछ लोग इन्द्र वनकर जलूसके साथ जल लाते है और उस जलसे भगवान्का अभिषेक करते है। फिर पूजन होता है और पूजनके बाद अनन्त चतुर्दशीव्रत कथा होती है। जो व्रती निर्जल उपवास नही करते वे कथा सुनकर ही जल ग्रहण करते है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इसे 'पर्युषण' कहते है। साधुओंके लिये दस प्रकारका कल्प यानी आचार कहा है उसमे एक 'पर्युषणा' है। 'परि' अर्थात् पूर्ण रूपसे, उषणा अर्थात् वसना। अर्थात् एक स्थान, पर स्थिर रूपसे वास करनेको पर्युषणा कहते है। उसका दिनमान तीन प्रकारका है। कमसे कम ७० दिन, अधिकसे अधिक ६ मास और मध्यम ४ मास। कमसे कम ७० दिनके स्थिरवासका प्रारम्भ भाद्रपद सुदी पञ्चमीसे होता है। पहले यही परम्परा प्रचलित थी किन्तु कहा जाता है कि कालिकाचार्यने चौथकी परम्परा चालू की। उस दिनको 'सवछरी' यानी सांवत्सरिक पर्व कहते है। सावत्सरिक पर्व अर्थात् त्यागी साधुओके वर्षावास निश्चित करनेका दिन। सांव-

त्सरिक पर्वको केन्द्र मानकर उसके साथ उससे पहलेके सातदिन मिलकर भाद्रपद कृष्ण १२ से शुक्ला चौथतक आठ दिन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'पर्युषण' कहे जाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें आठके बदले दस दिन माने जाते हैं। और श्वेताम्बरोंके पर्युषण पूरा होनेके दूसरे दिनसे दिगम्बरोंका दशलाक्षणी पर्व प्रारम्भ होता है। सांवत्सरिक पर्वमें गतवर्षमें जो कोई वैर विरोध एक दूसरेके प्रति हो गया हो, उसके लिये 'मिच्छामि दुक्कडं' 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर क्षमायाचना की जाती है। इस पर्वका सन्मान मुगलबादशाह भी करते थे। सम्राट् अकबरने जैनाचार्य हीरविजय सूरिके उपदेशसे प्रभावित होकर पर्युषण पर्वमें हिंसा बन्द रखनेका फर्मान अपने साम्राज्यमें जारी किया था।

अष्टाह्निका पर्व

दिगम्बर सम्प्रदायका दूसरा महत्त्वपूर्ण पर्व अष्टाह्निका पर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आसाढ मासके अन्तके आठ दिनोंमें मनाया जाता है। जैन मान्यताके अनुसार इस पृथ्वीपर आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। उस द्वीपमें ५२ जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करनेके लिये स्वर्गसे देवगण उक्त दिनोंमें जाते हैं। चूंकि मनुष्य वहाँ तक जा नहीं सकते इसलिये वे उक्त दिनोमें पर्व मनाकर यहीपर पूजा कर लेते हैं। इन्हीं दिनोंमें सिद्धचक्र पूजा विधानका आयोजन किया जाता है। यह पूजा महोत्सव दर्शनीय होता है। श्वेताम्बरोंमें भी पर्युषणके बाद सबसे महत्वका जैन पर्व सिद्धचक्र पूजा विधान ही है। किन्तु उनमें यह पूजा वर्षमें दो बार—चैत्र और आसोजमें होती है और सप्तमीसे पूनम तक ९ दिन चलती है।

महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भगवान् महावीरकी जन्मतिथि है। उस दिन भारतवर्षके सभी जैन अपना कारोबार बन्द रखकर अपने-अपने स्थानोंपर बड़ी धूम-धामसे महावीरकी जयन्ती मनाते हैं। प्रातःकाल

जलूस निकालते हैं और रात्रिमें सार्वजनिक सभाका आयोजन होता है। भारत भरमें बहुत-सी प्रान्तीय सरकारोंने अपने प्रान्तमें महावीर जयन्तीकी छुट्टी घोषित कर दी है। केन्द्रीय सरकारसे भी जैनोंकी यही माँग है।

वीरशासन जयन्ती

जैनोंके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरको पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर उनकी सबसे पहली धर्मदेशना मगधकी राजगृही नगरीके विपुलाचल पर्वतपर प्रातःकालके समय हुई थी। उसीके उपलक्षमें प्रतिवर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको वीर शासन जयन्ती मनाई जाती है। गत वि० सं० २००१ में पहले राजगृहीमें और बादको कलकत्ता-मे अढाई हजारवाँ वीर शासन महोत्सव बडी धूम-धामसे मनाया गया था।

श्रुत पञ्चमी

दिगम्बर सम्प्रदायमें धीरे-धीरे जब अंग ज्ञान लुप्त हो गया तो अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। वे सोरठ देशके गिरनार पर्वतकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। उन्हे इस बातकी चिन्ता हुई कि उनके बाद श्रुत ज्ञानका लोप हो जायेगा, अतः उन्होंने महिमा नगरीमें होनेवाले मुनि सम्मेलनको पत्र लिखा, जिसके फल-स्वरूप वहाँसे दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हे सिद्धान्त पढाया और विदा कर दिया। उन दोनो मुनियोंका नाम पुष्पदन्त और भूतबलि था। उन्होंने वहाँसे आकर षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रन्थकी रचना की। रचना हो जानपर भूतबलि आचार्यने उसे पुस्तकारूढ करके ज्येष्ठ[1] शुक्ला पंचमी-

---

१. "ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेत।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥" इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार।

के दिन चतुर्विध संघके साथ उसकी पूजा की, जिससे श्रुत पञ्चमी तिथि दि० जैनियोमें प्रख्यात हो गई। उस तिथिको वे शास्त्रोंकी पूजा करते हैं। उनकी देख-भाल करते हैं, धूल तथा जीवजन्तुसे उनकी सफाई करते हैं। श्वेताम्बरोमें कार्तिक सुदी पचमीको ज्ञानपंचमी माना जाता है। उस दिन वे धर्मग्रन्थोंकी पूजा तथा सफाई वगैरह करते हैं।

उक्त पर्वोके सिवा प्रत्येक तीर्थङ्करके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाणके दिन कल्याणक दिन कहे जाते हैं। उन दिनोंमे भी जगह जगह उत्सव मनाये जाते हैं। जैसे अनेक जगह प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी ज्ञान जयन्ती या निर्वाणतिथि मनाई जाती है।

दीपावली

ऊपर जो जन पर्व बतलाये गये हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मनाते हैं। इनके सिवा कुछ पर्व ऐसे भी है जिन्हे जैनोके सिवा हिन्दू जनता भी मनाती हैं। ऐसे पर्वोमें सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली या दिवालीका पर्व है। यह पर्व कार्तिक मासकी अमावस्याको मनाया जाता है। साफ सुथरे मकान कार्तिकी अमावस्याकी सन्ध्याको दीपोंके प्रकाशसे जगमगा उठते हैं। घर घर लक्ष्मीका पूजन होता है। सदियोंसे यह त्योहार मनाया जाता है, किन्तु किसीको इसका पता नही है कि यह त्यौहार कब चला, क्यों चला और किसने चलाया? कोई इसका सम्बन्ध रामचन्द्रजीके अयोध्या लौटनेसे लगाते हैं। कोई इसे सम्राट् अशोककी दिग्विजयका सूचक बतलाते हैं। किन्तु रामायणमें इस तरहका कोई उल्लेख नही मिलता है, इतना ही नही, किन्तु किसी हिन्दू पुराण वगैरहमें भी इस सम्बन्धमें कोई उल्लेख नही मिलता[1]।

१—श्री वासुदेव शरण अग्रवालने हमें सुझाया है कि वात्स्यायन कामसूत्रमें दीपावलीको यक्षरात्रि महोत्सव कहा गया है। तथा बौद्धोंके 'पुप्फरत्त' जातकमें कार्तिककी रात्रिको होने वाले उत्सवका वर्णन है इसी प्रकार कार्तिककी पौर्णमासीको होने वाले उत्सवका वर्णन 'धम्मपद अट्ठकथा' में पाया जाता है। इन

बौद्धधर्ममे तो यह त्यौहार मनाया ही नही जाता। रह जाता है जैन सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायमे शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) का रचा हुआ हरिवंश पुराण है। उसमें भगवान् महावीरके निर्वाणका वर्णन करते हुए लिखा[1] है—"महावीर भगवान् भव्यजीवोको उपदेश देते हुए पावा नगरीमे पधारे, और वहाँके एक मनोहर उद्यानमें, चतुर्थकालमें तीन वर्ष साढे आठ मास बाकी रह जानेपर कार्तिकी अमावस्याके प्रभातकालीन सन्ध्याके समय, योगका निरोध करके कर्मोका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुए। चारों प्रकारके देवताओंने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकोंके प्रकाशसे पावा-नगरीका आकाश प्रदीपित हो रहा था। उसी समयसे भक्त लोग जिनेश्वरकी पूजा करनेके लिये भारतवर्षमे प्रति वर्ष उनके निर्वाण दिवसके उपलक्षमे दीपावली मनाते है।"

जैनधर्मकी आजकी स्थितिको देखते हुए कोई इस बातपर विश्वास नही कर सकता कि महावीर निर्वाणके उपलक्ष्यमे दीपावली मनाइ जा सकती है। किन्तु उस समयके प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजघरानोके साथ

उल्लेखोंसे इतना ही पता चलता है कि कार्तिकमें रात्रिके समय कोई उत्स मनाया जाता रहा है। किन्तु वह क्यो मनाया जाता है तथा उसका रूप क्या था, इसका पता नही चलता। ले०।

१. "जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सतत समततो भव्यसमूहसतति।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसी मनोहरोद्यानवने तदीयके॥१५॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥१६॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं घनवद्विबन्धन।
विबन्धनस्थानमवाप शकरो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्॥१७॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समतत प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥१९॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वर जिनेन्द्रनिर्वाण विभूतिभक्तिभाक्॥२०॥

महावीरका जो कुलक्रमागत सम्बन्ध था तथा उनपर जो प्रभाव था उसे देखते हुए ऐसा हो सकना असभव तो नही कहा जा सकता। मज्झिमनिकायके सामगामसुत्तके अनुसार जब चुन्द महात्मा बुद्धके प्रिय शिष्य आनन्दको महावीरके मरनेका समाचार देता है तो आयुष्य-मान् आनन्द कहते है—'आवुस चुन्द ! भगवान् बुद्धके दर्शनके लिए यह बात भेट स्वरूप है।' इस घटनासे ही स्पष्ट हो जाता है कि अपने समयमें महावीर भगवान्का कितना प्रभाव था।

इसके सिवा दीपावलीके पूजनकी जो पद्धति प्रचलित है, उससे भी इस समस्यापर प्रकाश पड़ता है। दीपावलीके दिन क्यों लक्ष्मी-पूजन होता है इसका सन्तोपजनक समाधान नही मिलता। दूसरी ओर, जिस समय भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरको पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हुई। यह गौतम ब्राह्मण थे। मुक्ति और ज्ञानको जैनधर्ममें सबसे बडी लक्ष्मी माना है और प्राय मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मीके नामसे ही शास्त्रोमें उनका उल्लेख किया गया है। अत सम्भव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मीके पूजनकी प्रथाने धीरे-धीरे जनसमुदायमें बाह्य लक्ष्मीके पूजनका रूप ले लिया हो। बाह्यदृष्टिप्रधान मनुष्यसमाजमे ऐसा प्राय. देखा जाता है। लक्ष्मीपूजनके समय मिट्टीका घरौंदा और खेल खिलौने भी रखे जाते है। हमारे बड़े कहा करते थे कि यह घरौदा भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधरकी उपदेश सभा (समव-सरण) की यादगारमें है और चूंकि उनका उपदेश सुननेके लिये मनुष्य पशु सभी जाते थे अत उनकी यादगारमे उनकी मूर्तियाँ (खिलौने) रखे जाते है। इस तरह दीपावलीके प्रकाशमे हम प्रतिवर्ष भगवान्की निर्वाण लक्ष्मीका पूजन करते है। और जिस रूपमें उनकी उपदेश सभा लगती थी उसका साज सजाते है।

दीपावलीके प्रात.कालमें सभी जैन मन्दिरोंमें महावीर निर्वाण-की स्मृतिम बड़ा उत्सव मनाया जाता है और नैवेद्य (लाडू) से भगवान-

की पूजा की जाती है। इस ढगकी पूजाका आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर घरमे उस दिन जो मिष्टान्न बनता है उसका उद्देश्य भी समझमें आ जाता है।

सलूनो या रक्षाबन्धन

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्यौहार, जिसे जैनी मनाते है सलूनो या रक्षाबन्धन पर्व है। साधारणत इस त्यौहारके दिन घरोंमे सीमियाँ बनती है और ब्राह्मण लोग लोगोंके हाथोमे राखियाँ, जिन्ह रक्षाबन्धन कहते है, बाँधकर दक्षिणा लेते है। राखी बाँधते समय वे एक[1] श्लोक पढते है जिसका भाव यह है—'जिस राखीसे दानवोंका इन्द्र महाबलि बलिराजा बाँधा गया उससे मै तुम्हे भी बाँधता हूँ मेरी रक्षा करो और उससे डिगना नही।'

साथ ही साथ उत्तर भारतमे एक प्रथा और है। उस दिन हिन्दू मात्रके द्वारपर दोनों ओर मनुष्यके चित्र बनाये जाते है उन्हे 'सौन' कहते है। पहले उन्हे जिमाकर उनके राखी बाँधी जाती है तब घरके लोग भोजन करते है। हमने अनेकों विद्वानों और पौराणिकोंसे इस त्यौहारके बारेमे जानना चाहा कि यह कब कैसे चला किन्तु किसीसे भी कोई बात ज्ञात नही हो सकी। बलि राजाकी कथा वामनावतार के सिलसिलेमें आती है, किन्तु, उस से इस पर्वके बारेमें कुछभी ज्ञात नही होता। जैनपुराणोमे अवश्य एक कथा मिलती है जो सक्षेपमें इस प्रकार है—

किसी समय उज्जैनी नगरीमे श्रीधर्म नामका राजा राज्य करता था। उसके चार मन्त्री थे—बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रहलाद। एक बार जैनमुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियोके सघके साथ उज्जैनी में पधारे। मन्त्रियोके मना करनेपर भी राजा मुनियोंके दर्शनके लि॰ गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्गमे एक मुनिसे

---

१. 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल॥'

मंत्रियोंका शास्त्रार्थ हो गया। मन्त्री पराजित हो गये। क्रुद्ध मंत्री रात्रिमें तलवार लेकर मुनियोंको मारनेके लिये निकले। मार्गमें गुरुकी आज्ञासे उसी शास्त्रार्थके स्थानपर ध्यानमें मग्न अपने प्रतिद्वन्द्वी मुनिको देखकर मन्त्रियोंने उनपर वार करनेके लिये जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्योंके त्यों रह गये। दिन निकलनेपर राजाने मन्त्रियोंको देशसे निकाल दिया। चारों मन्त्री अपमानित होकर हस्तिनापुरके राजा पद्मकी शरणमें आये। वहाँ बलिने कौशलसे पद्म राजाके एक शत्रुको पकड कर उसके सुपुर्द कर दिया। पद्मने प्रसन्न होकर मुँहमाँगा वरदान दिया। बलिने समयपर वरदान माँगनेके लिये कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्यका संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और उसने वहीं वर्षावास करना तय किया। जब बलि वगैरहको इस बातका पता चला तो पहले तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमानका बदला चुकानेकी युक्ति सूझ गई। उन्होंने वरदानका स्मरण दिलाकर राजा पद्मसे सात दिनका राज्य माँग लिया। राज्य पाकर बलिने मुनिसंघके चारों ओर एक बाडा खडा करा दिया और उसके अन्दर पुरुषमेध यज्ञ करनेका प्रबन्ध किया।

इधर मुनियोंपर यह उपसर्ग प्रारम्भ हुआ उधर मिथिला नगरीमें वर्तमान एक निमित्तज्ञानी मुनिको इस उपसर्गका पता लग गया। उनके मुँहसे 'हा हा' निकला। पासमें वर्तमान एक क्षुल्लकने इसका कारण पूछा तो उन्होंने सब हाल बतलाया और कहा कि विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है वे इस संकटको दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल मुनि विष्णुकुमारके पास गये और उनको सब समाचार सुनाया। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुरके राजा पद्मके भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्मके पास पहुँचे और बोले—पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है? कुरुवंशमें ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा ही तपस्वियोंपर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा?

यदि जल ही आगको भडकाने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा।' उत्तरमें पद्मने बलिको राज्य दे देनेका सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामन-रूप धारण करके बलिके यज्ञमें पहुँचे और बलिके प्रार्थना करनेपर तीन पैर धरती उससे माँगी। जब बलिने दानका संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमारने विक्रिया ऋद्धिके द्वारा अपने शरीरको बढाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वतपर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वतपर रखा, और तीसरा पैर स्थान न होनेसे आकाशमे डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनिसे प्रार्थना की 'भगवन्? अपनी इस विक्रियाको समेटिये।' आपके तपके प्रभावसे तीनों लोक चंचल हो उठे है। तब उन्होंने अपनी विक्रियाको समेटा। मुनियोंका उपसर्ग दूर हुआ और बलिको देशसे निकाल दिया गया।

बलिके अत्याचारसे सर्वत्र हाहाकार मच गया था और लो ोने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियोका संकट दूर होगा तो उन्ह आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होनेपर सब लो ने दूधकी सीमियोंका हल्का भोजन तैयार किया, क्योंकि मुनि ७० दिनके उपवासे थे। मुनि केवल सात सौ थे अतः वे केवल सात सौ घर पर ही पहुंच सकते थे। इसलिये शेष घरोंमें उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्परमे रक्ष करनेका बन्धन बाँधा, जिसकी स्मृति त्यौहारके रूपमें अबतक चली आती है। दीवारोंपर जो चित्र रचनाकी जाती है उसे "सौन' कह

१ श्री वासुदेव शरण अग्रवालने हमें बताया है कि 'सौन' शब्द शकुनिक अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है गरुड पक्षी। श्रावण मासमें नाग पचमीके द जो चित्रकारी की जाती है वह नागोकी सूचक है और रक्षाबन्धनके दिन ज चित्रकारी की जाती है वह गरुडकी सूचक है। नागो और गरुड़ोके वैमनस्यक उल्लेख वैदिक साहित्यमे पाया जाता है। तथा वह प्रकाश और अन्धकार.

जाता है, यह 'सौनं' शब्द 'श्रमण' शब्दका अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीनकालमें जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकारसे सलूनो या रक्षाबन्धनका त्यौहार जैन त्यौहारके रूपमे जैनोमे आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियोकी पूजन की जाती है। उसके बाद परस्परमे राखी बाँधकर दीवारोपर चित्रित 'सौनों' को आहार दान दिया जाता है। तब सब भोजन करते है और गरीबों तथा ब्राह्मणोंको दान भी देते है।

३ तीर्थक्षेत्र

साधारणत जिस स्थानकी यात्रा करनेके लिये यात्री जाते है, उसे तीर्थ कहते है। तीर्थ शब्दका अर्थ घाट अर्थात् स्नान करनेका स्थान भी होता है किन्तु जैनोंमें कोई स्नानस्थान तीर्थ नही है। नदियोके जलमें पापनाशक शक्ति है यह बात हिन्दू मानते है किन्तु जैन नही मानते। इसी प्रकार सती होनेकी प्रथा हिन्दुओकी दृष्टिसे मान्य है और इसलिये वे सतियोके स्थानोको भी तीर्थकी तरह पूजते है, किन्तु जैन उन्हें नही मानते। जैन दृष्टिसे तो तीर्थशब्दका एक ही अर्थ लिया जाता है—'भवसागरसे पार उतरनेका मार्ग बतलानेवाला स्थान'। इसलिये जिन स्थानोपर तीर्थङ्करोने जन्म लिया हो, दीक्षा धारण की हो, तप किया हो, पूर्णज्ञान प्राप्त किया हो, या मोक्ष प्राप्त किया हो, उन स्थानोको जैनी तीर्थस्थान मानते है। अथवा जहाँ कोई पूज्य वस्तु वर्तमान हो, तीर्थङ्करोंके सिवा अन्य महापुरुष जहाँ रहे हों या उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया हो, वे स्थान भी तीर्थ माने जाते है।

जैनोके तीर्थोकी संख्या बहुत है। उन सबको बतला सकना शक्य नही है, क्योंकि जैन धर्मकी अवनतिके कारण अनेक प्राचीन तीर्थ आज विस्मृत हो चुके है, अनेक स्थान दूसरोंके द्वारा अपनाये जा चुके है। कई प्रसिद्ध स्थानोपर जैनमूर्तियाँ दूसरे देवताओके रूपमें पूजी

लड़ाईका भी सूचक है। रक्षाबन्धनके दिन गरुड या प्रकाशकी विजय नागो अथवा अन्धकार पर हुई थी।

जाती है। उदाहरणके लिये प्रख्यात बद्रीनाथ तीर्थके मन्दिरमे भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति बद्रीविशालके रूपमे तमाम हिन्दू यात्रियोंके द्वारा पूजी जाती है। उसपर चन्दनका मोटा लेप थोपकर तथा हाथ वगैरह लगाकर उसका रूप बदल दिया जाता है, इसी लिये जब प्रात काल श्रृङ्गार किया जाता है, तो किसीको देखने नही दिया जाता। क्या आश्चर्य है जो कभी वह जैन मन्दिर रहा हो और शकराचार्यके द्वारा इस रूपमे कर दिया गया हो, जैसा कि वहॉ के पुराने बूढ़ोंके मुँह से सुना जाता है। अस्तु,

जैनधर्मके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायोंके तीर्थ-स्थान है। उनमे बहुतसे ऐसे है जिन्हें दोनो ही मानते पूजते है। और बहुतसे ऐसे है जिन्हे या तो दिगम्बर ही मानते पूजते है या केवल श्वेताम्बर; अथवा एक सम्प्रदाय एक स्थानमें मानता है तो दूसरा दूसरे स्थानमे। कैलाश, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार, शत्रुञ्जय और सम्मेद शिखर आदि ऐसे तीर्थ है जिनको दोनो ही सम्प्रदाय मानते है। गजपन्था, तुङ्गी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुथुगिरि, सिद्धवर-कूट, वड़वानी आदि तीर्थ ऐसे है, जिन्हे केवल दिगम्बर सम्प्रदाय ही मानता है। और इसी तरह आबूगिरि, शखेश्वर आदि कुछ ऐसे तीर्थ है जिन्हे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही मानता है। यहाँ प्रसिद्ध प्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्रोका सामान्य परिचय प्रान्तवार कराया जाता है—

बिहार प्रदेश

सम्मेद शिखर—हजारीबाग जिलेमे जैनोका यह एक अतिप्रसिद्ध और अत्यन्त पूज्य सिद्धक्षेत्र है। इसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही समानरूपसे मानते और पूजते है। श्रीऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीरके सिवा शेष बीस तीर्थङ्करोने इसी पर्वतसे निर्वाण प्राप्त किया था। २३ वे तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथके नामके ऊपरसे आज यह पर्वत 'पारसनाथ हिल' के नामसे प्रसिद्ध है। पूर्वीय रेलवेपर इसके रेलवे स्टेशनका नाम भी कुछ वर्षोसे पारसनाथ हो गया है। इस पर्वत-

की चोटियोंपर बने अनेक मन्दिरोंका दर्शन करनेके लिये प्रतिवर्ष हजारों दिगम्बर और श्वेताम्बर स्त्री पुरुष आते हैं। इसकी यात्रामें १८ मीलका चक्कर पड़ता है और ८ घंटे लगते हैं।

कुलुआ पहाड़—यह पहाड जंगलमे है। गयासे जाया जाता है। इसकी चढाई २ मील है। इसपर सैकडों जैन प्रतिमाएँ खण्डित पडी हैं। अनेक जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष भी पडे हैं। कुछ जैन मन्दिर और प्रतिमाएँ अखण्डित भी हैं। कहा जाता है कि इस पहाडपर १० वें तीर्थङ्कर शीतलनाथने तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इण्डियन एन्टीक्वेरी (मार्च १९०१) मे एक अँग्रेज लेखकने इसके सम्बन्धमें लिखा था—'पूर्वकालमें यह पहाड़ अवश्य जैनियोका एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा, क्योंकि सिवाय दुर्गादेवीकी नवीन मूर्तिके और बौद्धमूर्तिके एक खण्डके अन्य सब चिह्न जो पहाड़पर है, वे सब जैन तीर्थङ्करोंको ही प्रकट करते हैं।'

गुणावा—यह भगवान महावीरके प्रथम गणधर गौतम स्वामीका निर्वाणक्षेत्र है। गया—पटना (ई० आर०) लाइनमें स्थित नवादा स्टेशनसे डेढ मील है।

पावापुर—गुणावासे १३ मीलपर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरका यह निर्वाणक्षेत्र है। उसके स्मारकस्वरूप तालाबके मध्यमें एक विशाल मन्दिर है, जिसको जलमन्दिर कहते हैं। जलमन्दिरमें महावीर स्वामी, गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामीके चरण स्थापित हैं। कार्तिक कृष्णा अमावस्याको भगवान महावीरके निर्वाण दिवसके उपलक्षमें यहाँ बहुत बडा मेला भरता है।

राजगृही या पंच पहाडी—पावापुरीसे ११ मील राजगृही है। एक समय यह मगध देशकी राजधानी थी। यहाँ २०वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथका जन्म हुआ था। राजगृहीके चारो ओर पांच पर्वत हैं उनके बीचमे राजगृही बसी थी। इसीसे इसे पंचपहाड़ी भी कहते हैं। महावीर भगवानका प्रथम उपदेश इसी नगरीके विपुलाचल पर्वतपर

हुआ था। पाँचों पहाड़ोंके ऊपर जैन मन्दिर बने हैं। इन सभीकी वन्दना करनेमे १५–१६ मीलका चक्कर पड जाता है।

कुण्डलपुर—यह राजगृहीसे १० मीलपर है। भगवान महावीर-का जन्म स्थान मानकर पूजा जाता है।

मन्दारगिरि—भागलपुरसे ३० मीलपर यह एक छोटासा पहाड है। इसीको बारहवें तीर्थङ्कर श्रीवासुपूज्य स्वामीका मोक्ष स्थान माना जाता है। किन्तु वर्तमानमे चम्पापुरको ही पाँचों कल्याणकोका स्थान माना जाता है। भागलपुरसे ४ मील नाथ नगर है और वहाँसे २ मीलपर चंपापुर है।

पटना—यह विहार प्रान्तकी राजधानी है। पटना सिटीमे गुलजारबाग स्टेशनके पासमे ही एक छोटी-सी टीकरीपर चरणपादुकाएँ स्थापित हैं। यहाँसे सेठ सुदर्शनने मुक्तिलाभ किया था। इनकी जीवन कथा अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है।

उत्तर प्रदेश

बनारस—इस नगरके भदैनीघाट मुहालमे गंगाके किनारेपर दो विशाल दि० जैन मन्दिर तथा एक श्वे० मन्दिर बने हैं जो सातवे तीर्थङ्कर भगवान सुपार्श्वनाथके जन्म स्थान रूपसे माने जाते हैं। यहाँपर जैनोंका अतिप्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय स्थापित है जिसमे संस्कृत और जैनधर्मकी ऊँचीसे ऊँची शिक्षा दी जाती है। भेलूपुर मुहल्लामें भी दोनों सम्प्रदायोके मन्दिर हैं। यह स्थान तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथकी जन्मभूमि होनेसे पूजनीय है। इस प्रकार बनारस दो तीर्थङ्करोंका जन्म स्थान है। शहरमे अन्य भी कई जैन मन्दिर हैं।

सिंहपुरी—बनारससे ६ मीलकी दूरीपर सारनाथ नामका ग्राम है जो बौद्ध पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अतिप्रसिद्ध है। यहीपर किसी समय सिंहपुरी नामकी नगरी बसी हुई थी, जिसमे ११वें तीर्थङ्कर श्रीश्रेयांसनाथने जन्म लिया था। यहाँपर जैन मन्दिर और जैन धर्म

शाला है। दिगम्बर जैनोंका मन्दिर तो बौद्ध मन्दिरके ही पासमें है किन्तु श्वेताम्बर मन्दिर कुछ दूरीपर रेलवे स्टेशनके पास बना है।

चन्द्रपुरी—सारनाथ से ६ मीलपर चन्द्रवटी नामका गाँव है जो चन्द्रपुरीका भग्नावशेष कहा जा सकता है। यहींपर आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु भगवानने जन्म लिया था। यहाँ गंगाके तटपर दोनों सम्प्रदायोंके मन्दिर अलग अलग बने हुए हैं।

प्रयाग—यहाँ त्रिवेणी संगमके पास ही एक पुराना किला है। किलेके भीतर जमीनके अन्दर एक अक्षयवट (बडका पेड) है। कहते हैं कि श्रीऋषभदेवने यहाँ तप किया था। किलेमें प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी हैं।

फफोसा—इलाहाबाद कानपुरके बीचमें उत्तरीय रेलवेपर भरवारी नामका स्टेशन है, वहाँसे २०–२५ मीलपर यह एक छोटा-सा गाँव है। उसके पासमें ही प्रभास नामसे एक पहाड़ है। चढनेके लिये ११६ सीढियाँ बनी हुई हैं। कहा जाता है कि इस पहाडपर छठे तीर्थङ्कर पद्मप्रभु भगवानने तप किया था और यहींपर उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। यहाँ एक मन्दिर है और मन्दिरके आगे चट्टानमें उकेरी हुई प्रतिमाएँ हैं।

कौशाम्बी—फफोसासे ४ मीलपर गढवाय नामका गाँव है। उसके पास हीमें कुशवा नामका गाँव है, जिसे प्राचीन कौशाम्बी नगरी माना जाता है। इस नगरीमे भगवान पद्मप्रभुका जन्म हुआ था।

अयोध्या—जैन शास्त्रोंके अनुसार यह प्रसिद्ध नगरी अति-प्राचीन कालसे जैनोंका मुख्य स्थान रही है। जैनोंके ५ तीर्थङ्करोंका जन्म इसी नगरीमें हुआ था। आज यहाँ अनेक जैन मन्दिर और धर्म-शालाएँ वर्तमान हैं।

खखूद—गोरखपुरसे एन० ई० रेलवेका नोनखार स्टेशन ३६ मील है। वहाँसे ३ मील खखूद गाँव है। इसका प्राचीन नाम किष्किन्धा बतलाया जाता है। यह श्रीपुष्पदन्त तीर्थङ्करका जन्म

स्थान है। यहाँके मन्दिरमे श्रीपुष्पदन्त भगवानकी मूर्ति विराजमान है।

सेटमेंट—फैजाबादसे गोडा रोडपर २१ मील वलरामपुर है। वलरामपुरसे १० मीलपर सेटमेट है। इसका प्राचीन नाम श्रावस्ती वतलाया जाता है जो कि तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथकी जन्मभूमि है।

रत्नपुरी—यह स्थान फैजावाद जिलेमे सोहावल स्टेशनसे १॥ मील है। यह श्रीधर्मनाथ स्वामीकी जन्मभूमि है। एक मन्दिर श्वेताम्बरोंका व दो दिगम्बरोके है।

कम्पिला—यह तीर्थक्षेत्र जिला फरुक्खाबादमे एन० इ० रेलवेके कायमगंज स्टेशनसे ८ मील है। यहाँ तेरहवें तीर्थङ्कर श्रीविमलनाथके ४ कल्याणक हुए है। प्रतिवर्ष चैत्र मासमें यहाँ मेला भी भरता है और रथोत्सव होता है।

अहिक्षेत्र—एन० आर० की वरेली—अलीगढ लाइनपर आँवला स्टेशन है। वहाँसे ८ मील रामनगर गाँव है उसीसे लगा हुआ यह क्षेत्र है। इस क्षेत्रपर तपस्या करते हुए भगवान पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीवने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। प्रतिवर्ष चैत्र वदी ८ से द्वादशी तक यहाँ मेला होता है।

हस्तिनागपुर—यह क्षेत्र मेरठसे २२ मील है। यहाँ श्रीशान्तिनाथ कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थङ्करोके गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान इस तरह चार कल्याणक हुए है। तथा १९वे मल्लिनाथ तीर्थङ्करका समवसरण भी आया था। यहाँ पर दिल्लीके लाला हरसुखदासजीका वनवाया हुआ एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर और धर्मशाला है। पासमें ही श्वेताम्वरोका भी मन्दिर है। धर्मशालासे लगभग २—३ मीलपर चारो तीर्थङ्करोकी चार दि० जैन नशियाँ वनी हुई है जो प्राचीन है। प्रति वर्ष कार्तिक सुदी ८ से पूर्णमासी तक दिगम्बर जैनोंका बहुत वड़ा मेला भरता है।

है। यह भगवान महावीरकी मूर्ति मानी जाती है। इस प्रान्तमें इस मूर्तिकी बडी मान्यता है। दूर दूरसे लोग इसकी पूजा करनेके लिये आते हैं। इसके माहात्म्यके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। महाराजा छत्रसालके समयमें उन्हींकी प्रेरणासे इसका जीर्णोद्धार हुआ था, जिसका शिलालेख अंकित है।

सागरसे ४८ मीलपर वीनाजी क्षेत्र है यहाँ तीन जैन मन्दिर हैं जिनमें एक प्रतिमा शान्तिनाथ भगवानकी १४ फुट ऊँची तथा एक प्रतिमा महावीर भगवानकी १२ फुट ऊँची विराजमान है। और भी अनेक मनोहर मूर्तियाँ हैं। सागरसे ३८ मील मालथौन गाँव है। गाँवसे १ मीलपर एक जैन मन्दिर है। इसमें १० गजसे लेकर २४ गज-तककी ऊँची खडे आसनकी अनेक प्रतिमाएँ हैं। ललितपुरसे १० मीलपर सैरोन गाँव है। वहाँसे आधा मीलपर ५-६ प्राचीन जैन मन्दिर हैं। चारो ओर कोट है। यहाँ एक मूर्ति २० गज ऊँची शान्तिनाथ भगवानकी है, तथा चार पाँच फुट ऊँची सैकडो खण्डित मूर्तियाँ हैं।

देवगढ—सेन्ट्रल रेल्वेके ललितपुर स्टेशनसे १९ मील एक पहाड़ीपर यह क्षेत्र स्थित है। यह सचमुच देवगढ है। यहाँ अनेक प्राचीन जिनालय है और अगणित खण्डित मूर्तियाँ है। कलाकी दृष्टिसे भी यहाँकी मूर्तियाँ दर्शनीय है। कुशल कारीगरोने पत्थरको मोम कर दिया है। करीब २०० शिलालेख यहाँ उत्कीर्ण है। ८ मनोहर मानस्तभ है। प्राकृतिक सौन्दर्य भी अनुपम है। यहाँसे ६ मीलपर चाँदपुर स्थान है। वहाँ भी अनेक जैनमूर्तियाँ है जिनमें १४ गज ऊँची एक मूर्ति शान्तिनाथ तीर्थंङ्करकी है।

पपौरा—विन्ध्यप्रान्तमें टीकमगढसे कुछ दूरीपर जंगलमें यह क्षेत्र स्थित है। इसके चारो ओर कोट बना है। जिसके अन्दर लगभग ९० मन्दिर है। एक वीर विद्यालय भी है। कार्तिक सुदी १४ को प्रतिवर्ष मेला भरता है।

अहार—टीकमगढसे ६ मीलपर अहार गाँव है। वहाँसे करीब ६ मीलपर एक ऊजड स्थानमें तीन दिगम्बर जैन-मन्दिर हैं। एक मन्दिरमे २१ फुटकी ऊँची शान्तिनाथ भगवानकी अति मनोज्ञमूर्ति विराजमान है जो खण्डित है किन्तु बादमे जोडकर ठीक की गई है। यह प्रतिमा वि० सं० १२३७ में प्रतिष्ठित की गई थी। इन मन्दिरोंके सिवा यहाँ अन्य भी अनेक मन्दिर बने हुए थे, किन्तु बादशाही जमानेमे वे सब नष्ट कर दिये गये और अब अगणित खण्डित मूर्तियाँ वहाँ वर्तमान हैं। क्षेत्र कलाप्रेमियोके लिये भी दर्शनीय है। अब यहाँ एक पाठशाला भी चालू है।

चन्देरी—यह ललितपुरसे बीस मील है। यहाँ एक जैन मन्दिरमे चौबीस वेदियाँ बनी हुई है और उनमें जिस तीर्थङ्करके शरीरका जैसा रग था उसी रगकी चौबीसों तीर्थङ्करोंकी चौबीस मूर्तियाँ विराजमान हैं। ऐसी चौबीसी अन्यत्र कही भी नही है। यहाँसे उत्तरमे ६ मीलपर बूढी चन्देरी है। यहाँपर सैकड़ों जैन मन्दिर जीर्णशीर्ण दशामे है, जिनमे बड़ी ही सौम्य और चित्ताकर्षक मूर्तियाँ हैं।

पचराई—चन्देरीसे ३४ मील खनियाधाना स्थान है और वहाँसे ८ मीलपर पचराई गाँव है। यहाँपर २८ जिनमन्दिर हैं जिनमे लगभग एक हजार मूर्तियाँ है, इनमे आधके लगभग साबित है, शेष खण्डित हैं।

थूवनजी—चन्देरीसे ८ मील थूवनजी है। यहाँ २५ मन्दिर हैं। प्राय सभी प्रतिमाएँ पत्थरोंमे उकेरी हुई है, खड़े योग है और २०-३० फुट तककी ऊँची है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि बुन्देलखण्डके उक्त सभी क्षेत्र दिगम्बर जैन ही है। वहाँ श्वेताम्बरोंका निवास न होनेसे उनका एक भी तीर्थक्षेत्र नही है।

अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ—सेन्ट्रल रेलवेके अकोला (वरार) स्टशनसे लगभग ४० मीलपर शिवपुर नामका गाँव है। गाँवके ८५ धर्मशालाओंके बीचमे एक बहुत बड़ा प्राचीन विशाल दुमंजला जैन

मन्दिर है। नीचेकी मजिलमें एक श्यामवर्ण २॥ फुट ऊँची पार्श्वनाथ-जीकी प्राचीन प्रतिमा है जो वेदीमें अधर विराजमान है। सिर्फ दक्षिण घुटना जमीनमें सटा हुआ है। इसीसे यह प्रतिमा अन्तरिक्ष पार्श्वनाथके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ दोनों सम्प्रदायोंके लिये पूजाका समय नियत है। सुवह ६ से ९ और १२ से ३ तक श्वेताम्बर पूजन करते हैं और ९ से १२ तथा ३ से ६ तक दिगम्बर लोग पूजन करते हैं।

कारजा—अकोला जिलेमें मूर्तिजापूर स्टेशनसे यवतमालको जानेवाली रेलवे लाईनपर यह एक कसवा है। यहाँपर तीन विशाल प्राचीन जैनमन्दिर हैं। एक मन्दिरमें चाँदी, सोने, हीरे, मूँगे और रत्नोंकी प्रतिमाएँ हैं। यहाँ दो भट्टारकोंकी गद्दियाँ हैं एक वलात्कार गणकी, दूसरी सेनगणकी। सेनगणके भट्टारकके मन्दिरमें सस्कृत प्राकृतके प्राचीन जैनग्रन्थोंका वहुत वड़ा भडार है। यहाँ महावीर ब्रह्मचर्याश्रम नामकी एक आदर्श शिक्षा सस्था भी है।

मुक्तागिरि—यह सिद्धक्षेत्र वराडके एलचपुरसे १२ मीलपर पहाडी जंगलमें है। नीचे धर्मशाला है। पासमें ही एक छोटी पहाडी है, जिसपर चढनेके लिये सीढियाँ वनी हुई है। ऊपर कई गुफाएँ है जिनमें वहुतसी प्राचीन प्रतिमाएँ है। गुफाओंके आसपास ५२ मन्दिर हैं। यहाँसे वहुतसे मुनियोंने मोक्ष प्राप्त किया था।

भातकुली—यह अतिशय क्षेत्र अमरावतीसे १० मीलपर है। यहाँ ३ दि० जैनमन्दिर हैं जिनमेंसे एकमें श्रीऋषभदेव स्वामीकी पद्मासनयुक्त तीन फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। इसकी यहाँ वहुत मान्यता है। प्रति वर्ष कार्तिक वदी पचमीको मेला भरता है।

रामटेक—यह स्थान नागपुरसे २४ मीलपर है। यहाँ दि० जैनोंके आठ मन्दिर है, जिनमेंसे एक प्राचीन मन्दिरमें सोलहवे तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ स्वामीकी १५ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है।

राजपूताना व मालवा प्रान्त

श्रीमहावीरजी—पश्चमी रेलवेकी नागदा-मथुरा लाइनपर 'श्री-महावीरजी' नामका स्टेशन है। यहाँसे ४ मीलपर यह क्षेत्र है। यहाँ एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है, उसमें महावीर स्वामीकी एक अति मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा पासके हीएक टीलेके अन्दरसे निकली थी। इसे जैन और जैनेतर-खास करके जयपुर रियासतके मीना और गूजर बडी श्रद्धा और भक्तिसे पूजते हैं। यात्रियोंका सदा ताता लगा रहता है। प्रतिवर्ष बैसाख वदी एकमको महावीर भगवानकी सवारी रियासती लवाज के साथ निकलती है। लाखों मीना एकत्र होते हैं। वे ही सवारीको नदी तक ले जाते हैं। उधर गूजर तैयार खडे रहते हैं। मीना चले जाते हैं और गूजर सवारीको लौटाकर लाते हैं। फिर गूजरोंका मेला भरता है।

चाँद खेड़ी—कोटा रियासतमे खानपुर नामका एक प्राचीन नगर है। खानपुरसे २ फर्लांगकी दूरी पर चाँद खेडी नामकी पुरानी बस्ती है। यहाँ भूगर्भमे एक अतिविशाल जैन मन्दिर है। इसमे अनेक विशाल जैन प्रतिमाएँ हैं। सब प्रतिमाएँ ५७७ हे। द्वारके उत्तर भागमें एक ही पाषाणका १० फुट ऊचा कीर्तिस्तम्भ है, इसमे चारों ओर दिगम्बर-प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं, तीन तरफ लेख भी हैं।

मक्सीपार्श्वनाथ—ग्वालियर रियासतमे सेन्ट्रल रेलवेकी भूपाल-उज्जैन शाखामें इस नामका स्टेशन है। यहाँसे एक मीलपर एक प्राचीन जैन मन्दिर है। उसमे श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी ढाई ... ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है जो बड़ी ही मनोज्ञ है। इसको दोन सम्प्रदायवाले पूजते हैं। परन्तु समय नियत है। सुवह ६ से ९ त... दिगम्बर सम्प्रदायवाले पूजते हैं फिर शेष समय श्वेताम्बरोके लि... नियत है।

विजौलिया पार्श्वनाथ—नीमचसे ६८ मीलपर विजौलिया र... सत है। विजौलिया गाँवके समीपमे ही श्री पार्श्वनाथ स्वामीका अति

प्राचीन और रमणीय अतिशय क्षेत्र है। एक मन्दिरमे एक ताकके महारावके ऊपर २३ प्रतिमाएँ खुदी हुई है। चारों तरफ दीवारोपर भी मुनियोकी बहुत सी मूर्तियाँ खुदी हुई है। एक विशाल सभा-मण्डप, चार गुमटियाँ और दो मानस्तभ भी है। मानस्तम्भोपर प्रतिमाएँ और शिलालेख है।

श्रीऋषभदेव (केशरियाजी)—उदयपुरस करीब ४० मीलपर यह क्षेत्र है। यहाँ श्रीऋषभदेवजीका एक बहुत विशाल मन्दिर बना हुआ है। उसके चारो ओर कोट है। भीतर मध्यमें सगमरमरका एक बडा मन्दिर है जिसके ४८ ऊँचे ऊँचे शिखर है। इसके भीतर जाने पे श्रीऋषभदेवजीका बडा मन्दिर मिलता है, जिसमें श्रीऋषभदेवकी ६-७ फुट ऊँची पद्मासनयुक्त श्यामवर्णकी दिगम्बर जैनमूर्ति है। यहाँ केशर चढानेका इतना रिवाज है कि सारी मूर्ति केशरसे ढक जाती है। इसीलिये इसे केशरियाजी भी कहते है। श्वेताम्बरोकी ओरसे मूर्तिपर आगी, मुकुट और सिंदूर भी चढता है। इसकी बडी मान्यता है। दोनो सम्प्रदायवाले इसकी पूजा करते है।

आबू पहाड—पश्चिमीय रेलवेके आबू रोड स्टेशनसे आबू पहाड़के लिये मोटरें जाती है। पहाड़पर सडकके दाईं ओर एक दिगम्बर जैन मन्दिर है, तथा बाईं ओर देलवाडाके प्रसिद्ध श्वेताम्बर मन्दिर बने हुए है, जिनमेंसे एक मन्दिर विमलशाहने वि० सं० १०८८ में १८ करोड ५३ लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। दूसरा मन्दिर वस्तुपाल तेजपालने बारह करोड ५३ लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। संगमरमरपर छीनीके द्वारा जो नक्काशी की गई है वह देखनेकी ही चीज है। दोनों विशाल मन्दिरोंके बीचमे एक छोटासा दि० जैन मन्दिर भी है।

अचलगढ—देलवाडासे पाँच मील अचलगढ है। यहाँ तीन श्वेताम्बर मन्दिर है। उनमेंसे एक मन्दिरमें सप्तधातुकी १४ प्रतिमाएँ

सिद्धवर कूट-इन्दौरसे खण्डवा लाईनपर मोरटक्का नामका स्टेशन है। वहाँसे ओंकारजी जाते हैं जो नर्मदाके तटपर है। यहाँसे नावमें सवार होकर सिद्धवर कूटको जाते है। यह क्षेत्र रेवानदीके तटपर है। यहाँसे दो चक्रवर्ती व दस कामदेव तथा साढ़ेतीन करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं।

ऊन—खण्डवासे ऊन मोटरके द्वारा जाया जाता है। ३-४ घंटे-का रास्ता है। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर है जो सं० १२१८ का बना हुआ है। दो और भी प्राचीन मन्दिर हैं जो जीर्ण हो गये हैं। यह क्षेत्र कुछ ही वर्ष पहले प्रकाशमें आया है। इसे पावागिरि सिद्ध क्षेत्र कहा जाता हैं।

वड़वानी-वड़वानीसे ५ मील पहाड़पर जानसे वड़वानी क्षेत्र मिलता है। वडवानीसे निकट होनेके कारण इस क्षेत्रको वडवानी कहते हैं वैसे इसका नाम चूलगिरि है। इस चूलगिरिसे इन्द्रजीत और कुम्भ-कर्णने मुक्ति प्राप्त की थी। क्षेत्रकी वन्दनाको जाते हुए सबसे पहले एक विशालकाय मूर्तिके दर्शन होते है। यह खड़ी हुई मूर्ति भगवान ऋषभदेवकी है, इसकी ऊँचाई ८४ फीट है। इसे बावन गजाजी भी कहते हैं। सं० १२२३ में इसके जीर्णोद्धार होनेका उल्लेख मिलता है। पहाड़पर २२ मन्दिर हैं। प्रतिवर्ष पौष सुदी ८ से १५ तक मेला होता है।

बम्बई प्रान्त

तारंगा—यह प्राचीन सिद्ध क्षेत्र गुजरात प्रान्तके महीकाँटा जिले में पश्चिमीय रेलवेके तारंगा हिल नामके स्टेशनसे तीन मील पहाड़के ऊपर है। यहाँसे वरदत्त आदि साढे तीन करोड मुनि मुक्त हुए हे। यहाँपर दोनों सम्प्रदायोके अनेक मन्दिर और गुमटियाँ है।

गिरनार—सौराष्ट प्रान्तमें जूनागढके निकट यह सिद्धक्षेत्र वर्तमान है। जूनागढ़ स्टेशनसे ४–५ मीलकी दूरीपर गिरिनार पर्वत-की तलैहटी है, वहाँ दोनों सम्प्रदायोंकी धर्मशालाएँ है पहाड़पर

चढनेके लिये धर्मशालाके पाससे ही पक्की सीढियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और अन्ततक चली जाती है। २२ वें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथने इसी पहाडके सहस्राम्र वनमें दीक्षा धारण करके तप किया था। यही उन्हें केवलज्ञान हुआ था और यहीसे उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजुलने भी यही दीक्षा ली थी। पहले पहाडपर पहुंचनेपर एक गुफामें राजुलकी मूर्ति बनी हुई है। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके अनेक मन्दिर बने हुए है। दूसरे पहाड़पर चरण चिह्न है यहाँसे अनिरुद्ध कुमारने निर्वाण प्राप्त किया था। तीसरेसे शम्बु कुमारने निर्वाण लाभ किया था। चौथे पहाडपर चढनेके लिये सीढियाँ नही हैं इसलिये उसपर चढना बहुत कठिन है। यहाँसे श्री कृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्न कुमारने मोक्ष प्राप्त किया है और पाँचवें पहाडसे भगवान् नेमिनाथ मुक्त हुए हैं। सब जगह चरण चिह्न है तथा कही-कही पहाडमें उकेरी हुई जिन मूर्तियाँ भी हैं। जैन सम्प्रदायमें शिखर-जीकी तरह इस क्षेत्रकी भी बडी प्रतिष्ठा है।

शत्रुंजय—पश्चिमीय रेलवेके पालीताना स्टेशनसे १॥–२ मील तलहटी है। वहाँसे पहाडकी चढाई आरम्भ हो जाती है। रास्ता साफ है। पहाड़के ऊपर श्वेताम्बरोंके करीब साढे तीन हजार मन्दिर हैं जिनकी लागत करोडो रुपया है। श्वेताम्बर भाई सब तीर्थोसे इस तीर्थको बडा मानते हैं। दिगम्बरोका तो केवल एक मन्दिर है। पालीताना शहरमें भी श्वेताम्बरोकी २०–२५ धर्म-शालाएँ और अनेक मन्दिर हैं। यहाँ एक आगममन्दिर अभी ही बनकर तैयार हुआ है उसमें पत्थरोपर श्वेताम्बरोंके सब आगम खोदे गये है। यहाँसे तीन पाण्डुपुत्रो और बहुतसे मुनियोंने मोक्ष लाभ किया था।

पावागढ—बडौदासे २८ मीलकी दूरीपर चांपानेरके पास पावा-गढ़ सिद्ध क्षेत्र है। यह पावागढ एक बहुत विशाल पहाडी किला है। पहाड़ पर चढनेका मार्ग एक दम कंकरीला है। पहाडके ऊपर आठ दस मन्दिरोंके खण्डहर हैं, जिनका जीर्णोद्धार कराया गया है।

यहाँस श्रीरामचन्द्रके पुत्र लव और कुशको तथा अन्य बहुतसे मुनियोंको निर्वाण लाभ हुआ था।

मागीतुगी—यह क्षेत्र गजपन्था (नासिक) से लगभग अस्सी मील पर है। वहाँ पास ही पास दो पर्वतशिखर है जिनमेसे एकका नाम मागी और दूसरेका नाम तुगी है। मागी शिखरकी गुफाओंमे लगभग साढ तीन सौ प्रतिमाएँ और चरण है और तुगीमे लगभग तीस। यहाँ अनेक प्रतिमाएँ साधुओकी है जिनके साथ पीछी और कमंडलु भी है और पासमें ही उन साधुओंके नाम भी लिखे है। दोनों पर्वतोके बीचमें एक स्थान है जहाँ बलभद्रने श्रीकृष्णका दाह सस्कार किया था। यहाँसे श्रीरामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव वगैरहने निर्वाण लाभ किया था।

गजपन्था—नासिकके निकट मसरूल गाँवकी एक छोटीसी पहाडीपर यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँसे बलभद्र और यदुवशी राजाओंने मोक्ष प्राप्त किया था।

एलौरा—मनमाड जंकशनसे ६० मील एलौरा ग्राम है। यह ग्राम गुफा मन्दिरोंके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे सटा हुआ एक पहाड़ है। ऊपर दो गुफाएँ है, नीचे उतरनेपर सात गुफाएँ और है जिनमें हजारो जैन प्रतिमाएँ है।

कुथलगिरि—यह क्षेत्र दक्षिण हैदराबाद प्रान्तमें है और बार्सी टाऊन रेलवे स्टेशनसे लगभग २१ मील दूर एक छोटीसी पहाडी-पर स्थित है। यहाँसे श्रीदेशभूषण कुलभूषण मुनि मुक्त हुए है। पर्वतपर मुनियोंके चरणमन्दिर सहित १० मन्दिर है। माघमासमे पूर्णिमाको प्रतिवर्ष मेला भरता है। यहाँ गुरुकुल भी है।

करकण्डुकी गुफाएँ—शोलापुरसे मोटरके द्वारा कुन्थलगिरि जाते हुए मार्गमे उस्मानाबाद नामका नगर आता है, जिसका पुराना नाम धाराशिव है। धाराशिवसे कुछ मीलकी दूरीपर 'तेर' नामका स्थान है। तेरके पास पहाडी है। उसकी बाजूमे गुफाएँ है। प्रधान गुफा बड़ी विशाल है। इसमें पाँच फुटकी पार्श्वनाथ भगवानकी काले

वेणूर—नदीके किनारे यह एक छोटा-सा गाँव है। गाँवके पश्चिममें एक कोट है। उसके अन्दर श्रीगोमट स्वामीकी ३१ फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। गाँवमें अनेक जैन मन्दिर हैं।

वेलूर-हलेविड—वेलूर और हलेवीड, मैसूर राज्यके हासन शहर के उत्तरमें एक दूसरेसे दस बारह मीलके अन्तरपर स्थित हैं। यहाँका मूर्तिनिर्माण दुनियामें अपूर्व माना जाता है। एक समय यह दोनों स्थान राजधानीके रूपमें मशहूर थे आज कलाधानीके रूपमें ख्यात है। दोनों स्थानोंके आस-पास जैन मन्दिर हैं। सभी मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदायके हैं और उच्चकोटिकी कारीगरीको व्यक्त करते हैं।

श्रवण वेलगोला—हासन जिलेके अन्तर्गत जिन तीन स्थानोंने मैसूर राज्यको विश्वविख्यात बना दिया है वे हैं वेलूर, हलेवीड और श्रवण वेलगोला। हासनसे पश्चिममें श्रवण वेलगोला है जो हासनसे मोटरके द्वारा ४ घंटेका मार्ग है। श्रवण वेलगोलामें चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि नामकी दो पहाड़ियाँ पास पास हैं। इन दोनों पहाडियोंके बीचमें एक चोकोर तालाब है। इसका नाम बेलगोल अथवा सफेद तालाब था। यहाँ श्रमणोंके आकर रहनेके कारण इस गाँवका नाम श्रमण वेलगोल पडा। यह दिगम्बर जैनोंका एक महान् तीर्थ स्थान है। मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त अपने गुरु भद्रबाहुके साथ अपने जीवनके अन्तिम दिन बितानेके लिये यहाँ आया था। गुरुने वृद्धावस्थाके कारण चन्द्रगिरिपर सल्लेखना धारण करके शरीर त्याग दिया। चन्द्रगुप्तने गुरुकी पादुकाकी बारह वर्ष तक पूजा की और अन्तमें समाधि धारण करके इह जीवन लीला समाप्त की।

विन्ध्यगिरि नामकी पहाडीपर गोमटेश्वरकी विशालकाय मूर्ति विराजमान है। विन्ध्यगिरिकी ऊँचाई चार सौ सत्तर फीट है और ऊपर जानेके लिये सीढियाँ बनी हुई है। काका कालेलकरके शब्दोंमें मूर्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमान है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसारमें और कहीं नहीं।

इतनी बडी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी बनती है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपडी खिर पडनेपर भी इस मूर्तिका लावण्य खण्डित नही हुआ है। इसकी स्थापना आजसे एक हजार वर्ष पहले गंगवशके सेनापति और मत्री चामुण्डरायने कराई थी। इस पर्वतपर छोटे बडे सब १० मन्दिर है।

चन्द्रगिरिपर चढनेके लिये भी सीढियाँ बनी है। पर्वतके ऊपर मध्यमें एक कोट बना है उसके अन्दर बडे-बडे प्राचीन १४ मन्दिर है। मन्दिरोमे बड़ी-बडी विशाल प्राचीन प्रतिमाएँ है। एक गुफामें श्री-भद्रबाहु स्वामीके चरण चिह्न बने हुए जो लगभग एक फुट लम्बे है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह पहाडी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसपर बहुतसे प्राचीन शिलालेख अकित है, जो मुद्रित हो चुके है।

नीचे ग्राममे भी सात मन्दिर और १३ चैत्यालय है। एक मन्दिरमें चित्रकलासे शोभित कसौटी पाषाणके स्तभ है। यहाँ भी श्रीभट्टारक चारुकीर्ति जी महाराजकी गद्दी है। उनके मन्दिरमें भी कुछ रत्नोंकी प्रतिमाएँ है। बड़ा अच्छा शास्त्र भंडार है। एक दिगम्बर जैन पाठशाला है।

इस प्रान्तमे अन्य भी अनेक स्थान है जहाँ जैन मन्दिर और मूर्तियाँ दर्शनीय है।

उड़ीसा प्रान्त

खण्डगिरि—उडीसा प्रान्तकी राजधानी कटक है। कटकके आस-पास हजारो जैन प्रतिमाएँ है। किन्तु उडीसामे जैनियोंकी सख्या कम होनेसे उनकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नही है। कटकसे ही सुप्रसिद्ध खण्ड-गिरि उदयगिरिको जाते है। भुवनेश्वरसे पाँच मील पश्चिम पुरी जिलेमें खण्डगिरि उदयगिरि नामकी दो पहाडियाँ है। दोनोपर पत्थर काटकर अनेक गुफाएँ और मन्दिर बनाये गये है, जो ईसासे लगभग ५० वर्ष पहलेसे लेकर ५०० वर्ष बाद तकके बने हुए है। उदयगिरिकी

हाथी गुफामे कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेलका प्रसिद्ध शिलालेख अंकित है।

४ जैनधर्म और इतर धर्म

जैनधर्मकी आवश्यक बातोंका परिचय करा चुकनेके बाद 'उसका इतर धर्मोंके साथ क्या कुछ सम्बन्ध है' आदि बातोंपर भी एक सरसरी निगाह डालनेका प्रयत्न करना अनुचित न होगा; क्योंकि उससे उक्त बातोंपर अधिक प्रकाश पड़नेके साथ ही साथ जैनधर्मकी स्थितिको समझनेमे तथा अनेक भ्रामक धारणाओंके दूर होनेमे अधिक सहायता मिल सकेगी।

भारतके धर्मोंमें हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म ये दो ही धर्म ऐसे है, जिनके साथ जैनधर्मका गहरा जोड़-तोड़ रहा है। भारतीय होनेके नाते तीनों ही साथ साथ रहे है, प्रत्येकने शेष दोनोंके उतार या चढावके दिन देखे है, और परस्परमें प्रहार किये और झेले है, फिर भी एकको दूसरेके ऊपर छाप पड़े बिना नही रही है।

१ जैनधर्म और हिन्दू धर्म

यहाँ हिन्दूधर्मसे मतलब वैदिक धर्मसे है, जिसे सनातनधर्म भी कहा जाता है, क्योंकि अब यह शब्द इसी अर्थमें रूढ़ कर दिया गया है। कहनेके लिये 'हिन्दू' शब्दकी ऐसी व्याख्याएँ भी की जाती है जिनसे जैनधर्म भी हिन्दूधर्म कहा जा सकता है, किन्तु एक तो रूढके सामने यौगिक शब्दार्थको कौन मानता और जानता है? दूसरे, उन व्याख्याओंके पीछे प्रायः यह भाव पाया जाता है कि जैनधर्म हिन्दूधर्मके नामसे कहे जानेवाले वैदिकधर्मकी विद्रोही कन्या है। किन्तु जिन निष्पक्ष विद्वानोंने जैनधर्मका गहरा आलोडन किया है वे उसे भारतका एक स्वतंत्र धर्म मानते है। दोनो धर्मोंके तत्त्वोंपर दृष्टि डालनेसे भी यही निष्कर्ष निकलता है। तथा इस बातका निर्णय दोनों धर्मोंके शास्त्रोंकी आन्तरिक साक्षीके आधारपर ही किया जा सकता है; क्योंकि अन्य कोई बाह्य प्रमाण ऐसा नही मिलता जो इस समस्यापर प्रकाश डाल सके।

सबसे प्रथम हम वैदिक साहित्यके क्रमिक विकासका परिचय भारतीय दार्शनिकोंके साहित्यके आधारपर कराते हैं जो उपनिषदोंको ही सब दर्शनोंका मूल आधार बतलाते हैं।

इतिहासज्ञोंने भारतीय दर्शनका काल विभाग इस प्रकार किया है—(१) वैदिक काल—१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक (२) पौराणिक गाथा काल—६०० ई० पू० से २०० ई० तक और (३) सूत्रकाल–२०० ई० से आगे।

हिन्दू धर्मकी सबसे प्राचीन पोथी वेद है। वेद चार हैं ऋक, यजु, साम और अथर्व। पौराणिकोंका कहना है कि इन चारों वेदोंका संकलन वेदव्यासने यज्ञकी आवश्यकताओंको दृष्टिमें रखकर किया था। यज्ञानुष्ठानके लिये चार ऋत्विजोंकी आवश्यकता होती है—होता, उग्दाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता मंत्रोंका उच्चारण करके देवताओंका आह्वान करता है। इस मत्र समुदायका सकलन ऋक्-वेदमें है। उद्गाता ऋचाओंको मधुर स्वरसे गाता है इसके लिये साम-वेदका संकलन किया गया है। यज्ञके विविध अनुष्ठानोंका सम्पादन करना अध्वर्युका कर्तव्य है। इसके लिये यजुर्वेद है। ब्रह्मा सम्पूर्ण योगका निरीक्षक होता है, जिससे अनुष्ठानमें कोई त्रुटि न रहे, उसमें विघ्न न आवे। इसके लिये अथर्ववेद है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानको अच्छी तरहसे करनेके लिये भिन्न भिन्न वेदोंका सकलन भिन्न भिन्न ऋत्विजोंके लिये किया गया है।

वेदके तीन विभाग हैं—मत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मंत्रोंके समुदायको संहिता कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यज्ञ यागादिके अनुष्ठानका विस्तृत वर्णन है, इन्हें वेदमंत्रोंका व्याख्या ग्रन्थ कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थोका अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् है, इनमें दार्शनिक तत्त्वोंका विवेचन है। उपनिषदोंको ही वेदान्त कहते हैं।

विषय विभागकी दृष्टिसे वेदके दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। सहिता, ब्राह्मण और आरण्यकोंका अन्तर्भाव कर्मकाण्डमें

होता है और उपनिषद्का ज्ञानकाण्डमे, क्योंकि पहलेमें मुख्यतया क्रियाकाण्डकी चर्चा है और दूसरेमें मुख्यतया ज्ञानकी।

वेदोंका प्रधान विषय देवतास्तुति है, और वे देवता हैं अग्नि, इन्द्र, सूर्य वगैरह। आगे चलकर देवताओकी संख्यामें वृद्धिह्रास भी होता रहा है। विचारकोंके अनुसार वैदिक आर्योका यह विश्वास था कि इन्ही देवताओंके अनुग्रहसे जगत्का सब काम चलता है। इसीसे वे उनकी स्तुति किया करते थे। जब ये आर्य लोग भारतवर्षमें आये तो अपने साथ उन दैवी स्तुतियोंको भी लाये। और जब वे इस नये देशमें अन्य देवताओंके पूजकोंके परिचयमें आये तो उन्हें अपने गीतोको संग्रह करनेका उत्साह हुआ। वह संग्रह ही ऋग्वेद[1] है।

कहा जाता है कि जब वैदिक आर्य भारतवर्षमें आये तो उनकी मुठभेड असभ्य और जंगली जातियोसे हुई। जब ऋग्वेदमें गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दस्युओंके विरोधका वर्णन मिलता है तो अथर्ववेदमें आदान-प्रदानके द्वारा दोनोंके मिलकर रहनेका उल्लेख मिलता है। इस समझौतेका यह फल होता है कि अथर्ववेद जादू टोनेका ग्रन्थ बन जाता है। जब हम ऋग्वेद और अथर्ववेदसे यजुर्वेद, सामवेद और ब्राह्मणोंकी ओर आते हैं तो हम एक विलक्षण परिवर्तन पाते हैं। यज्ञ यागादिकका जोर है, ब्राह्मण ग्रन्थ वेदोंके आवश्यक भाग बन गये हैं क्योकि उनमें यागादिककी विधिका वर्णन है, पुरोहितोंका राज्य है और ऋग्वेदसे ऋचाएँ लेकर उनका उपयोग यज्ञानुष्ठानमें किया जाता है।[2]

जब हम ब्राह्मण साहित्यकी ओर आते हैं तो हम उस समयमें जा पहुँचते हैं जब वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान होनेकी मान्यताको सत्यरूपमें स्वीकार किया जा चुका था। इसका कारण यह था कि वेदका उत्तराधिकार स्मृतिके आधारपर एकसे दूसरेको मिलता आता था और

१ इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्) पृ० ६४, १ भा०।

२ इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्) पृ० १२९।

आदर भाव बनाये रखनेके लिये कुछ पवित्रताका उससे सम्बद्ध होना जरूरी था। अस्तु, ब्राह्मण साहित्यकी दृष्टिमे वैदिक ऋचाओंका धर्म केवल यज्ञ था। और मनुष्यका देवताओंके साथ केवल याज्ञिक सम्बन्ध था और वह था–'इस हाथ दे उस हाथ ले।'

जब हम आरण्यकोंकी ओर आते है, जिनके बारेमें कहा जाता है कि वे वनवासियोके लिये बनाये गये थे तो उनमे हमे यज्ञादि कर्मोसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति अश्रद्धाका भाव दीख पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोरे कर्मसे लोगोकी अभिरुचि हटने लगी थी और चूँकि यागादिकसे मिलनेवाला स्वर्ग स्थायी नही था अतः उसे आत्यन्तिक सुखका सम्पादक नही माना जा सकता था।

जब हम उपनिषदोंकी ओर आते है तो हमें लगता है कि 'उपनिषदोकी स्थिति वेदोंके अनुकूल नही है। युक्तिका अनुसरण करनेवाले उत्तरकालीन विचारकोकी तरह वे वेदकी मान्यताके प्रति दुमुखी ढंग स्वीकार करते है। एक ओर वे वेदकी मौलिकताको स्वीकार करते है और दूसरी ओर वे कहते है कि वैदिक ज्ञान उस सत्य दैवी परिज्ञानसे बहुत ही न्यून है और हमे मुक्ति नही दिला सकता। नारद कहता है—'मैं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको जानता हूँ किन्तु इससे मै केवल मंत्रों और शास्त्रोको जानता हूँ—अपनेको नही जानता।' माण्डूक्य उपनिषदमे लिखा है–'दो प्रकारकी विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिये—एक ऊँची दूसरी नीची। नीची विद्या वह है जो वेदोंसे प्राप्त होती है किन्तु उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म प्राप्त होता है।'[1]

वैदिक साहित्यके इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य जब भारतवर्षमे आये तो उनका सघर्ष यहाँके आदिवासियोंसे हुआ। यद्यपि 'कठ उपनिषद्' (१–१–२०) से उपनिषत्कालमे वैदिक धर्मसे विरोध रखनेवाले दार्शनिकोंका सद्भाव पाया जाता है, किन्तु इसका यह मतलब नही है कि उपनिषत्कालसे पहले वैदिकधर्मका विरोध

१ इंडियन फिलासफी (सर एस० राधाकृष्णन्) भा० १, पृ० १४९।

करनेवाले नहीं थे। किसी देशमें बाहरसे आकर बसनेवालों और फिर धीरे-धीरे उस देशपर अधिकार जमानेवालोंकी प्राय. यह प्रवृत्ति होती है कि वे उस देशके आदिवासियोंको जंगली और अज्ञानी ही दिखानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसा ही प्रारम्भमें अंग्रेजोंने किया और सम्भवत ऐसा ही वैदिक आर्यों और उनके उत्तराधिकारियोंने किया है। वे अब भी इसी मान्यताको लेकर चलते हैं कि जैनधर्मका उद्गम बौद्धधर्मके साथ साथ या उससे कुछ पहले उपनिषत्कालके बहुत बादमें उपनिषदोंकी शिक्षाके आधारपर हुआ। जब कि निश्चित रीतिसे प्राय सभी इतिहासज्ञोंने यह स्वीकार कर लिया है कि जैनोंके २३वें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ जो कि ८०० ई० पू० में उत्पन्न हुए थे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। किन्तु वे भी जैनधर्मके संस्थापक नहीं थे।

सर राधाकृष्णन् अपने भारतीय[1] दर्शनमें लिखते हैं—"जैन परम्पराके अनुसार जैनधर्मके संस्थापक श्रीऋषभदेव थे जो कि शताब्दियों पहले हो गये हैं। इस बातका प्रमाण है कि ई० पू० प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थङ्करोंके नामोंका निर्देश है। भागवतपुराण इस बातकी पुष्टि करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।"

ऐसी स्थितिमें उपनिषदोंकी शिक्षाको जैनधर्मका आधार बतलाना कैसे उचित कहा जा सकता है? क्योंकि जिसे उपनिषद्काल कहा जाता है उस कालमें तो वाराणसी नगरीमें भगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ था। एक दिन कुमार अवस्थामें पार्श्वनाथ गंगाके किनारे घूमनेके लिये गये थे। वहाँ कुछ तापस पञ्चाग्नि तप रहे थे। पार्श्वनाथने आत्मज्ञानहीन इस कोरे तपका विरोध किया और बतलाया कि जो लकड़ियाँ जल रही हैं इनमें नाग-नागिनीका

१ इंडियन फिलासफी (सर एस० राधाकृष्णन्) भा० १, पृ० २८७।

जोड़ा मौजूद है और उसके प्राण कंठगत है। जब लकडीको चीरा गया तो बात सत्य निकली। इस घटना के बाद ही पार्श्वनाथने प्रव्रज्या धारण कर ली थी और पूर्ण ज्ञानको प्राप्त करके जैनधर्मके सिद्धान्तोका उपदेश जनताको दिया था। भगवान पार्श्वनाथसे लगभग अढाई सौ वर्षके पश्चात् महावीर हुए और उनके बहुत हले भगवान ऋषभदेव हुए। अत जिस समय वैदिक आर्य भारत र्षमे आये उस समय भी यहाँ ऋषभदेवका धर्म मौजूद था और उनके नुयायियोंसे भी वैदिक आर्योका सघर्ष अवश्य हुआ होगा। द्राविडवश ्लत भारतीय है और द्रविड़ संस्कृति भारतीय सस्कृति है, क्योंकि ाविड़ भाषाएँ केवल भारतवर्षमे ही पाई जाती है। यह द्रविड संस्कृति अवश्य ही जैनधर्मसे प्रभावित रही है। यही कारण है जो जैनधर्ममे विड नामसे भी एक संघ पाया जाता है। द्राविड़ वशका एक ात्र घर दक्षिण भारत ही है अत. उनके सम्पर्कमे वैदिक आर्य बहुत ादमें आये होगे। यही वजह है जो ऋग्वेदके बादमे सकलित किये ाये यजुर्वेदमे कुछ जैन तीर्थङ्करोंके नाम पाये जाते है।

जब वैदिक धर्म यज्ञप्रधान बन गया और पुरोहितोंका राज्य हो गया तो उसके बादमे हम जनतामे जो उसके प्रति अरुचि पाते है, जिसका उल्लेख ऊपर किया है वह आकस्मिक नही है किन्तु शुष्क क्रियाकाण्डकी विरोधिनी उस श्रमण संस्कृतिके विरोधका परिणाम है जिसके जन्मदाता ऋषभदेव थे। उसीके फलस्वरूप उपनिषदोकी रचना की गई, जिनमें वेदका प्रामाण्य तो स्वीकार किया गया किन्तु उससे प्राप्त होनेवाले ज्ञानको नीचा ज्ञान बतलाया गया और आत्मज्ञानको ऊँचा ज्ञान बतलाया गया। इस प्रकार उपनिषदोंने ऊँचे आध्यात्मिक सिद्धान्तका प्रतिपादन तो किया किन्तु वैदिक क्रियाकाण्डका विरोध नही किया। सर राधाकृष्णन्के अनुसार[1]—'जब समय आध्यात्मिक सिद्धान्तके प्रति एक निष्ठा चाहता था तब हम

---

१ इडियन् फिलासफी, भा० १ पृ० २६४-६५।

क्रियाकाण्ड और प्रचलित धर्मसे पूरी तरह पृथक् हो जाना चाहिये। भगवद्-गीता और बादके उपनिषदोंने अतीतका हिसाब बैठानेका और पहलेसे भी अधिक कट्टरतासे तर्क विरुद्ध सिद्धान्तोंके सम्मिश्रण करनेका प्रयत्न किया। इस प्रकार उपनिषद्कालके पश्चात् प्रचलित धर्मके इन उग्रपन्थी और स्थिति पालक विरोधियोंके केन्द्र भारतके विभिन्न भागोंमे स्थापित हुए—पूर्वमे बौद्ध और जैनधर्मने पैर जमाया और वैदिक धर्मके प्राचीनगढ़ पश्चिममें भगवद्गीताने।"

उक्त चित्रणमे जहाँ जैनधर्म और बौद्धधर्मके उत्थानकी बात आती है वहाँ हम सर राधाकृष्णन्को भी उसी पुरानी बातको दुहराते हुए पाते हैं कि जैनधर्मने उपनिषदकी शिक्षाओंको माना। किन्तु वैदिकधर्म और उपनिषद्के सिद्धान्तोंके मिश्रणको तर्कविरुद्ध बतलाकर भी और यह मानकर भी कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके तीर्थङ्कर थे जिनका निर्वाण ७७६ ई० पू० में हुआ था तथा जैनधर्म उससे पहले भी मौजूद था, वे उपनिषदके उन सिद्धान्तोंको जो जैनधर्मसे मेल खाते हैं, किन्तु वैदिकधर्मसे मेल नही खाते जैनधर्मके सिद्धान्त माननेके लिये शायद तैयार नही हैं। किन्तु उन्होने ही वैदिककालका जो खाका खींचा है उससे तो यही प्रमाणित होता है कि जब वैदिक क्रियाकाण्डका विरोध हुआ और जनताकी रुचि उससे हटने लगी तो वैदिकोंने अपनी स्थिति बनाये रखनेके लिये अपने विरोधी धर्मोंकी—जिनमे जैनधर्म प्रमुख था—आध्यात्मिक शिक्षाओंके आधार पर उपनिषदोंकी रचना की। किन्तु उपनिषद भी बातें तो अध्यात्मकी करते थे और समर्थन वैदिक क्रियाकाण्डका ही किये जाते थे, जिसके विरोधी बराबर मौजूद थे। फलत. विरोध बढने लगा। इसी समयके लगभग भगवान पार्श्वनाथ हुए। उनके उपदेशोंने भी अपना असर दिखलाया। भगवान पार्श्वनाथके लगभग २०० वर्षके बाद ही विहारमे महावीर और बुद्धका जन्म हुआ। वैदिकधर्ममें विचारशास्त्र उच्च विद्वानोंकी ही वस्तु बनी हुई थी, परन्तु इस युगमें इसका

प्रचार साधारण जनतामें किया जाने लगा। भगवान पार्श्वनाथने ७० वर्षतक स्थान स्थानपर विहार करके जनसाधारणमें धर्मोपदेश दिया। इसीका अनुसरण महावीर तथा बुद्धने अवान्तरकालमें किया। अपने आध्यात्मिक विचारोंको व्यावहारिक रूप देनेकी तथा अपने विचारोंके अनुरूप जीवन यापन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी इसी युगमें विशेष लक्ष्य दिया गया क्योंकि उक्त महापुरुषोंने ऐसा ही किया था। वैदिक युगमें इन्द्र वरुण आदिको ही देवताके रूपमें पूजा जाता था, किन्तु उक्त धर्मोंमे मनुष्यको उन्नत बनाकर उसमें देवत्वकी प्रतिष्ठा करके उसकी पूजा की जाती थी। विरोधियोंके इन सिद्धान्तोंने वैदिक धर्मकी स्थितिको एकदम डाँवाडोल कर दिया था। उसको कायम रखनेके लिये फिर कुछ नई बातोंको अपनानेकी वैसी ही आवश्यकता प्रतीत हुई जैसी आवश्यकता उपनिषदोंकी रचना होनेसे पूर्व प्रतीत हुई थी। इसी कालमे रामायण और महाभारतका उदय[1] हुआ, और राम

---

१ सर राधाकृष्णन् लिखते हैं—"जब जनताकी आध्यात्मिक चेतना उपनिषदोंके कमजोर विचारसे, या वेदोंके दिखावटी देवताओंसे तथा जैनो और बौद्धोंके नैतिक सिद्धान्तोंके सदिग्ध आदर्शवादसे सन्तुष्ट नही हो सकी तो पुनर्निर्माणने एक धर्मको जन्म दिया, जो उतना नियम-बद्ध नही था तथा उपनिषदोंके धर्मसे अधिक सन्तोष प्रद था। उसने एक सदिग्ध और शुष्क ईश्वरके बदलेमें एक जीवित मानवीय परमात्मा दिया। भगवद्गीता, जिसमें कृष्ण विष्णुके अवतार तथा उपनिषदोंके परब्रह्म माने गये हैं, पचरात्र सम्प्रदाय और श्वेताश्वतर तथा बादके अन्य उपनिषदोका शैवधर्म इसी धार्मिक क्रान्तिके फल हैं।"—इ० फि० पृ० २७५–७६। दीवानबहादुर कृष्ण स्वामी आयगरने भी इसी तरहके विचार प्रकट किये हैं। वे लिखते हैं—'उस समय एक ऐसे धर्मकी आवश्यकता थी जो ब्राह्मणधर्मके इस पुनर्निर्माणकालमें बौद्धधर्मके विरुद्ध जनताको प्रभावित कर सकता। उसके लिये एक मानव देवता और उसकी पूजाविधिकी आवश्यकता थी'। —एन्शियट इण्डिया, पृ० ५८८।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० ओझाजीने भी लिखा है—"बौद्ध और जैनधर्मके प्रचारसे वैदिकधर्मको बहुत हानि पहुंची। इतना ही नही, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पडा। और वह नये साचेमें ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध

इसलिये वह हिन्दू धर्मकी विद्रोही सन्तान है, सर्वथा भ्रान्त है। जनधर्म एक स्वतत्र धर्म है। उसके आद्य तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव थे जो राम और कृष्णसे भी पहले हो गये है और जिन्हें हिन्दुओंने विष्णुका अवतार माना है। उन्हीके विचारोकी झलक उपनिषदोमे मिलती है। जैसा कि "उपनिषद विचारणा' के निम्न शब्दोसे भी स्पष्ट है—

"उपनिषदोना छेवटना भागमाँ वेदबाह्य विचारवाला साधुओना आचारविचारो अरण्यवासिओमाँ पेठेला जणाय छे, अने तेमाँ जैन अने बौद्ध सिद्धान्तोना प्रथम बीजे उग्याँ होय ऐम जणाय छे। उदाहरण तरीके "सर्वजीव ब्रह्मचक्रमाँ हस एटले जीव भमे छे, जीवघन परमात्मा छे, जीव जे जे शरीरमाँ प्रवेशे छे ते ते शरीरमय होइ जाय छे, केटलाक परमहसी "निर्गन्थ अने शुक्लध्यान परायण हता" आ विगेरे उपनिषद् वाक्यों श्रीमहावीर पूर्वभावी निर्ग्रन्थ साधुओंना विचारोना पूर्व रूप छे। जैनोना आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव आवर्गना, निर्ग्रन्थ' साधु हता'। अने पाछल थी तेमने हिन्दुधर्मीओए विष्णुना अवतार मान्या छे।"

हिन्दूधर्म और जैनधर्मके सिद्धान्तोमें बहुत अन्तर है। जैन वेदको नही मानते, स्मृति ग्रन्थों तथा ब्राह्मणोके अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थोको भी प्रमाण नही मानते। इसके सिवा दोनोमे महत्त्वका भेद तो यह है कि जैनधर्मके धार्मिक तत्त्व और उनकी सरणि स्पष्ट और निश्चित है, किन्तु हिन्दूधर्ममें परस्पर विरोधी अनेक सिद्धान्त है और वे सब अपने सच्चे होनेका दावा करते है। हिन्दू जगत्का नियामक और रचयिता ईश्वरको मानते है, जैनी नही मानते। हिन्दू युग-युगमे जगत्की सृष्टि और प्रलयको मानते है, जैन जगतको अनादि अनन्त

से जुदी प्रकारकी है और ये दोनो समान नही हो सकती। दोनोमें जो समानता है वह केवल शाब्दिक है।

१ पृ० २०१।

सुदीर्घ कालतक एक ही क्षेत्रमें फले फूले हैं अतः एकका असर दूसरेपर न हुआ हो, यह सम्भव नहीं है।

३ जैनधर्म और मुसलमान धर्म

इस्लामका उदय यद्यपि अरबमें हुआ किन्तु शताब्दियों तक दोनों धर्मोंका भारतके नाते निकट सम्बन्ध रहा है। और फलस्वरूप एकका दूसरेपर असर भी पड़ा है। मुसलमानोंका सबसे अधिक असर तो जैनोंकी स्थापत्यकला और चित्रकलापर पड़ा है। साथ साथ जैनोंकी स्थापत्यकलाका असर मुसलमानोंकी स्थापत्यकलाके ऊपर भी पड़ा है। किन्तु उनसे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन तो धार्मिक क्षेत्रमें मुसलमान धर्मने जैनधर्मके ऊपर जो प्रभाव डाला है उससे है। मुसलमान धर्मका जैनधर्मके ऊपर गहरासा असर तो उसके अन्दर उत्पन्न होनेवाले मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदायोंका जन्म लेना है। मुसलमानोंके मूर्तिपूजा विरोध और मूर्ति खण्डनने ही लोकाशाह वगैरहके चित्तमें इस भावनाको जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय और तारणपन्थकी स्थापना हुई।

मुसलमान धर्मपर जैनधर्मका असर बतलाते हुए प्रो० ग्लेजनपने 'जैनिज्म' नामक ग्रन्थमें A. furher. V. Kremer के एक निबन्धका हवाला दते हुए लिखा है कि अरब कवि और दार्शनिक अबुल् अलाने (९७३–१०५८) अपने नैतिक-सिद्धान्त जैनधर्मके प्रभावमें स्थापित किय थे। इसका वर्णन करते हुए क्रेमरने लिखा है—'अबुल् अला केवल अन्नाहार करता था और दूध तक नही पीता था। कारण, वह मानता था कि माताके स्तनमेंसे बच्चेके हिस्सेका दूध भी दुह लिया जाता है इसलिये इसे वह पाप मानता था। जहाँ तक बनता था वह आहार भी नही करता था। उसने मधुका भी त्याग कर दिया था। अंडा भी नही खाता था। आहार और वस्त्रकी दृष्टिसे वह सन्यासियोंकी तरह रहता था। पैरमें लकडीकी पावडी पहरता था। कारण, पशुको मारना और उसका चमड़ा काममें लाना पाप है। एक स्थानपर

वह नग्न रहनेकी भी प्रशंसा करता है और कहता है—'ऋतु ही तुम्हारे लिये सम्पूर्ण वस्त्र है।' उसका कहना है कि भिखारीको पैसा देनेके बदले मक्खीको जीवनदान देना श्रेष्ठ है।

नग्नता, जीवरक्षा, अन्नाहार और मधुका त्याग आदि विषयोंपर उसका पक्षपात यह बतलाता है कि इसके विचारोंके ऊपर जैनधर्मका, खास करके दिगम्बर सम्प्रदायका असर था। अबुल् अला बहुत समय-तक बगदादमें रहा था। यह नगर व्यापारका केन्द्र था। सम्भव है कि जैन व्यापारी वहाँ गये हों और उनके साथ कविका सम्बन्ध हुआ हो।

उसके लेखोंपरसे जाना जाता है कि उसे भारतके अनेक धर्मोंका ज्ञान था। भारतके साधु नख नहीं काटते इस बातका उसने उल्लेख किया है। वह मुर्दा जलानेकी पद्धतिकी प्रशंसा करता है। भारतके साधु चिताकी अग्निज्वालामें कूद पड़ते हैं इस बातपर अबुल अलाको बहुत आश्चर्य हुआ था। मृत्युके इस ढंगको जैन अधर्म मानते हैं। 'बन सके तो केवल आहारका त्याग करो' अबुल अलाके इस वचनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसे जैनोंके सल्लेखनाव्रतका ज्ञान था। किन्तु यह व्रत वह स्वयं पाल सकता इतना उसका आत्मा सबल नहीं था। इन सब बातोंसे ऐसा लगता है कि अबुल् अला जैनोंके परिचयमें आया था और उनके कितने ही धार्मिक सिद्धान्तोंको उसने स्वीकार किया था।'

५ जैन सूक्तियाँ

कृत—

१ णो लोगस्सेसणं चरे। —आचारांग।

अर्थ—लोकैषणाका अनुसरण करना—लोगोंकी देखादेखी चलना चाहिये।

२ सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्खपडिकुला अप्पियवहा
पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीविय पिय। —आचारांग।

अर्थ—समस्त जीवोको अपना अपना जीवन प्रिय है, सुख प्रिय वे दुःख नही चाहते, वध नही चाहते, सब जीनेकी इच्छा करते (अतएव सबकी रक्षा करनी चाहिये)।

३ सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवह घोर णिग्गथा वज्जयंति ण॥ —दशवैकालिक।

अर्थ—सब जीव जीना चाहते है, कोई भी मरना नही चाहता। एव निर्ग्रन्थ मुनि घोर प्राणिवधका परित्याग करते है।

४ णिस्सगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
सगाह उदीरति कसाए अग्गीव कट्ठाणि॥ —शिवार्य।

अर्थ—परिग्रहरहित साधु ही सदा कषायोंको कृश करनेमे समर्थ ता है, क्योकि परिग्रह ही कषायोंको उत्पन्न करते और बढाते है, ं सूखी लकडियाँ अग्निको उत्पन्न करती और बढाती है।

५ समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ —कुन्दकुन्द।

अर्थ—जो शत्रु और मित्रमें, सुख और दुःखमे, प्रशंसा और निन्दा- मिट्टी और सोनेमें तथा जीने और मरनेमे सम है, वही श्रमण— नसाधु है।

६ भावरहिओ न सिज्झइ जइवि तव चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मतराइ बहुसो लंवियहत्थो गलियवत्थो॥ —कुन्दकुन्द।

अर्थ—वास्तवमे जीवोंका वध अपना ही वध है और जीवोपर दया अपनेपर ही दया है। इसलिए विषकण्टकके समान हिंसाको दूरसे त्याग देना चाहिये।

१३ रायदोसाइदीहिं य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णिय तच्च पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥ —देवसेन।

अर्थ—जिसका मनोजल राग द्वेष आदिसे नही डोलता है, वह ात्मतत्त्वका दर्शन करता है और जिसका मन रागद्वेषादिक रूपी ्हरोसे डाँवाडोल रहता है उसे आत्मतत्त्वका दर्शन नही होता।

संस्कृत—

१४ आपदा कथित. पन्था इन्द्रियाणामसयम।
तज्जय. सपदां मार्गो येनेष्ट तेन गम्यताम्॥

अर्थ—'इन्द्रियोंका असयम आपदाओंका—दुखोका मार्ग है। ौर उन्हे अपन वशमें करना सम्पदाओंका—सुखोका मार्ग है। इनमे-ं जो तुम्हें रुचे, उस पर चलो।'

१५ हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थ श्रम श्रुतौ। —वादीभसिंह।

अर्थ—यदि शास्त्रोको पढकर हेय और उपादेयका ज्ञान नही आ, किसमें आत्माका हित है और किसमें आत्माका अहित है यह ामझ पैदा नही हुई, तो श्रुताभ्यासमें परिश्रम करना व्यर्थ ही हुआ।'

१६ कोऽन्धो योऽकार्यरत को बधिरो य शृणोति न हितानि।
को मूको य काले प्रियाणि वक्तु न जानाति॥—प्रश्नोत्तर रत्नमाला।

अर्थ—'अन्धा कौन है? जो न करने योग्य बुरे कामोंको करनेमे ीन रहता है। बहरा कौन है? जो हितकी बात नही सुनता। ूंगा कौन है? जो समयपर प्रिय वचन बोलना नही जानता।'

१७ पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्य नेच्छन्ति मानवा:।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पाप कुर्वन्ति यत्नतः॥ —गुणभद्राचार्य।

अर्थ—'मनुष्य पुण्यका फल सुख तो चाहते है किन्तु पुण्य कर्म ररना नही चाहते। और पापका फल दु ख कभी नही चाहते, किन्तु ापको बड़े यत्नसे करते है।'

२४ आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
तत्कियद् कियदायाति वृथा वै विषयैषिता ॥ —गुणभद्र ।

अर्थ—'प्रत्यक प्राणीका आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने यह पूरा विश्व भी अणुके तुल्य है। ऐसी स्थितिमें यदि स विश्वका बटवारा किया जाय तो प्रत्येकके हिस्सेमें कितना कितन ायगा। अत विषयोंकी चाह व्यर्थ ही है।'

हेन्दी—

२५ राग उदै जग अन्ध भयो सहजहिं सब लोगन लाज गँवाई।
सीख विना नर सीखत है विषयादिक सेवनकी सुघराई॥
तापर और रचै रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अँखियानमें डारत है रज राम दुहाई॥ भूधरद

२६ राग उदै भोग भाव लागत सुहावनेसे,
विना राग ऐसे लागे जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौ पाग रहे तनमें सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥
राग सों जगतरीति झूठी सब साँची जानै,
राग मिटै सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी विन रागीके विचारमें बडोई भेद,
जैसे भटा पच काहू काहूको बयारे हैं॥ —भूधरदास

२७ ज्यो समुद्रमे पवन तें चहुँदिसि उठत तरग।
त्यो आकुलता सौं दुखित लहै न समरस रग॥ —वृन्दावन।

२८ चाहत है धन होय किसी विधि तौ सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करूँ गहना कुछ, व्याहि सुता सुत बाँटिय भाजी॥
चिंतत यौ दिन जाहि चले जम आनि अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गये रहि जाय रुपी शतरजकी बाजी॥
—भूधरदास

कुछ जैन पारिभाषिक शब्द[1]

अघाति कर्म	पृष्ठ १४०	क्षायिक भाव	२२१
अधर्म द्रव्य	९२	क्षायोपशमिक भाव	„
अनन्तकाय	१६३	गुणव्रत	१९२
अन्तराय कर्म	१४०	गुणस्थान	२२०
…ुभाग बन्ध	१३९	गोत्र कर्म	१४०
अपकर्षण	१४१	घाति कर्म	„
अप्रतिष्ठित (वनस्पति)	१६४	चेतना	७८
अभव्य	१३४	छ आवश्यक	२१०
अर्हत्	११३	जिन	११२
…त	११२	ज्ञानावरण कर्म	१३९
…काश	९४	तीर्थंकर	११२
…य	११८	तीर्थंकर केवली	„
…ाय	९८	दर्शनावरण कर्म	१४०
…द्रव्य	९४	देश घाती	„
…मूल गुण	१७०	द्रव्य	७२
…ु कर्म	१४०	द्रव्य कर्म	१३४
…ा	१३०	द्रव्य पूजा	११९
…द्रय-संयम	१९२	द्रव्य लिङ्ग	२१३
…कर्षण	१४१	धर्म द्रव्य	९२
…य	१४२	नामकर्म	१४०
उदीरणा	„	निकाचना	१४३
उपशम	१४३	निधत्ति	„
उपशम श्रेणी	२२३	निर्जरा	१३१
औदयिक	२२०	निश्चयकाल	९७
औपशमिक	„	पंच परमेष्ठी	११६
…र्म	१३२	पच महाकल्याणक	११३
कार्मण वर्गणा	१३३	परमाणु	८८
कालद्रव्य	९७	पाँच समिति	२१०
…वली	११२	पारिणामिक भाव	२२१
क्षपक श्रेणि	२२३	पुद्गल द्रव्य	८६

१. यहाँ उन्ही शब्दोको दिया है जिनकी परिभाषा 'जैनधर्म' पुस्तकमें आई है।